विद्यापति

डॉ. शिवप्रसाद

विद्यापति

डॉ० शिवप्रसाद सिंह

विद्यापति

डॉ० शिवप्रसाद सिंह
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी, वाराणसी

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद–१

'उदास गण्डकी' की मूक लहरों को
कवि विद्यापति की
स्मृति में

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

पन्द्रह वर्ष पूर्व जब यह पुस्तक प्रकाश में आयी, तब से इसने विद्यापति के अनेकानेक सुधी पाठकों, समीक्षकों और अनुसंधित्सु जन को इस मध्यकालीन महान् कवि के अध्ययन में सहायता पहुँचाई अथवा समानान्तर सहचिन्तन के लिए प्रेरित प्रभावित किया। इस बीच इस पुस्तक के कई संस्करण प्रकाशित हुए। कुछ न कुछ परिवर्तन-परिवर्धन नये संस्करणों में होता रहा, पर उनमें ऐसी सामग्री जो कवि के व्यक्तित्व को देखने के नये परिप्रेक्ष्यों का उद्घाटन कर सके, न आ सकी। तो भी उन संस्करणों ने न केवल पूर्ववत् अपनी उपयोगिता कायम रखी, बल्कि लेखक को प्राप्त होने वाले अनेकानेक पत्रों से इस बात की पुष्टि भी होती रही कि इस अध्ययन के प्रति, उसकी जानी-अनजानी त्रुटियों के बावजूद, एक विशिष्ट तरह की आत्मीयता निरन्तर बढ़ती रही है। मैं कभी-कभी आश्चर्य से स्वयं ही पूछता रहा हूँ कि इसमें इस तरह की कौन-सी ऐसी चीज है जो निरन्तर पुरानी पड़ने पर भी पाठकों को इस तरह आकृष्ट करती रही है। बहुत विश्लेषण के बाद मैं यह समझ सका कि संभवतः यह इस दिशा में लिखी हुई पहली पुस्तक है जो कवि के व्यक्तित्व का सिर्फ मूल्यांकन ही नहीं करती; बल्कि उसे पुनर्निर्मित करने का प्रयत्न भी करती है। इस पुस्तक की समीक्षा-प्रक्रिया जाने-अनजाने कुछ इस तरह की रचनात्मक और सहभुक्तिपरक हो गई है कि पाठकों के सामने विद्यापति का काव्य एक जीवन्त व्यक्तित्व की भोगी हुई अनुभूतियों का साक्ष्य बनकर उपस्थित हो सका है। परिणामतः जब भी यह पुस्तक बाजार में अनुपस्थित होती है, तरह-तरह के आश्वस्तकारी पत्रों की बाढ आ जाती है और साथ ही इसके पुनर्मुद्रण की प्रेरणा और फ़ारमाइशों की भी।

यह संस्करण इसी आत्मीयता का परिणाम है। इस बार इसमे दो नये अध्याय जोड़े गए हैं। 'विद्यापति की राधा' पुराने संस्करणों का सर्वाधिक प्रशंसित अध्याय था, इस संस्करण में 'विद्यापति के कृष्ण' के सम्मिलित हो जाने से बातें कुछ अधिक सगुण और सटीक होंगी, ऐसा विश्वास है। यों तो राधा कृष्ण एक तत्त्व का युगपत् प्रस्फुटन है, तो भी लीला के लिए पृथक् रहने की अनिवार्यता भी होती ही है—

येयं राधायश्च कृष्णो रसाब्धि-
देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत्
(राधा तापनीयोपनिषद्)

अस्तु, इस नये अध्याय से लीला तत्त्व को समझने में कुछ सहायता मिल सकती है, इसमें संदेह नहीं।

विद्यापति के अवहट्ट काव्य की भाषा का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करने के बाद भी मैंने पदावली की भाषा पर कुछ नहीं लिखा, इस शिकायत का भी परिहार कर दिया गया है और इस संस्करण में कवि के गीतों की भाषा पर एक नीति-दीर्घ निबंध भी सम्मिलित किया गया है। परिशिष्ट में कवि के शताधिक चुने हुए गीत सटिप्पण दे दिये गये हैं। इन कारणों से यह पुस्तक पहले के सभी संस्करणों से भिन्न लगेगी और आशा है यह अपने कार्य में पहले की अपेक्षा ज्यादा सक्षम सिद्ध होगी।

लोकभारती ने इस नये संस्करण को प्रकाशित करने में जिस तत्परता का परिचय दिया है, इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। विदा पुनर्मिलनाय!

—शिवप्रसाद सिंह

सुधर्मा, गुरुधाम
वाराणसी-५
बुद्धपूर्णिमा, २०२७

निवेदन

(प्रथम संस्करण से)

विद्यापति रस-सिद्ध कवि थे, एक ऐसे कवि जो कभी भी देश-काल की सकुचित सीमाओं में आबद्ध नहीं होते। एक जमाना था जब विद्यापति के आलोचक उन्हें इस या उस भाषा का कवि प्रमाणित करने के अनावश्यक प्रयत्न को ही समीक्षा की इयत्ता समझते थे। उनके सामने सबसे बड़ा प्रश्न यही था कि विद्यापति मैथिली के कवि हैं, हिन्दी के हैं अथवा बंगला के। उन्हें अपना सिद्ध करने को सब तैयार थे, नाना प्रकार के समन्वय-सूत्रों की घनी चादरें सभी बुनते जा रहे थे; पर किसी ने एक क्षण के लिए यह नहीं सोचा कि बाहरी सम्बन्धों की इन पर्तों में कहीं वे गुण तो नहीं छिपते जा रहे हैं जिनकी वजह से कवि को सभी 'अपना' कहने के लिए उत्कंठित होते थे। विद्यापति मैथिली के कवि सिद्ध हुए जैसा कि वे थे। तब प्रश्न आया कि वे शैव थे या वैष्णव। विद्यापति को उसी रूप मे ग्रहण करने को हम तैयार नहीं थे जैसा कि वे थे, क्योंकि किसी कवि की कविताओं को समझने के पहले हम अपने पूर्वग्रहों की तृप्ति अधिक आवश्यक समझते थे। हम मानते थे कि शैव कवि यदि प्रेम-गीत लिखता है तो वह अवश्य ही श्रृंगारिक होगा, क्योंकि भक्ति-परक प्रेम-गीत तो केवल वैष्णव कवि ही लिखता है। इसलिए समालोचना के तीसरे दौर में विद्यापति के आलोचक के सामने सबसे बड़ा प्रश्न यही था कि विद्यापति भक्त थे या श्रृंगारिक।

समालोचना के चौथे दौर में कौन-से ऐसे प्रश्न उपस्थित हो गये हैं, जिनके लिए यह पुस्तक लिखनी पड़ी, ऐसा प्रश्न सहज स्वाभाविक है। उत्तर में निवेदन है कि तीन दौर की भयंकर समीक्षाओं के बाद विद्यापति सामान्य विद्यार्थी के लिए वर्ज्य हो चुके हैं और साहित्य की उच्चतम कक्षाओं में भी उनके स्तुति-पद और प्रकृति सम्बन्धी गीत आदि ही पढ़ाये जाते हैं, इसलिए अब आलोचक के सामने उनके काव्य के विषय में लिखी हुई यह पुस्तक उन विद्यार्थियों के लिए नहीं है, जो विद्यापति के काव्य को किसी-न-किसी बिल्ले के आधार पर समझते है, जो उनके काव्य को उपर्युक्त ज्वलन्त प्रश्नों को दृष्टि में रखकर ही पढ़ना चाहते हैं, या जो विद्यापति के काव्य को वर्ज्य और अवर्ज्य के खानों में बाँट कर रखते हैं, और उतना ही अंश पढ़ना चाहते हैं जितना कोर्स में निर्धारित है। यह पुस्तक विद्यापति के उन पाठकों के लिये है जो चौदहवीं शताब्दी के

संघर्षपूर्ण वातावरण में उत्पन्न एक महान् कवि के गत्वर व्यक्ति को देखना चाहते हैं, उसके व्यक्तित्व का विश्लेषण करके उन सांस्कृतिक मूल्यों का आकलन करना चहते हैं, जो ऐसे व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होते हैं। ऐसे प्रबुद्ध पाठकों के मन मे भी शृंगार और भक्ति के बारे में किंचित् द्विधा का भाव हो सकता है, इसे दृष्टि में रखकर भक्तिकाव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की पुन परीक्षा की गई है और परिपार्श्व में भक्ति और शृंगार के सम्बन्धों का विश्लेषण किया गया है।

विद्यापति सौन्दर्य और प्रेम के कवि थे। सौन्दर्य के बारे में उनकी क्या धारणा थी, अथवा उनके सौन्दर्यबोध का क्या स्तर था—आदि प्रश्नों पर काफी विस्तार से विचार किया गया है। मानव और प्रकृति—दोनों ही के सौन्दर्य-चित्रण मे कवि की रुचि, शैली, मौलिकता और परम्पराधर्मिता यानी पुरानी परिपाटी की स्वीकृति की व्यवस्था की गई है। प्रेम के विषय में कवि के विश्वास और उनकी धारणाओं का स्पष्टीकरण करते हुए राधा और कृष्ण के प्रेम की विभिन्न आवश्यकताओं का आकलन 'विद्यापति की राधा' शीर्षक निबन्ध मे किया गया है।

गीत-काव्य के बारे मे, उसके रूप और आत्मा को दृष्टि में रखकर बिल्कुल नये ढंग से विचार किया गया है। छायावादी गीतियों के सिलसिले में 'लीरिक' शब्द का प्रयोग तो बहुत बार किया जाता है; किन्तु अभाग्यवश अभी तक इस काव्य-रूप के विभिन्न पक्षों के सम्यक् अध्ययन का अभाव दिखाई पड़ता है। मुझे विश्वास है कि 'गीत काव्य : उदय और विकास' शीर्षक निवन्ध कुछ अशो मे इस कमी को पूरा करेगा और विद्यापति की गीति-रचना-प्रक्रिया को समझने मे तथा उनके गीतों की लय और आत्मा को पहचानने में थोड़ा-बहुत सहायक होगा।

अंत में विद्यापति के अवहट्ठ-काव्य का भी संक्षिप्त मूल्यांकन दे दिया गया है। क्योंकि यह उनके कृतित्व का एक बहुत महत्त्वपूर्ण भाग है और इसका अध्ययन अनिवार्यतः उनके साहित्य के कई प्रश्नों को समाहित करने में उपयोगी सिद्ध होगा।

विद्यापति के पदों के उद्धरणादि मैंने श्री रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा सम्पादित पदावली से लिये हैं। डॉ० विमानविहारी मजूमदार द्वारा सम्पादित 'विद्यापति' से भी कई पद लिये गये हैं, खास तौर से ऐसे पद जो पाठ और अर्थ की दृष्टि से पदावली के पदों से ज्यादा प्रामाणिक मालूम हुए हैं। मैं इन विद्वान् सम्पादकों का आभारी हूँ। इस कार्य में मुझे अन्य भी कई विद्वानों की रचनाओं से पर्याप्त सहायता मिली है। ऐसे सभी सुधी कृतिकारों के प्रति मैं अपनी विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

हिन्दी-विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, —शिवप्रसाद सिंह
वाराणसी
११-११-५७

अनुक्रम

विद्यापति

१ | व्यक्तित्व विश्लेषण

ईस्वी सन् १००० से १२०० तक का भारतीय साहित्य नाना प्रकार की परस्पर-विरोधी भावधाराओं का संगम-स्थल हो गया था। विदेशी आक्रमण ने न केवल देश के शासन को नष्ट-भ्रष्ट किया बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति में भी भयंकर तब्दीली पैदा कर दी। यह परिवर्तन बहुत स्थूल और स्पष्ट नहीं था। बाढ़ के पानी की तरह विदेशी संस्कृति के बहुत से तत्त्व भारतीय सस्कृति में घुल-मिल गए, इससे न केवल सामाजिक भूमि में ही परिवर्तन आया बल्कि अपरिचित भावाधारा के इस आक्रमण के कारण देशीय संस्कृति को कई रूपों में 'स्वरक्षा' के लिये अपने को संकुचित करना पड़ा। वैसे भी यह काल भारतीय मनीषा का कुंठा-काल ही था। सामन्तवादी संस्कृति इतनी क्षयिष्णु थी कि उसमे नवजीवन का संचार असम्भव हो गया था। स्थापत्य, चित्रकला साहित्य और सगीत के अन्दर जीवनीशक्ति का स्थान चमत्कारिकता और कुतूहलवर्धक कलाकारिता ने ले लिया था। साहित्यकार का दर्जा जीवन के द्रष्टा का नही रासायनिक का हो गया था, जो प्राणहीन सामन्तों के मन मे कामेच्छा उत्पन्न करने के लिए दोहे और गाथाओं की गोलियाँ देते थे। विदेशी आक्रमण ने इन अड्डों को सदा के लिये उखाड़कर फेंक दिया। घुन लगे मन के ये जर्जर जीव स्वयं नष्ट हो जाते, इसमें शक नहीं किन्तु विदेशी आक्रमण ने इस विनाश को थोड़ा और तीव्र कर दिया। दर्शन और धर्म के स्थान पर तन्त्र-मन्त्र, टोना-टोटका और गुह्य साधनों की प्रधानता हो गई थी। इन भयोत्पादक चमत्कारों के प्रति जनता की श्रद्धा समाप्त होने लगी थी और भक्ति-आन्दोलन ने इस गुहा-गह्वर के चमत्कारियों को एकदम उखाड़ फेंका। अपभ्रंश साहित्य के अध्येता के लिए यह निर्णय करना बड़ा कठिन हो जाता है कि जहाँ इस प्रकार की कुंठा-ग्रस्त प्रवृत्ति का आधिपत्य था, साहित्यकार मुट्ठी भर दरबारियों के मनोरंजन को कविकर्म की इयत्ता समझ रहे थे, चित्रकार कामकला और विविध आसन-मुद्राओं के चित्र खींचने में ही मस्त थे, वहाँ अपभ्रंश में एकाएक इस तरह का जीवन्त, नवीन, प्राणवान्, भावनाओं से स्फुरित और मानव-मन की सरल सस्मित अनुभूतियों से अनुरंजित साहित्य कैसे लिखा जाने लगा। इस सत्य को समझने के लिये हमें इस काल के जन-जागरण को देखना होगा जो सामन्ती संस्कृति से आक्रान्त होकर सभ्यता से वंचित-उपेक्षित जीवन बिता रहा था, जो संक्रमणकालीन परिस्थितियों में अपनी स्थिति के प्रति पुनःजाग्रत हुआ और एक नये वातावरण की सृष्टि करने में सफल हुआ। भक्ति-आन्दोलन इस

नवीन पुनर्जागरण का परिणाम था। इसे मुट्ठी भर सामन्तों का नहीं, एक विशाल जन-समूह का संरक्षण प्राप्त था। विद्यापति इस नवीन जन-जागरण के चारण हैं। वैसे तो १४वीं शताब्दी से १६वीं तक का साहित्य अनेक प्रभा-दीप्त व्यक्तियों के समवेत आविर्भाव से गौरवान्वित हुआ है—बंगाल में चण्डीदास, असम में शंकरदेव, मध्यप्रदेश में कबीर, तुलसी, सूर, राजस्थान में मीराँ गुजरात में नरसी मेहता इस जागरण के सन्देश-वाहक हैं, किन्तु विद्यापति का व्यक्तित्व कुछ निराला है। यह सत्य है कि संसार के किसी भी साहित्य में एक साथ इतनी महत् प्रतिभाएँ एकत्र शायद ही दिखाई पड़ें, इनमें सबका व्यक्तित्व महान् है, 'को बड़ छोट कहत अपराधू' किन्तु जहाँ तक व्यक्तित्व का सवाल है मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि विद्यापति की तरह स्वच्छन्द, मत्वर, रोमेण्टिक व्यक्तित्व किसी और का नहीं था।

व्यक्तित्व किसे कहते हैं? कवि के अध्ययन में इस व्यक्तित्व का क्या महत्त्व है आदि प्रश्नों पर मैं विस्तार से विचार करना नहीं चाहता, और न तो यहाँ आवश्यक ही है; किन्तु थोड़े में इतना जरूर कहना चाहूँगा कि व्यक्तित्व कवि का वह गुण है जो अज्ञात रूप से उसके साहित्य की उन तमाम वस्तुओं के लिये जिम्मेदार है जो दूसरों के साहित्य में नहीं मिलती। व्यक्तित्व नाना प्रकार की विशेषताओं का वह सजीव पुञ्ज है जो एक व्यक्ति को हजारों से अलग करता है। व्यक्तित्व वह रासायनिक प्रक्रिया है जो किसी व्यक्ति की सम्पूर्ण उपलब्धि को 'वह' बनाती है, जो वह है। किसी कवि के व्यक्तित्व का मतलब दो प्रकार से स्पष्ट होता है। उस कवि की आत्माभिव्यक्ति और उसके निर्मित चरित्रों, मनःस्थितियों से उसकी आत्मा की छाया। एक कवि या लेखक अपने व्यक्तित्व को अपनी कृति से या तो पूर्ण अलग करेगा या उसमें अन्तर्निहित कर देगा। किन्तु व्यक्तित्व को अलग करके भी उसे अपने चरित्रों के माध्यम से अपने को व्यक्त करना पड़ेगा। इस प्रकार का विवाद वस्तुतः रोमेण्टिक काव्यधारा के साथ ही उपस्थित हुआ। रोमेण्टिक कवि अपने साहित्य में अपने व्यक्तित्व को प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति देता है। उदाहरण के लिये फील्डिंग ने अपने व्यक्तित्व को अपने चरित्रों के माध्यम से व्यक्त करने की वस्तु बनाया, यानी चरित्रों के माध्यम से अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति दी, जब कि रोमेण्टिक ह्यूगो ने अपने को चरित्र में निक्षिप्त कर दिया। इसी के आधार पर लेखकों में वस्तुनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ दो श्रेणियाँ बन जाती है। प्रथम प्रकार के लेखक यानी वस्तुनिष्ठ अपने व्यक्तित्व की मूल विशेषताओं को भिन्न-भिन्न चरित्रों के माध्यम से तटस्थ होकर व्यक्त करते हैं जब कि व्यक्तिनिष्ठ लेखक एक ऐसा केन्द्रीय चरित्र प्रस्तुत करता है जो उसका प्रतिनिधि होता है, जो लेखक के मनोभावों को उसी प्रकार स्पष्ट करता है जैसे शीशा दर्शक के चेहरे की हर रेखा को हूबहू व्यक्त कर दिया करता है। जो भी हो, दोनों प्रकार के लेखकों के साहित्य को समझने के लिये उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण आवश्यक हो जाता

है। व्यक्तित्व आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की विशेषताओं—जिनमे अच्छी-बुरी सारी बातें शामिल हैं,—का मिश्रित रूप है, जो इनका योगफल नहीं है बल्कि इन सबके मिश्रण से बनी एक ऐसी सजीव वस्तु है जो किसी व्यक्ति को उसके अलग इकाई कायम रखने में सहायता देती है, अर्थात् उसे 'वह' बनाती है जो 'वह' है। इसमें व्यक्ति के सामाजिक, पारिवारिक, व्यावसायिक, धार्मिक, वैयक्तिक जीवन के तमाम पहलू शामिल हैं। उसके जीवन के प्रेरणा-स्रोत, उसकी रुचियाँ, संस्कार, संसर्ग, प्रवृत्ति, आमोद, प्रेम, आचार-विचार, व्यवहार, यहाँ तक कि उसके खान-पान, रीति-रिवाज, सब कुछ ज्ञातव्य है, क्योंकि इन सबसे मिलकर ही उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। गुण और दोष दोनों शक्कर और तेजाब की तरह एक ही स्थान से पैदा होते हैं। हिपोलाइते टेन ने व्यक्तित्व के निरीक्षण में तीन वस्तुओं को आवश्यक बताया है—कवि या लेखक का वंश परिवार, पारिवारिक परिस्थितियाँ और उस युग की विचारधारा तथा विश्वास।

विद्यापति का व्यक्तित्व नाना प्रकार की परस्पर विरोधी विचारधाराओं का स्तबक है। इस व्यक्तित्व में इस प्रकार का परस्पर विरोध सम्भवतः उस युग का परिणाम है जिसमें विभिन्न प्रकार की देशी-विदेशी सांस्कृतिक विचार-धारायें संघर्षरत थीं। विद्यापति वस्तुतः संक्रमण काल के प्रतिनिधि कवि हैं, वे दरबारी होते हुए भी जन-कवि हैं, शृंगारिक होते हुए भी भक्त हैं, शैव या शाक्त या वैष्णव कुछ भी होते हुए भी वे धर्म-निरपेक्ष हैं, संस्कारी ब्राह्मण वंश मे उत्पन्न होते पर भी विवेक-संत्रस्त या मर्यादावादी नहीं हैं। इस प्रकार विद्यापति का व्यक्तित्व अत्यन्त गुम्फित और उलझा हुआ है। यह नाना प्रकार के फूलों की वनस्थली है, एक फूल का गमला नहीं। विद्यापति का व्यक्तित्व मिथिला की उस पृथ्वी की उपज है जिसमें धान की यौवनपूर्ण गन्ध और आमों के बौर की महक है। वह मिथिला जिसके स्वर्णगर्भित अंचलों में बाग्मती, कमला, गंडक और कोसी की धारायें निरन्तर प्रवाहित हैं, जहाँ की काली अमराइयाँ नील मेघों से ढँकती हैं, और शरद चन्द्र की चाँदनी से सुधास्नात होती रहती हैं, वह मिथिला जो तर्क-कर्कश पण्डितों के न्याय-शास्त्रीय वाद-विवादों और युवतियो के प्रेम-गीतों को एक साथ अपने हृदय में सुलाये रहती है।

विद्यापति संस्कारी ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होने पर भी तुलसीदास की तरह विवेक-संत्रस्त और मर्यादा से भाराक्रान्त नहीं थे। उन्हें अपने ब्राह्मणत्व पर गर्व था। कीर्तिसिंह की प्रशंसा में उन्होंने गर्व के साथ कहा था कि राजा और ब्राह्मण एक शरीर में एकत्र कम होते हैं, कीर्तिसिंह भूपति हैं और साथ ही भू-देव—

ओइनी वंश पसिद्ध जग को तसु करइ न सेव
दुहुँ एकत्व न पाविअइ भुअवइ अरु भूदेव

विद्यापति मिथिला के एक सम्पन्न ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए जो अपने विद्या-प्रेम के लिये विख्यात था। कर्मादित्य, देवादित्य जैसे पूर्व पुरुष न केवल विद्वान् थे बल्कि अपने समय के उच्च शासनाधिकारी भी थे। डा० सुभद्र झा ने लिखा है कि "**विद्वानों के ऐसे यशस्वी परिवार में विद्यापति का जन्म हुआ, जो अपने परम्परागत विद्या-ज्ञान के लिये प्रसिद्ध था। कवि की रचनाओं में इस परम्परा का पूर्ण प्रतिफल दिखाई पड़ता है।**"[1] विद्यापति धर्म-दर्शन, भूगोल, न्याय आदि के प्रकाण्ड पंडित थे। शिवसिंह के आदेश पर लिखे हुए पुरुष-परीक्षा ग्रन्थ में विद्यापति ने लिखा है :—

यो गौडेश्वरगज्जनेश्वर रणक्षौणीषु लब्धो यशोः
दिक्-कान्ताचय-कुन्तलेषु नयते कुन्दस्रजामापदम्
तस्य श्रीशिवसिंहदेवनृपतेर्विज्ञप्रियस्याज्ञया
ग्रन्थं ग्रंथिल दण्डनीतिविषये विद्यापतिर्व्यातनोत्

विद्यापति ग्रन्थिल दण्ड-नीति में भी पारंगत थे। संस्कृत भाषा पर उनका कितना अधिकार था, इस ग्रन्थ को देखने से पता चलता है। विद्या, ज्ञान, ब्राह्मण-परम्परा, सब कुछ उन्हें दायरूप में मिला था। किन्तु इस प्रकाण्ड ज्ञान ने उनके हृदय के भाव-स्रोत को सुखाया नहीं, उन्हें भव-विमुख नहीं किया न तो उन्हें संसार अनित्य, मिथ्या और बुद्बुद् की भाँति प्रतीत हुआ। ब्राह्मणत्व कभी-कभी जोश पर भी आता था, खास तौर से मुसलमानों के आक्रमण के समय विजेताओं की संस्कारहीन प्रवृत्तियाँ और कुरुचिपूर्ण रीति-रिवाज उन्हें क्षुब्ध कर देते थे। कीर्तिलता में मुसलमानों के इस व्यवहार की उन्होंने बड़ी तीव्र भर्त्सना की है—

अति गह सुमर षोदाए खाए ले भांग क गुंडा
बिनु कारणहिं कोहाए बएन तातल तम कुंडा
तुरुक तोषारहिं चलल हाट भमि हेडा चाहइ
आडी दीठि निहार निहार दबलि दाढ़ी थुक बाहइ

(२।१७४।७७)

कपूर के समान शुद्ध भोजन को तिरस्कृत करके प्याज-लाशुन खाने वाले इन तुर्कों के कार्यों से विद्यापति को नफ़रत थी, क्योंकि वे ज़बर्दस्ती ब्राह्मण बटुक को पकड़ लाते थे और उनके शिर पर गाय का शोरबा रख देते थे। कसाइयों और कब्रों से धरती पट गई थी। कहीं पैर रखने की भी जगह न बची—

---

1. Songs of Vidyapati—Page 2.

धरि आनए बामन बटुआ, मथा चढ़ावए गायक चुडुआ
फोट चाट जनेऊ तोर, ऊपर चढ़ावये चाह घोर
गोर गोमर पुरिल मही, पैरहु देना एक ठाम नहीं
हिन्दू बोलि दुरहि निकार, छोटओ तुरुका भभकी मार

(२/२०२-११)

विद्यापति को अपनी प्रतिभा पर विश्वास था इसीलिए उन्हें अपनी कवित्व-शक्ति और विद्या-बुद्धि पर अभिमान था। कवि के लिए अभिमान (Ego) भूषण है यदि वह दूसरे का अहित करने वाला न हो। कवि अपने को ससार का जीव समझते हुए भी संसार से तटस्थ और साधारण जन से थोड़ा भिन्न तथा ऊपर उठा हुआ समझता है। कबीर की अभिमानपूर्ण उक्तियों से घबरा कर लोग उन्हें गर्वीला कहते हैं। शुक्ल जी ने लिखा है कि "'"कबीर अपने श्रोताओं पर यह अच्छी तरह भासित करना चाहते थे कि हमने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है। इसी से वे प्रभाव डालने के लिए बड़ी लम्बी-चौड़ी गर्वोक्तियाँ भी कहा करते थे।"[1] किन्तु यह रोग कबीर का अकेला नहीं है। जाने कितने कवि और साहित्यकार इस प्रवृत्ति के शिकार हैं। किन्तु यह रोग नही, कवि की ओर से उन तमाम कष्टों और साधनों का प्रतिकार है जिनके बाद भी उसे संसार से प्रतिदान नहीं मिलता। इसलिए यह अभिमान कभी-कभी प्रतिक्रिया से भी उत्पन्न होता है। वैसे साधारण तौर से यह कवि के मन के आत्मविश्वास का ही द्योतक है। कबीर का आत्म-विश्वास उस समाज की प्रतिक्रिया थी जो तथाकथित उच्च जातियों से आक्रान्त था। कबीर के मन में हीनता की ग्रन्थि न थी—"इसीलिए यह विश्वास उनमें इतनी अधिक मात्रा में था कि कभी-कभी पंडितों को इसमें गर्वोक्ति की गंध आती है, उनमें युगप्रवर्तक का विश्वास था और लोकनायक की हमदर्दी।"[2]

विद्यापति का आत्मविश्वास दूसरे प्रकार का था। वे हीनता-ग्रन्थि के शिकार होने की आशंका भी नहीं कर सकते थे इसीलिए कबीर की तरह अतिरिक्त आत्म-विश्वास या गर्वोक्ति भी उनमें नहीं है। उनका आत्मविश्वास स्वतः चालित था, दरबारों में रहनेवाले कवियों में ईर्ष्या-द्वेष की भावना रहती ही है। नवयुवक विद्यापति का इतनी चमत्कारिक प्रतिभा के साथ आगमन ईर्ष्या का विषय रहा होगा। कीर्तिलता में उन्होंने लिखा है—

महुअर बुज्झइ कुसुम रस कब्ब कलाउ छइल्ल
सज्जन पर उअआर मन दुज्जन नाम मइल्ल।

(१।१७-१८)

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७८।
२ हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ८६।

F 2

किन्तु इन दुर्जनों से विद्यापति को किंचित् भी आशंका नहीं थी क्योंकि द्वितीया का चन्द्र कभी कलंकित नहीं होता, वह सदा ईश-मस्तक पर ही सुशोभित होता है—

बालचन्द विज्जावइ भासा
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा
ओ परमेसर हर सिर सोहइ
ई णिच्चइ नायर मन मोहइ

विद्यापति मध्यकालीन कवि श्रीहर्ष की तरह एक ओर न्याय के ग्रंथिल पथ पर विचरण करते थे तो दूसरी ओर प्रेम की कुसुम-सज्जित वीथियों में। उनके लिए दोनों में कोई अन्तर नहीं था। उन्होंने सुकुमार साहित्य भी लिखा और 'दृढ़ न्याय ग्रह ग्रंथिल' पथ पर भी चले। भारती उनकी पति-परायणा पत्नी की तरह थी, जो उनके साथ "दर्भांकुरन्यस्त भूमि" पर या "मृदूत्तरच्छदवती शय्या" पर समान रूप से विहार करती थी। विद्यापति ने सरस्वती की वन्दना में एक श्लोक लिखा है, जिससे उनके मन के इस भाव की पुष्टि होती है—

द्वाः सर्वार्थसमागमस्य रसनारंगस्थली नर्तकी
तत्वालोकन-कज्जलध्वजशिखा वैदग्ध्यविश्रामभूः
शृङ्गारादिरसप्रसाद-लहरी स्वर्लोक-कलोलिनी
कल्पान्तस्थिरकीर्तिसंभ्रम-सखी सा भारती पातु वः।
(१।३)

उन्होंने अपनी कविता के बारे में कीर्तिलता के अन्तिम श्लोक में कहा है—

माधुर्यप्रसवस्थली गुरुयशो-विस्तार शिक्षासखी
यावद्विश्वमिदंच खेलनकवेर्विद्यापतेर्भारती

विद्यापति की भारती माधुर्य-रस की प्रसवस्थली है। भारती उनकी रसना पर निरन्तर नर्तकी की तरह क्रीड़ा किया करती है, वह सभी प्रकार के अर्थों के लिए द्वार-रूपा है। एक तरफ उसके प्रकाश में गूढ़ तत्त्वों का आलोकन होता है, दूसरी ओर वह विलास-विदग्ध जनों के लिए विश्राम-स्थल भी है।

विद्यापति दरबारी कवि थे। दरबारी कवि होना कोई बहुत अच्छी बात

नहीं मानी जाती। मध्ययुग के दरबारी कवियों के प्रति हमारे मन में श्रद्धा का प्राय: अभाव पाया जाता है क्योंकि हम यह मानते हैं कि इस प्रकार के कवियों ने कविता को जन-मानस की अधीश्वरी के स्थान से हटाकर उसे दरबार की नर्तकी बना दिया। उन्होंने काव्य के महत् उद्देश्य के साथ व्यभिचार किया; किन्तु विद्यापति इनसे भिन्न हैं। दरबारों के चाकचिक्य, भोग-वैभव और दमघोंट वातावरण में उनकी आत्मा मरी नहीं। दरबारों से उन्होंने जीवन का रस ग्रहण किया। उस वातावरण से उन्होंने कई प्रकार के अनुभव प्राप्त किये जिनसे उनके जीवन में एक विशेष प्रकार का अभिजात संस्कार पैदा हुआ। उन्होंने कभी भी अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए अत्युक्ति की शरण न ली कवियों के लिए उस समय राजा के अलावा दूसरा आश्रय भी कहाँ था! वे अपभ्रंश के कवि पुष्पदन्त की तरह यह नहीं कह सके कि वल्कल धारण करके गिरि-कन्दराओं में निवास करते हुए, वन के फल-फूल खाकर दारिद्र्य से शरीर को कष्ट देकर जीवन बिता देना श्रेयस्कर है पर किसी राजा के सामने नत-मस्तक होकर अभिमान का खंडन कराना नहीं—

वक्कल निवसणु कंदर मंदिरु वणहल भोयन नर ते सुन्दर
वर दालिद्द सरीरह डंडन, णहि पुरिसह अभिमान विहंडणु

किन्तु दरबारों में रहते हुए भी विद्यापति ने इस अभिमान को कभी बेचा नहीं, कीर्तिसिंह को बार-बार स्वाभिमान की चेतावनी देते हुए जैसे विद्यापति अपने मन के गौरव को ही जाग्रत किया करते हैं—

मान बिहूना भोअना सत्तुक देखेले राज
सरन पइट्ठे जीअना तीनू कायर काज

आश्रयदाता राजा को विपन्नता में उन्होंने आश्वासन दिया। इब्राहीम शाह से साहाय्य-याचना करने वाले राजा के आश्रित कवि होकर भी उन्होंने मुसलमानी अत्याचार को शिरसा स्वीकार नहीं किया। तत्कालीन बादशाह के शासन की दुर्व्यवस्था का उन्होंने नग्न चित्रण प्रस्तुत किया। दरबार में विद्यापति का सम्मान भी कम न था, वे कीर्तिसिंह के केवल आश्रित कवि नहीं, मित्र भी थे। शिव-सिंह के शासन-काल में कवि को जो सम्मान मिला वह अभूतपूर्व था। विद्यापति ने अपने जीवन-काल में न जाने कितने राज बनते-बिगड़ते देखे थे। उन्होंने देखा था कि विपत्ति की आँधी मे बड़े-बड़े पेड़ कैसे उखड़ते हैं। विद्यापति दो दर्जन के करीब राजाओं, नवाबों आदि के आश्रय में रहे। सम्पूर्ण जीवन राज-दरबारों मे बिता देने वाले विद्यापति ने अपने कृतित्व को कभी भी दरबारी छाया से कलंकित नहीं किया। उनके गीतों में दरबारी संस्कृति की नहीं, जनता के

मानस की आवाज है। उन्होंने राधा-कृष्ण के प्रेम में सामान्य जनता के सुख-दुख, मिलन-विरह को अंकित किया है। वे एकाधिक रानियों, राजकुमारियों के सम्पर्क में आये। दरबार के क्रिया-कलाप को नजदीक से देखा। असली सौंदर्य वहाँ उपेक्षित था, बाह्य रूप की पूजा होती थी, विद्यापति ने उस सौन्दर्य को देखा था जो दरबारों में एकत्र किया जाता है। उन्होंने उस सौन्दर्य को उसकी असली पृष्ठभूमि प्रदान की, उसे धरती पर उतार कर रखा, उसे चहारदीवारी के घेरे से निकाल कर नदी-तट, अमराइयों और खेतों में प्रतिष्ठित किया। कीर्तिलता में दरबार के वर्णन बड़ी बारीकी से चित्रित है। नगर के वर्णन, वेश्याओं के वर्णन, उनकी सूक्ष्म दृष्टि के परिचायक हैं। किन्तु विद्यापति का मन जैसे इस वातावरण में सन्तुष्ट नहीं है, वह कुछ और खोजता रहता है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि विद्यापति दरबारी कवि होते हुए भी जन-कवि हैं। उन्होंने अपनी कविता में इन दोनों भावधाराओं का समन्वय कर दिया है। आप विद्यापति को हिन्दी रीतिकालीन कविता का जन्मदाता भी कह सकते हैं। नखशिख वर्णन में विद्यापति की उक्तियाँ अनमोल हैं। परवर्ती रीतिकाल के कवियों के वर्णन इनके सामने पिष्टपेषण लगें तो आश्चर्य नहीं। विद्यापति को दूसरी ओर भक्तिकाल का पहला कवि भी कह सकते हैं क्योंकि उनकी कविता में जन-मानस का प्रतिफलन है—वह जन-मानस जो उस युग में भगवान् की सगुण और निर्गुण विभूतियों के सामने अपने हृदय का अनन्य प्रेम नाना रूपों में निवेदित कर रहा था।

विद्यापति सौन्दर्योपासक कवि थे। सौन्दर्य को उन्होंने देखा था, अनुभव किया था। वे सौन्दर्य के वायवी रूप के प्रति आकृष्ट होनेवाले रहस्यवादी नहीं थे, वे सौन्दर्य को बिल्कुल साक्षात स्थूल रूप में देखने के अभ्यासी थे। सौन्दर्य उनके लिए सबसे बड़ा धर्म है, सबसे बड़ा कर्म। सौन्दर्य उनकी आँखों के सामने नाना रूपों में आता है, और विद्यापति सौन्दर्य के स्वागत में निरन्तर जागरूक दिखाई पड़ते हैं। वस्तु का गुण वस्तु मे नहीं वस्तु को पहचानने वाले की आँखों में निहित है। विद्यापति के पास वह आँख थी, वस्तु के रूप को परखने का अणुवीक्षण यंत्र था उनके पास, जिसकी सीमा मे आकर रूप का एक अणु भी उनकी दृष्टि से बच नहीं सका। सौन्दर्य को वे अपरूप कहते थे—अपरूप जो मनुष्य के मन में पुलक, प्राणों में शक्ति और शरीर मे रोमांच भर दे। अपरूप एक ऐसी ताकत है जो संपूर्ण विश्व के अणु-परमाणु में चेतना का संचार करती है। इस सौन्दर्य की सबसे बड़ी विशेषता है चिर नूतनता। प्रत्येक क्षण यह सौन्दर्य नूतन वेश में आता है। विद्यापति कहते हैं, मैं जाने कितने जन्मों तक तुम्हारे इस रूप को देखता रहा, पर आँखें तृप्त नहीं हुईं—

सखि कि पूछसि अनुभव मोए
से हो पिरित अनुराग बखानिए

तिल तिल नूतन होये
जनम अवधि हम रूप निहारल
नयन न तिरपित भेल
सेहो मधु बोल स्रवनहिं सूनल
स्रुति पथ परस न भेल

जो लोग विद्यापति के नखशिख वर्णन को शृंगार की आसक्ति का परिणाम मानते हैं वे भूल जाते हैं कि सौन्दर्य का उपासक कवि सौन्दर्य का भोक्ता नहीं निर्माता भी होता है। वह शारीरिक सौन्दर्य को आँखों की वस्तु मानता है किन्तु हृदय को तृप्त करने के लिए कुछ और चाहिए जो मात्र मांसल सौन्दर्य में उपलब्ध नहीं है, वह 'कुछ ही' विद्यापति का अपरूप है, सांसारिक होते हुए भी उससे थोडा भिन्न। रमणीयता की परिभाषा देते हुए उसकी 'क्षण-क्षण परिवर्तित नूतनता' को आवश्यक गुण बताया जाता है. विद्यापति भी इसीलिए केवल नूतन सौन्दर्य के उपासक हैं—उन्होंने इसे चिरनूतन यौवन, अभिराम यौवन का सम्बोधन दिया है। विद्यापति इस नवयौवन के सौन्दर्य को देखकर नव वसन्त के आगमन पर आम्र गन्ध से प्रमत्त कोकिल की तरह कूक उठते हैं—

नव वृन्दावन नव नव तरु गन
नव नव विकसित फूल
नवल वसन्त नवल मलयानिल
मातल नव अलि कूल
बिहरइ नवल किसोर
कालिन्दी पुलिन कुंज वन सोभन
नव नव प्रेम विभोर

सौन्दर्य की पिपासा जब कवि के मन में जगती है तो उसे प्रकृति की प्रत्येक वस्तु सुन्दर लगती है, क्योंकि उसे अपने आदर्श सौन्दर्य की छाया ही सर्वत्र दिखाई पड़ती है। दुनिया में कोई वस्तु बुरी नहीं। बुरी वस्तु भी कम बुरी नजर आती है यदि वह हमारी कल्पना का विषय बन सके। 'मिड समर नाइट्स ड्रीम' मे एक स्थान पर शेक्सपियर ने लिखा है—[1]

'इस श्रेणी में सबसे सुन्दर वस्तुएँ भी क्या हैं ? केवल छायाएँ। सबसे बुरी वस्तु भी अधिक बुरी नहीं हो सकती यदि कल्पना से उसका परिष्कार करें।'

संसार की प्रत्येक वस्तु सुन्दर है, फिर भी इन वस्तुओं के आधार पर अप-

---

1. The best in this kind are but shadows and the worst are no more if imagination amends them.

रूप का वर्णन सम्भव नहीं। कवि विद्यापति उस मायिक सौन्दर्य को अनिर्वचनीय समझ कर कहते हैं—

अमियक लहरी बम अरबिन्द
विद्रुम पल्लव फुल्लल कुन्द
निरखि निरखि मैं पुनु पुनु हेर
दमन लता पर देखल सुमेरु
साँच कहों मैं साखि अनंग
कोमल कनक केआ मुति पात
मसि लय मदने लिखल निज बात
पढ़हि न पारिअ आखर पाँति
हेरइत पुलकित हो तनु काँति
भनइ विद्यापति कहओ बुझाए
अरथ असंभव के पतिआए

पद्म अमृत लहरी का उद्‌गीरण करता है, प्रवाल पल्लव में कुन्द-फूल फूले। मैंने बार-बार देखा है। दमनक लता में सुमेरु छिपा है। मैं आपसे सच कहता हूँ, विश्वास कीजिए, मैं अनंग की शपथ लेकर कहता हूँ मैंने चन्द्र-मंडल में यमुना-तरंग देखी। कोमल स्वर्णमूर्ति निर्मित पात्र में मदन ने मसि लेकर अपनी कथा लिखी। मैं उन अक्षरों की पंक्ति पढ़ न सका, केवल देखकर शरीर रोमांच से भर गया है। विद्यापत्ति कहते हैं कि मैं कितना भी समझाऊँ, इस असंभव पर विश्वास कौन करेगा ?

कवि के मन की यह शंका ही उसकी शक्ति है। सौन्दर्योपासक कवि के लिए सबसे बड़ी दुर्बलता उसकी वह आसक्ति होती है जो उसे वस्तु के ऐन्द्रि-जालिक मायाजाल से बाहर नहीं निकलने देती। यह आसक्ति या तन्मयता कवि के लिए घातक होती है। विद्यापति सूरदास की तरह कृष्ण की मोहिनी छवि पर निछावर नहीं होते, न तो वे अपने को उस धारा में बहा देते हैं बल्कि वे निरन्तर उस सौन्दर्य से तटस्थ होकर उसकी दैवी-शक्ति की, चुम्बकीय आक-र्षण की व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। उन्हें विश्वास नहीं कि वह सौन्दर्य मेरे बार-बार समझाने पर स्पष्ट हो सकेगा। वे प्रेमातिरेक में यह नहीं कहते कि मैं उस कोटि मन्मथ को पराभूत करने वाली छवि पर निछावर हूँ। चण्डी-दास और विद्यापति की रूपासक्ति की विवेचना करते हुए निराला जी ने लिखा है कि 'विद्यापति सौन्दर्य के स्रष्टा भी जबरदस्त थे और सौन्दर्य में तन्मय हो जाने की शक्ति भी उनमें अलौकिक थी। कवि की यह बहुत बड़ी शक्ति है कि वह विषय से अपनी सत्ता को पृथक् रखकर उसका विश्लेषण भी करे और अपनी इच्छानुसार उसमें मिलकर एक भी हो जाये। चण्डीदास में केवल

तन्मयता की शक्ति ही प्रस्फुटित हो सकी है।''[1]

सौन्दर्य विद्यापति के मन में सस्ता उल्लास नहीं बल्कि गम्भीर पीड़ा का संचार करता है, यह पीड़ा सौन्दर्य की शाश्वत शक्ति का द्योतक है, कवि बार-बार उस रूप के प्रथम दर्शन के बाद उत्पन्न वैचित्र्य का वर्णन करता है जो नायक और नायिका दोनों के हृदय को भयंकर पीड़ा से जड़ीभूत कर देता है। पीड़ा का आविर्भाव साधारण कोटि के रूप के दर्शन से नही होता। विद्यापति का व्यक्तित्व इस स्थिति का स्पष्टीकरण कर सकता है। विद्यापति ने सैकड़ों प्रकार के रूप देखे। रानियों-राजकुमारियों के, नर्तकियों के, ग्राम बालाओं के, सद्यस्नाता नारियों के, किन्तु इस रूप ने उनके मन में एक ऐसे रूप-दर्शन की प्यास जगाई जो भोक्ता की तरह मांसल रूप के सम्पर्क से तृप्ति-लाभ नहीं चाहती बल्कि एक ऐसी नैसर्गिक पीड़ा को जन्म देती है जो कवि के मन को व्याकुल कर देती है वह शरीर की पीड़ा नहीं है, मन की पीडा है—

सपनेहु न पूरल मन के साध
नयन देखल हरि एत अपराध
मन्द मनोभव मन जरे आगी
दुर्लभ पेम भेल पराभव लागी
अबुध सखी जन बुझए न आधी
आन औषध कर आन बेआधी
मनसिज मन के मन्दि बेवथा
छाड़ि कलेवर मानस बेथा

सपने में हरि को देखने की साध ही पूरी न हुई। मैंने आँखों से हरि को देखा है, ऐसा ही मेरा अपराध है। मन्द भावनाओं की अग्नि में मन जल रहा है। लगता है यह दुर्लभ प्रेम मुझे पराभव देने के लिए ही पैदा हुआ है। भोली सखियाँ कुछ नही समझ पातीं, रोग कुछ और है वे दवा कुछ और दे रही हैं। मनसिज ने तो मन की व्यवस्था ही हर ली। यह रोग शरीर का नहीं, मन का है।

प्रेम विद्यापति के काव्य की सबसे बड़ी प्रेरणा है। वे पूर्णतः प्रेमिक कवि थे। सौन्दर्योपासक कवि बिना प्रेमी हुए रह ही नहीं सकता। वस्तुतः सौन्दर्य की परिभाषा ही यह है। सुन्दर उसी वस्तु को कहा जाता है जो प्रेम की वस्तु हो सके। जिस वस्तु के प्रति प्रेम न हो वह सुन्दर नहीं हो सकती अथवा कोई सुन्दर वस्तु बिना प्रेम की वस्तु बने रह नहीं सकती। गिलबर्ड मरे (Gilberd Murray) ने लिखा है कि सौन्दर्य वह है जो देखा जाकर प्रेम का विषय बनता है। प्रेम मनुष्य की वैयक्तिक सम्पत्ति है। किन्तु यह प्रेम जब कविता या कला

---

१. विद्यापति और चण्डीदास, प्रबन्धप्रतिमा, प्रथम संस्करण, १९४०, पृ० १५१।

के माध्यम से व्यक्त होता है तो सार्वजनिक हो जाता है। इसलिए रिबेका वेस्ट का कहना है कि प्रेम और कला के बीच यही सम्बन्ध है कि प्रेम जिस व्यक्ति की थाती बनाये है कला उसे विश्व की निधि बना देती है। प्रेम मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। शुक्ल जी की भाषा में कहें तो, 'जिस प्रेम का रंजनकारी प्रभाव विद्वान् की बुद्धि, कवि की प्रतिभा, चित्रकार की कला, उद्योगी की तत्परता, वीर के उत्साह तक बराबर फैला दिखाई दे, उसे हम भगवान् का अनुग्रह समझते है।' संसार के कई महापुरुषों के जीवन में इस प्रेम ने ही प्रेरणा का कार्य किया है। प्रसिद्ध कवि दान्ते इस प्रेम को अपने जीवन की सबसे बड़ी प्रेरणा-शक्ति कहा करते थे। उन्होंने कहा है कि **"मैं वह हूँ जिसके जीवन में प्रेम यदि प्रोत्साहन दे तो लिखता हूँ। प्रेम मेरे अन्तर्मन में जैसे कहता है मैं वैसे ही उसे व्यक्त करता हूँ।"**[1]

राधा और कृष्ण के महान् प्रेम को समझने के लिए हमें विद्यापति के उस विश्वास को समझना होगा जिसे उन्होंने प्रेम में अर्जित किया था। बिना प्रेरणा के कोई काव्य नहीं होता, काव्य तो क्या संसार का कोई भी बड़ा कार्य महती प्रेरणा के बिना संभव नहीं है। प्रेरणा हमेशा सांसारिक परिचित वस्तु से उत्पन्न होती है, किन्तु यह प्रेरणा हृदय में एक ऐसे भाव-स्रोत को जन्म देती है जो हमारे लिए एकदम नया और शक्तिपूर्ण होता है। प्रेम की इस प्रेरणा को शेली कविता की प्राण-धारा कहा करता था। शेली ने लिखा है कि **"कविता कोई तर्क नहीं है कि इच्छा की और प्रक्रिया शुरू हो गई। कविता के सृजन के समय कवि-मस्तिष्क बुझे हुए कोयले की तरह रहता है, बस हवा का एक झोंका आया, एक अनजाने प्रभाव से वह उसे जगा जाता है। यह शक्ति हृदय के भीतर से उठती है, फूल के रंग की तरह जो कविता को जन्म देकर खुद खत्म हो जाती है।"** क्या यह प्रेरणा कवि के मन में हमेशा के लिए बनी रहती है? शेली कहता है **"नहीं, सृजन की प्रक्रिया में ही यह बहुत कुछ समाप्त होने लगती है, और संसार की सर्वश्रेष्ठ कवितायें प्रायः वही है जिनमें प्रेरणा के मूलरूप की धूमिल-तम छाया ही शायद बची रह गई।"**[2] प्रेम की महान् कविताओं को पढ़ने वाले सहस्रों पाठकों को क्या पता कि इस मामूली-सी अनजान प्रेरणा ने कवि के मन को इतने महत् कार्य के लिए प्रेरित किया था।

संसार के अन्य श्रेष्ठ कवियों की तरह विद्यापति के विषय में भी किम्ब-दन्ती चलती है। कहा जाता है कि राजा शिवसिंह की सुन्दरी पत्नी रानी लखिमा से विद्यापति का प्रेम था। लखिमा बहुत सुन्दरी थी साथ ही वे उच्चकोटि की

---

1. I am one who when love
   Inspires me, note, and in the way that he
   Dictates within, I give the outward form.
2. In Defence of poetry.

कवयित्री और काव्यमर्मज्ञा भी थीं। कुछ संस्कृत के श्लोक लखिमा ठकुरानी के विरह गीत नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार के एक श्लोक में विरह की व्यथा का चित्रण किया गया है। चक्रवाक कमल-नाल को तोड़कर खाना चाहता है किन्तु कमल-तन्तुओं को चन्द्रमा की किरणें समझ कर नहीं खाता, कमल के पत्रों पर पड़ी हुई बूंदों को तारा समझ कर प्यासे होने पर भी वह उन्हें पीता नहीं, कमलों की काली छाया में मँडराते हुए काले भँवरों को देखकर उसे संध्या का आभास होने लगता है, इस प्रकार कान्ता के विश्लेष की आशंका मात्र से ही चक्रवाक दिन को रात्रि मानता है :

> भुक्त्वा भोक्तुं व भुङ्क्ते कुटिल विषलतां कोटिमिन्दोर्वितर्का—
> ताराकारास्तृषार्तः पिबति न पयसां न विप्लुषः पत्रसंस्थाः
> छायाम्भोरुहाणमलिकुशबलां वीक्ष्य सन्ध्यामसन्ध्यां
> कान्ताविश्लेष भीरुर्दिनमपि रजनीं मन्यते चक्रवाकः।

यह श्लोक ग्रियर्सन ने लखिमा ठकुरानी के विरह गीत शीर्षक से इंडियन ऐन्टि-क्वेरी में प्रकाशित कराया था। सहजिया सम्प्रदाय के वैष्णव भक्त विद्यापति को अपने सात श्रेष्ठ रसिक भक्तों में एक मानते हैं। इस सातों में प्रथम विल्वमंगल हैं, जिन्होंने यौवनारंभ में चिन्तामणि वेश्या से प्रेम किया था, बाद में विरक्त होकर बहुत बड़े भक्त हुए। इनका विश्वास है कि इसी तरह विद्यापति का राजा शिवसिंह की पत्नी लखिमा से गुप्त प्रेम था।[1] बंगाली कवि नरहरि दास ने तो अपने एक पद में लिखा है कि लखिमा राधा की प्रतिमा है, जब वह आँखों के सामने होती है तब कविता शत धाराओं में फूट पड़ती है—

> लछिमा रूपिनि राधा इष्ट वस्तु जाव
> जबे देखि कविता स्फुरय शत धार

संभव है लखिमा की कहानी पूरी जनश्रुति या कपोलकल्पना ही हो, यह भी संभव है कि इस कहानी मे कुछ सत्य भी हो। जो भी हो इतना सत्य है कि पदावली के सर्वश्रेष्ठ गीत लखिमा और उनके पति शिवसिंह को समर्पित है। सयोग-शृङ्गार के अत्यन्त मधुर गीतों में विद्यापति ने लखिमा को साक्षी की तरह उपस्थित किया है। श्री विमान बिहारी मजूमदार ने लिखा है कि "पदावली के १६८ पदों में शिवसिंह लखिमा का नाम आता है। लखिमा का नाम बहुत से पदों में शिवसिंह के साथ आया है, कुछ में केवल शिवसिंह का।"[2]

---

१. कीर्तिलता, बंगला संस्करण, भूमिका, पृष्ठ १८।
२. विद्यापति, पृष्ठ १८।

कुछ पदों में ऐसा भाव है जैसे विद्यापति इन पदों को शिवसिंह और लखिमा देवी के सामने पढ रहे हैं पर कहीं-कहीं ऐसा भी आता है कि शिवसिंह गाते हैं—

राजा　　शिवसिंह　गाओलएन
लखिमा देवी उदार (पद ४०)[1]

इन पदों से एक बात का पता अवश्य लगता है कि विद्यापति का राजा-रानी के साथ सख्य-भाव का सम्बन्ध था अन्यथा इस प्रकार की शृङ्गारिक बातें इतने स्पष्ट ढंग से कहना कठिन होता। क्योंकि प्रत्येक पद में शृङ्गार चेष्टाओं का वर्णन करके कवि ने कहा है कि इस रस को राजा शिवसिंह और लखिमा जानते हैं। या लखिमा के रमण राजा शिवसिंह जानते हैं, या वे राजा शिवसिंह जानते हैं जो लखिमा के साथ रमण करते हैं।

प्रेम की प्रेरणा से मेरा यह तात्पर्य नहीं था कि मैं विद्यापति के जीवन के गुप्त प्रेम-व्यापारों को स्पष्ट करूँ। यह न आवश्यक है न उचित और न तो संभव ही। प्रेम की प्रेरणा का मतलब है प्रेम के विषय में कवि के विचार। वह प्रेम को किस दृष्टि से देखते हैं, प्रेम के विषय में उनके क्या विश्वास हैं, क्या धारणाएँ हैं। प्रेम के विषय में प्रत्येक कवि की भिन्न-भिन्न धाराएँ होती हैं। बहुत-से उसे केवल चिन्तन का विषय मानते हैं, बहुत से उसे वायवी या काल्पनिक कहते हैं, बहुतों के लिए इन्द्रिय-तृप्ति ही प्रेम है। इस प्रकार की मान्यताओं के कारण प्रेम के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग के बारे में इनकी धारणाओं मे अन्तर आता है। विद्यापति चाक्षुष मैत्री या प्रथम दर्शन से उत्पन्न प्रेम का वर्णन अवश्य करते हैं। राधा और कृष्ण दोनों एक क्षण के लिए एक दूसरे के रूप को देखकर ही आकृष्ट हो जाते हैं। इसे तारक-मैत्री कहते हैं, शुक्लजी ने इस प्रकार के प्रथम दर्शन के प्रेम को साहचर्य जनित प्रेम से हीन कोटि का बताया है। विद्यापति स्वयं प्रेम को साहचर्य का ही परिणाम मानते हैं। प्रेम के विषय में विद्यापति की धारणाएँ इतनी ऊँची हैं, वे उसे इतनी महत् वस्तु मानते हैं कि वे उसे केवल मांसल इन्द्रिय-तृप्ति का साधन समझ ही नहीं सकते। मैं यह नहीं कहता कि विद्यापति प्लेटोनिक प्रेम के पक्षपाती थे, बिल्कुल नहीं। वे आंगिक मिलन के सुख की भी कम अभ्यर्थना नहीं करते। किन्तु यह सब शरीर-व्यापार है, प्रेम यहीं तक सीमित नहीं हैं। विद्यापति कहते हैं कि प्रेम तो फूल का पौधा है। इस फूल को गोपाल ले आए और फुलवारी में लगा दिया। प्रेम-पूर्ण वार्ता के जल से निरन्तर यह सींचा गया। शील और मर्यादा के घेरे बाँध कर इसकी रक्षा की गई, फूल का नन्हा पौधा प्राण के खंभे पर अवलंबित रहा। और एक

१. विमान बिहारी मजूमदार—सम्पादित विद्यापति में पद-संख्या दी है।

दिन इसमें अभिनव प्रेम का पुष्प फूला। जो अमूल्य था, लाखों स्वर्ण मुद्राएं इसके सामने कुछ नहीं थीं। यह अत्यन्त सुन्दर पुष्प और भी विकसित हुआ तब दो जीव जो अलग-अलग थे, सदा के लिए एक हो गए। इस फूल को सदा निन्दा और असूया के कीड़ों से बचाया गया, साहस ने इसको फल दिया।

फूल एक फुलबारी लाओल मुरारी
जतने पठाओल सुबचन बारि
चौदिस बान्हल सौलक आरि
जिवे अबलम्बन करु अवधारि
ततहु फुलल फुल अभिनव पेम
उस मुल लहुए न लाखहु हेम
अति अपरुब पेम परिणत भेल
दुइ जीव अछल एक भइ गेल
पिसुन कीट नहीं लागल ताहि
साहस फल देल बिहि निरबाहि
विद्यापति कह सुन्दर सेहु
करये जतन फलमत होए जेहु
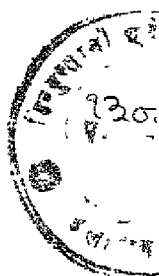
संयोग के दिनों में जो विद्यापति मिलन की नाना मुद्राओं के मादक वर्णन से अपने काव्य को आनन्दातिरेक से भर देते हैं वही विरह के दिनों में सारी सृष्टि को आठ-आठ आँसू रुलाने की क्षमता भी रखते हैं। आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि विरह के गीतों में से अधिकांश किसी राजा या आश्रयदाता को समर्पित नहीं है। विद्यापति इन गीतों के स्वयं भोक्ता और साक्षी हैं। इन गीतो मे विद्यापति की आत्मा रोती है और वे बार-बार प्रिय-मिलन की आशा बाँध-कर अपनी आत्मा में रोती हुई विरहिणी को चुप कराते हैं। संभवतः ये गीत उस समय लिखे गए जब वे किसी राजा के आश्रय में न थे, दिन दुःख के थे, दरबारी वैभव और आमोद-प्रमोद से वे घिरे न थे। इस प्रकार की परिस्थिति शिवसिंह की मृत्यु के बाद पैदा हुई थी। बहुत दिनों तक वे अपने सखा राजा की मृत्यु से उदास और खिन्न रहे होंगे। इन्हीं दिनों उन्होंने विरह के ये गीत लिखे थे। पता नहीं इस प्रकार के विरह गीतों के निर्माण में लखिमा की स्मृतियों ने कितना योगदान किया किन्तु इसमें शक नहीं कि ये गीत कवि की अन्तरात्मा की आवाज हैं। बहुत से लोग विद्यापति के संयोग शृङ्गार वाले पदों को देखकर ही उनके स्वभाव का विश्लेषण कर देते हैं। वे कहते हैं कि राधा बड़ी विदग्धा है, कामुक हैं। विद्यापति घोर शृङ्गारिक है, किन्तु विरह ने विद्यापति की आँखो से कितना आँसू गिराया इसे कोई नहीं देखता। रवीन्द्रनाथ ने चंडीदास और विद्या-पति के प्रेम-गीतों की तुलना करते हुए लिखा है कि विद्यापति सुख के कवि हैं और

चण्डीदास दुःख के। विद्यापति विरह में कातर हो उठते हैं और चण्डीदास को मिलन में भी सुख नहीं। विद्यापति जगत् में प्रेम को ही सार मानते है और चण्डीदास प्रेम को ही जगत् समझते है। विद्यापति भोग के कवि थे, चण्डीदास सहन के। वस्तुतः इस तरह का कथन विद्यापति की उन कविताओं पर लागू होता है जो संयोग शृङ्गार की है। डा० विमान विहारी मजूमदार ने ठीक ही लिखा है कि पदों में केवल ३० पद विरह के हैं। ऐसे ही पदों को देखकर रवीन्द्रनाथ ने ऐसा "राजनामांकित लिखा था। राजसभा के वातावरण में जो पद नहीं लिखे गए थे। उन्हें कवि ने अपने दुःख के दिनों में अकेले बैठकर रचा था। उनमे गंभीरतर वेदना, निविड़तर आनन्द और अतीन्द्रिय अनुभूति की छाप है।"[1] विद्यापति के विरह-गीत इतने कारुणिक और व्यथा से भरे हैं कि उन्हें खाली भोग के गीत कहना उनके साथ अन्याय होगा। राधा अपने विरह में कृष्ण के सम्मिलन की आकांक्षा से पीड़ित अवश्य हैं, किन्तु उसके हृदय की स्वाभाविक वेदना को कातरता कहना उसका अपमान करना है। राधा ऐसी कातर नहीं है। वह तो यहाँ तक कह सकती है—

माधव हमर रहन दुर देस
केओ न कहए सखि कुसल सनेस
युग युग जीवथु बसथु लाख कोस
हमर अभाग हुनक नाहि दोस
हमर करम भेल विहि विपरीत
तेजलनि माधव पुरबिल प्रीत
हृदयक वेदन वान समान
आनक दुःख आन नहि जान

कृष्ण कहीं भी रहे, सुख मे रहें, हम अपने दुःख को सह लेंगे, यह हमारा दुःख हमारे कर्मों का परिणाम है फिर उनका दोष क्या? सूरदास की राधा की प्रशंसा करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है; जहाँ आत्मतुष्टि की वासना विरत हो जाती है वहाँ प्रेम का अत्यन्त निखरा हुआ निर्मल और विशुद्ध रूप दिखाई पड़ता है। ऐसे प्रेम की अविचल प्रतिष्ठा अत्यन्त उच्च भूमि पर होती है, वहाँ सामान्य हृदयों की पहुँच नहीं हो सकती।' (लोभ और प्रीति) विद्यापति इसी तरह के प्रेम का अभ्यर्थन करते हुए करते है—

सुजन क प्रेम हेम सम तूल
दहइत कनक दिगुन होय मूल

---

1. विद्यापति, पृष्ठ ४६।

टूटइत नहिं टूट प्रेम अद्‌भुत्
जइसन बढ़ए मृनाल क सूत

यह प्रेम कनक की तरह मूल्यवान है जो विरह की अग्नि में तप-तप कर शुद्ध हुआ है, यह प्रेम ऊपर से टूटा हुआ दिखाई पड़ सकता है, परिस्थितियाँ दो व्यक्तियों को अलग कर सकती हैं किन्तु जैसे कमल नाल के टूट जाने पर भी उसके तन्तु नहीं टूटते, वैसे ही यह प्रेम कभी नहीं टूटता।

विद्यापति निराशावादी कवि नहीं थे, बहुत से लोग उनके स्तुतिपरक गीतों में आत्मग्लानि के शब्दों को देखकर यह आरोप करते हैं कि विद्यापति जीवन की अन्तिम अवस्था में निराशावादी हो गए थे। यह सत्य है कि इन पदों में विद्यापति के मन की घोर कातरता दिखाई पड़ती है, जैसे निम्न पद में देखिये—

त तल सैकत वारि बिन्दु सम
सुत मित रमनि समाज
तोहे बिसारी मन ताहि समरपिलु
अब मझु होब कोन काज
माधव हम परिनाम निरासा
तुहुँ जगतारन दीन दयामय
अतय तोहर विसवासा
अवधि जनम हम नींद गमायनु
जरा सिसु कत दिन गेला
निधुवन रमनि रभस रंग मातनु
तोहे भजब कोन बेला

इस प्रकार के पदों में दो बातें स्पष्ट होती है। पहला कवि का आत्मनिवेदन जो उस काल के भक्त कवियों की परिपाटी थी। अपने को अत्यन्त गिरा हुआ, पतित नीच और कदर्य बताकर भगवान् की दया के लिए याचना करना एक प्रकार से भक्त कवियों के लिए कवि प्रौढ़ोक्ति है, कवि परिपाटी। सूर, तुलसी, आदि सभी कवियों में इस प्रकार की आत्म-ग्लानि भरी पड़ी है। विनय-पत्रिका में तुलसीदास ने मानस-जीवन की शिशु-काल से जरा-काल तक की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का कदर्थना-भरा चित्रण प्रस्तुत किया है और अन्त में कहा है कि भगवान् इस प्रकार के कृतघ्न नीच पतित जीव का तुम्हीं उद्धार कर सकते हो। सूरदास के विनय के पदों की 'घिघियाहट' पर महाप्रभु वल्लभाचार्य की ताड़ना विदित है ही। इस प्रकार की स्तुतिपरक कवितायें चाहे वह गंगा की वन्दना में हों या देवी की, गणेश की, शंकर की, जानकी की, राधा की या दुर्गा की, सबमें यही कातरता दिखाई पड़ता है। यह कातरता जीवन की वास्तविक निराशा का परिणाम नहीं है बल्कि देवता की महिमा और भक्त की असहायता

की रूढ़ अभिव्यक्ति मात्र है। इसे कवि के जीवन के यथार्थ से सम्बन्धित करने का प्रयत्न अनुचित है। क्योंकि सौन्दर्य और प्रेम का वास्तविक कवि कभी निराशावादी नहीं हो सकता। वाचा भगवान् के सामने दीनता-भरी स्तुति करता हुआ, दुनियादारी का तकाजा पूरा करता हुआ वह निरन्तर सौन्दर्य और प्रेम की प्रेरणा से अनुचालित होता रहता है।

विद्यापति के सम्मुख सम्प्रदाय या धर्म का कोई विशेष महत्त्व न था

आलोचकों ने इस प्रश्न को सुलझाने के लिए विद्यापति शैव थे या वैष्णव लम्बे-लम्बे तर्क दिये हैं। इन तर्कों के अंबार में या ढूँढना तो मुश्किल हो ही गया कि विद्यापति क्या थे, जो बातें स्पष्ट सामने थीं वे भी इस कुहेलिका-जाल में छुप गईं। विद्यापति ने प्रेम के बहुत ऊँचे गीत लिखे हैं, उनके लिए मनुष्य से बड़ा और कोई पदार्थ नहीं है, शारीरिक सौन्दर्य से बड़ी और कोई निधि नहीं है। आलोचक विद्यापति की इन रचनाओं को इन्हीं के आधार पर समझना नही चाहते वे जानना चाहते है कि वे शैव हैं या वैष्णव। क्योंकि इन आलोचकों की यह मान्यता है कि यदि विद्यापति शैव थे तो राधा-कृष्ण के प्रेम-गीत निश्चित ही श्रृङ्गारिक हैं क्योंकि कोई शैव भला वैष्णव-देवताओं के बारे में भक्तिपूर्ण पद क्यो लिखेगा ? इस प्रश्न पर आगे विचार किया गया है। इस स्थान पर मैं विद्यापति की धार्मिक मान्यता के विषय पर कुछ भिन्न दृष्टि से विचार करना चाहता हूँ। कवि या लेखक की रचनाओं में धर्म का तत्व दो प्रकार से प्रतिफलित होता है। या तो वे रचनाएँ निश्चय ही धर्म के विषय में हों अर्थात् किसी विशेष प्रकार के धर्म के प्रचार-प्रसार के निमित्त लिखी गई हों, जैसे प्राकृत-अपभ्रंश में लिखे हुए बहुत से जैन काव्य या संस्कृत में लिखे हुए हिन्दू धर्म-ग्रंथ आदि। इन रचनाओं मे धर्म-केन्द्रीय शक्ति है, बाकी वस्तुयें उसी का अनुगमन करती हैं। कवितायें धर्म का विषय एक और भी तरीके से बनती हैं। धर्म उन कविताओं में मुख्य नही होता। उनमे मनुष्य के बहुत ऊपर उठे हुए मानसिक धरातल का चित्रण होता है। मनुष्य के मन का उच्चतम धरातल जब कवि के काव्य में अभिव्यक्ति पाता है तो उसे आलोचक मधुमती भूमिका की संज्ञा देते है। इस मधुमती भूमिका को प्राप्त कवि की रचनाओं में विश्वजनीन मानव धर्म अभिव्यक्ति पाता है। यह एक स्थिति है जिसमें कवि धर्मों के संकुचित घेरे तोड़कर देश-कालनिरपेक्ष साहित्य की सृष्टि करता है। इस साहित्य में किसी भी धर्म की मूल बातें अर्थात् मानवीय जीवन के, अभ्युदय और निःश्रेयस् की बातें, दिखाई पड़ सकती हैं। विद्यापति की सभी कविताओं में तो नहीं किन्तु अधिकाश मे इसी धर्म की छाया है—यानी मानव धर्म की। राधा और कृष्ण किसी एक जाति या देश के नही हैं—और न तो प्रेम किसी स्थूल सीमा में आबद्ध हो सकता है। प्रश्न हो सकता है, फिर इन कविताओं पर वैष्णव भक्ति का बिल्ला लगाना कहाँ तक उचित है। विद्यापति ने यह बिल्ला नहीं लगाया- उन्होंने अपनी कविता को वैष्णव भक्ति का काव्य नहीं

कहा। चूँकि उनकी कविता में व्यक्त मानव-हृदय वैष्णव भक्त के हृदय से ज्यादा साम्य रखता है इसलिए परवर्ती काल में ये कविताएँ वैष्णव भक्तों द्वारा स्वीकृत होकर कीर्तन का विषय बन गयीं। रागानुगा भक्ति और सांसारिक प्रेम में प्रकार का अन्तर नहीं होता, केवल उद्देश्य का अन्तर है। जड़ोन्मुख होकर जो भावना प्रेम की संज्ञा पाती है वही चिदोन्मुख होकर भक्ति कही जाती है। अत्यन्त शृङ्गारिक कविता भी कभी-कभी शुद्ध चित्त में भगवान् के प्रति अनन्य अनुराग जगाने का कारण बन जाती है। उदाहरण के लिए रूप गोस्वामी की श्री पद्यावली मे एक श्लोक आता है—

> यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा—
> स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढा कदम्बानिलाः
> सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
> रेवारोधसि वेतसी तरुतले चेतः समुत्कण्ठते।[1]

अर्थात् जो मेरा कौमार्य हरण करने वाला था वही आज मेरा पति है, आज भी वैसी ही चैत की रात है, वही विकम्पित मालती की गंध है, कदम्ब फूलों से सुवासित परिणत वय का वही अनिल है, मैं भी वही हूँ किन्तु जाने क्यों रेवा के तट पर कदम्ब-तरुछाया में जो सुरत-व्यापार की लीलायें हुई थीं, उन्हीं में मेरा चित्त उत्कंठित हो रहा है।

महाप्रभु चैतन्य देव ने सुना तो घंटों व्याकुल रहे। इस श्लोक को पढ़कर महाप्रभु भावान्तर लोक में प्रविष्ट हो गए। कृष्णराज ने चैतन्य-चरितामृत मे लिखा है कि जगन्नाथ क्षेत्र के वैभव और कोलाहल से अतृप्त होकर प्रभु वृन्दावन की कामना कर रहे थे, उसी समय इस श्लोक को उन्होंने भावावेश में दुहराया

> एइ श्लोक महाप्रभु पड़े बार बार
> स्वरूप बिना केह अर्थ ना बूझे इहार
> पूर्वे येन कुरुक्षेत्रे सब गोपीगण
> कृष्णेर दर्शन पाया आनन्दित मन
> जगन्नाथ देखि प्रभुर से भाव उठिल
> सेइ भाविष्ट हइया धुया गायोआइल
> अवशेषे राधा कृष्णा कइला निवेदन
> सेइ तुमि सेइ आमि सेन नव संगम
> तथापि आमार मन हरे वृन्दावन

---

1. श्री पद्यावली. श्लोक ३८२।

वृन्दावन उदय कराह आपन चरण
इहा लोकारण्य हाति घोड़ा रथध्वनि
ताहां पुष्पवन भृङ्ग पिकनाद शुनि

भक्ति और सांसारिक प्रेम दोनों ही की परिणत-अवस्था में इस प्रकार की परिस्थितियाँ आती हैं जिसमें भक्त या प्रेमी अपने हृदय में नाना प्रकार के सुख-दुःख मिश्रित भावों का अनुभव करते हैं। इन परिस्थितियों का सफल चित्रण बहुत थोडे कवि कर पाते हैं क्योंकि ऐसी अवस्थाओं में मनुष्य का मन नैसर्गिक सहज स्थिति में होता है जिसमें कलमषण नहीं होता, संकोच और अहं की क्षुद्र सीमा नहीं होती। इस प्रकार के वर्णन में लौकिक प्रेमगत-परिस्थितियो से भक्ति की कई प्रकार की स्थितियों का साम्य दिखाई पड़ता है। विद्यापति के प्रेम-गीतों में यदि किसी शैव या शाक्त या सूफी साधक को अपनी पद्धति का कुछ साम्य नजर आये तो उसमें विद्यापति को या उन्हें शृङ्गारिक मानने वाले आलोचक को क्या आपत्ति हो सकती है। वैष्णव रागानुगा भक्ति से इनका ज्यादा साम्य है।

विद्यापति प्रेम और विरह के अत्यन्त गम्भीर वातावरण में रहते हुए भी काफी विनोदी और आमोदप्रिय जीव थे। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि कुछ कवि प्रेम का गान लिखते हुए, विरह की अवस्था में या असफल प्रेम की स्थिति में इतने गमगीन हो जाते हैं, ऐसा मुँह फुलाये रहते हैं कि उनको पढना भी मुश्किल हो जाता है। वर्तमान युग के बहुत से कवि इस असाध्य रोग के शिकार हैं। प्रेम के अलावा उन्हें और कुछ सूझता ही नहीं; प्रेम भी कुछ ढंग-ढर्रे का हो तो भी कोई बात हुई, वह प्रेम न होकर केवल प्रलाप होता है। 'वाताधिकाः कवयः भवन्ति' को वे चरितार्थ करते है। विद्यापति इस तरह के व्यक्ति नहीं थे। रूप देखा तो छक कर देखा, प्रेम किया तो अस्तित्व भूल कर किया, विरह में पड़े तो सौ फ़ीसदी व्यथा को झेलने के लिये तत्पर रहे, किन्तु जब दुनिया को देखकर कुछ उस पर सोचा विचारा तो ऐसी-ऐसी चीजों पर नजर गई कि उन्होंने उसके वर्णन से पाठकों को हँसाकर लोटन कबूतर बना दिया। तरुणी नारी की सगाई किशोर से हुई तो विद्यापति ने न केवल उस युवती के मन का आक्रोश व्यक्त किया बल्कि इस प्रकार की शादी करने वाले कन्या-पिता के पास यह संदेशा भी भिजवाया कि हाल की ब्यायी एक गाय भी भेज दो ताकि 'लडिका जमाई' का पालन-पोषण हो सके। और दूसरी ओर नवयुवती की शादी किसी बूढ़े वर मोशाय से होने लगी तो भी विद्यापति अपना गुस्सा रोक न सके और शादी-ब्याह ठीक कराने वाले उस घटक की दाढ़ी पकड़ कर घसीटवाने से बाज न आये। विनोद का रंग कभी-कभी काफी चढ़ जाता था तो देवी-देवताओं की शादियों का अच्छा मसाला मिल जाता, औघड़ शंकर और दुकूलावेष्ठित कुमारी गौरी की शादी से मनो-रंजक और विषय क्या होगा। विद्यापति ने ऐसी परिस्थितियो में पूरी बारीकी

के साथ एक-एक रूढ़ि पर करारा व्यंग्य किया। वैसे मिथिला में शादी-व्याह की रंगत कुछ अनोखी रहती भी है—तब भी थी। और विद्यापति ने इसे खूब अच्छी तरह प्रयुक्त भी किया। राधा और कृष्ण के प्रेम प्रसंगों में भी इस कौतुकप्रियता का अभाव नहीं है, वैसे वह विनोद कुछ लोगों के लिए थोड़ा भारी पड़ता है क्योंकि उसके लिए काम-कला-विदग्ध होना पहली शर्त है।

अब तक मैंने विद्यापति की कुछेक वैयक्तिक विशेषताओं का उल्लेख किया जिसे उन्होंने स्वयं साधना से अर्जित किया था अथवा वे उनके व्यक्तित्व की सहज विशेषताएँ थीं, परन्तु बहुत-सी बातें विद्यापति के व्यक्तित्व में उस युग-विशेष की देन है जिसमें वे पैदा हुए थे। बहुत-सी चीजे उन्हें परम्परा से मिलीं। इनमें कुछ तो ऐसी हैं, जो उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायक हुईं, कुछ ऐसी भी हैं जिन्होंने व्यक्तित्व को घटाया।

राजशेखर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ काव्यमीमांसा के आठवे प्रकरण मे कवि के लिए पठनीय शास्त्रों का विवरण देते हुए [illegible] ास्त्र का भी उल्लेख किया है। कामशास्त्र, नाट्यशास्त्र और अर्थशास्त्र को एकत्र रखा है। इसे उन्होंने राज-सिद्धान्तत्रयी कहा है।

> श्रुतिःस्मृतःइतिहासः पुराणं, प्रमाणविद्या समस्त विद्या राजसिद्धान्तत्रयी…
> (काव्य मीमांसा, अष्टम अध्याय, पृष्ठ ८५)

ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी के आस-पास वात्स्यायन ने कामसूत्र का निर्माण किया। उसके बाद और भी कई आचार्यों ने इस शास्त्र के पल्लवन और विकास मे अपना अमूल्य योगदान किया। रतिरहस्य, अनंगरग, नागर-सर्वस्व आदि ग्रथों में इस शास्त्र का व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया गया। कामशास्त्र में दो वस्तुओं पर बहुत ध्यान दिया गया। कामिनी लक्षण और कन्या-विस्रम्भण। कामिनी लक्षण का निर्माण केवल कामशास्त्र का ही विषय नहीं था। इसके निर्माण में सामुद्रिक शास्त्र के आचार्यों का भी बहुत बड़ा हाथ था। हिन्दू, जैन और बौद्ध तीनों ही मतों के मानने वाले आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से सामुद्रिक शास्त्र लिखे। हिन्दुओं के सामुद्रिक शास्त्र प्रसिद्ध है ही। जैन लोगों ने भी सामुद्रिक पर कई ग्रंथ लिखे। जैनियों के पाँच ग्रथ अत्यन्त प्रसिद्ध है। पाटण के राजमंत्री श्री जगदेव रचित सामुद्रिक तिलक, पार्श्वचन्द का हस्तकाण्ड, अज्ञात संज्ञक किसी लेखक का अर्हत चूड़ामणि सार (१०वीं शताब्दी) उपाध्याय मेघविजय का हस्तसंजीवन तथा किसी अज्ञात विद्वान का प्राचीन सामुद्रिक शास्त्र आदि ग्रथ जैन आचार्यों के काम-शास्त्र विषयक अध्ययन के परिणाम हैं। ये पाँचों पुस्तकें दसवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच लिखी गईं। सामुद्रिक शास्त्रों में नर-नारी के लक्षणों पर काफी विस्तार से विचार किया गया। इस लक्षणों ने काम-शास्त्र को भी प्रभावित किया। नारी के नखशिख सौन्दर्य के सभी लक्षण इन्हीं सामुद्रिक

शास्त्रों के आधार पर तैयार किये गये। पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी तथा देवसत्त्वा, गन्धर्वसत्त्वा, यक्षसत्त्वा, मनुष्यसत्त्वा आदि नारियों के भेद और लक्षण सामुद्रिक शास्त्रों और कामशास्त्रों में प्रायः समान हैं। इतना ही नहीं नारी से वर्ण, गंध, स्वर, गति, लावण्य, पाँव, उँगलियाँ, नख, चरण, जानु, उर, कटि, नितम्ब, वस्ति, नाभि, उदर, त्रिवली, वक्षस्थल, उरोज, हँसली, कन्धे, हाथ, ग्रीवा, चिबुक, कपोल, मुख, अधर, दाँत, जिह्वा, हास्य, नाक, नेत्र, भौंह, कान, ललाट, कपाल, केश आदि अगों के बारीक से बारीक लक्षण नारियों के विभिन्न प्रकारों के अनुसार नाना प्रकार के बताये गये। कामशास्त्र में मध्य-प्रदेश, मालवा, सिंध, पंजाब, गुजरात, केरल, मद्रास, बंगाल, उत्कल, कोशल आदि की नारियों की प्रवृत्ति और उनके कामाचरण के विषय में भी विचार किया गया है। कन्या विस्रंभण प्रकरण के अन्तर्गत नारी के सौन्दर्य की प्रशंसा, प्रणयो-पचार आदि की विधियाँ बताई गयी हैं। बाला, नवोढ़ा, मुग्धा, प्रौढा आदि के प्रणयोपचार के अन्तर स्पष्ट किये गए हैं। नागरजनो के वर्णन, उनके दैनंदिन काम-क्रम, विलास और प्रसाधन के नाना उपकरणों का विस्तृत विवरण दिया गया है। इन शास्त्रों को देखने से मालूम होता है कि नायिका भेद के बीजांकुर यहाँ वर्तमान हैं। यही नहीं इनके अंदर प्रणय के नाना रूपों के बारे में रूढ़ियाँ भी स्थापित हो चुकी थीं इन शास्त्रों का प्रभाव बहुत गहराई से पड़ रहा था। कामशास्त्र का मूल उद्देश्य कुछ और ही था। वात्स्यायन ने लिखा था कि काम अर्थ और धर्म दोनों का साधन है।

फलभूतश्च धर्मार्थयोः (कामसूत्रम्)

वात्स्यायन ने विवाह को आवश्यक बताया था और शास्त्र को वर्णाश्रम की मर्यादा और सीमा में घेर कर रखा था—

कामश्चतुर्षु वर्णेषु सवर्णतः शास्त्रश्चानन्यपूर्वायां
प्रयुज्यमानः पुत्रीयो यशस्वी किकश्च भवति
(कामसूत्रम्)

बाद में इस शास्त्र की मर्यादा नष्ट हो गई और इसका मूल प्रयोजन इन्द्रियसुख और 'परपरिगृहीता' के प्रति आसक्ति और व्यभिचार हो गया। इन शास्त्रों मे वर्णित नारी सौन्दर्य और अंगप्रत्यंगों के लक्षणादि इतने लोकप्रिय हुए कि कवियों ने ज्यों-का-त्यों इन्हें काव्यविषयक उपकरण के रूप में गृहीत कर लिया। सौन्दर्य चित्रण में तथा नखशिख-वर्णन में कामशास्त्र के लक्षणों को ज्यों-का-त्यों अपना लिया गया। इतना ही नहीं कामशास्त्र के रूढ भेदोपभेदों को नारी के रूप-वर्णन में पूर्ण महत्व दिया गया बाला नवोढ़ा मुग्धा प्रौढ़ा आदि के वर्णन में काम

शास्त्र के लक्षण काव्य के नियम बन गए और इन रूढ़ विशिष्टताओं को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण स्वरूप श्लोक आदि रचे जाने लगे। कामशास्त्र का प्रभाव चित्रकला तथा मूर्तिकला पर भी कम न पड़ा। पवित्र देव-मन्दिर मिथुन मुद्राओं और आसनों के चित्रों से भर गए। नग्नमूर्तियों का निर्माण श्रेष्ठ कला माना जाने लगा।

कामशास्त्र का प्रभाव आमुष्मिकतापरक या धर्मनिरपेक्ष साहित्य लिखनेवालों पर ही नहीं पड़ा, इसका प्रभाव इतना व्यापक था कि धार्मिक कवि, स्तुति या स्तोत्र लेखक भी इससे बच न सके। दुर्गा, सरस्वती, राधा, गौरी, लक्ष्मी आदि देवियों के स्तुति में उनके सौन्दर्य का चित्रण इन्हीं लक्षणों पर आधारित किया गया। नवोढ़ा और तरुणी के सौन्दर्य-चित्रण में परिगृहीत उपमान देवियो के सौन्दर्य से भी प्रयुक्त होने लगे। बाद में मधुरा भक्ति के मानने वाले वैष्णव कवियों ने भी इसे और भी अधिक महत्त्व दिया। गीतगोविन्द में सर्वप्रथम काम-कला और हरिस्मरण को एकत्र कर दिया। जयदेव ने बड़े आत्मविश्वास के साथ कहा—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासु-कलासु कुतूहलम्
मधुर कोमलान्त पदावली शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्।
(गीतिगोविन्दम्, श्लोक ३)

जयदेव ने हरिस्मरण के साथ-साथ काम-कला के कुतूहलों की शान्ति को भी अपनी कविता का उद्देश्य मान लिया। अर्थात् उन्होंने हरि-कीर्तन और काम शास्त्रीय शिक्षा को एक साथ ही स्वीकार किया। जयदेव ने बिना झिझक ये दोनों बातें एक साँस में कह दीं। उन्हें कामशास्त्र-शिक्षा के नाम पर रंगमात्र भी संकोच न हुआ। जयदेव का गीतगोविन्द रागानुगा-भक्ति सम्प्रदाय के भक्तों के लिए भागवत की तरह पूज्य है। इस ग्रंथ का महत्व इसी बात से समझा जाता है कि परवर्ती काल में कोई भी वैष्णव कीर्तन बिना इसके श्लोक-पाठ के पूरा नहीं माना जाता था। जयदेव ने ५० प्रतिशत कामकला के साथ ५० प्रतिशत हरिस्मरण का संकल्प किया था, पर हुआ क्या? हरिस्मरण का स्वर क्षीण से क्षीणतर हो गया। हरि के चरणों में निवास करने वाले जयदेव को हरि-स्मरण का जैसा भी आनन्द मिला हो, पाठकों को तो उसने युवती की कोमल-कला की तरह ही आकृष्ट किया—

हरिचरण शरण जयदेव कवि भारती—
बसतु छवि युवतरिव कोमलकलावती
(७।१०)

जयदेव के लिए उस जनता का पूरा तिरस्कार कर देना असंभव था जो गाथा सप्तशती जैसी प्रेम-विह्वल रचनाओं में ही आनन्द और मनोरंजन प्राप्त करती थी। जयदेव की यह विशेषता अवश्य है कि उन्होंने इस प्रकार की प्रवृत्ति में, क्षीणतर ही सही, भक्ति का स्रोत भी अनुस्यूत कर दिया ? विद्यापति पर इस धारा का प्रभाव पड़ा : उन्होंने जयदेव की तरह माधव और राधा के चरणों की वन्दना के साथ ही कामशास्त्र की शिक्षा को भी अपना उद्देश्य मान लिया। तत्कालीन कवि वस्तुतः कामशास्त्री की भूमिका अदा करना भी कवि का कर्त्तव्य समझने लगा था। राधा के रूप-चित्रण में विद्यापति ने सामुद्रिक और कामशास्त्र की रूढ़ उत्प्रेक्षाओं और उपमाओं की राशि एकत्र कर दी। प्रेम के चित्रण के बाद वे यह लिखना नहीं भूलते थे कि यह रस कोई ही जानता है। अरे मूर्खो, राजा शिवसिंह इस रस को जानते हैं, उनसे कुछ डर नहीं अथवा लखिमा इस रस को जानती है। इतना ही नहीं कुछ पदों में उन्होंने कामकला शिक्षक का बाना भी धारण कर लिया और स्पष्ट शब्दों में लिखा है :—

विद्यापति कह कह रस ठाठ
भए गुरु काम सिखाओब पाठ

अथवा :—

सुनु सुनु ए सखि वचन विसेस
आज हम देव तोहि उपदेस

और जब विद्यापति अपना 'उपदेस' देने लगे तो वात्स्यायन और उसकी सारी शिष्य-परम्परा दाँतों तले उँगली दबा कर खड़ी हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। हम इसके लिए विद्यापति को दोषी नहीं कहते। प्रेम-काव्यों की इस परम्परा ने जयदेव के हरिस्मरण को जब कामकला के सामने घुटने टेकने को मजबूर किया तो विद्यापति जैसे दरबारी कवि जिसने हरिस्मरण का भी संकल्प ही नहीं किया इस धारा में बह जायें तो आश्चर्य क्या। किन्तु यह उनके व्यक्तित्व की एक निर्बलता जरूर है कि वे उस विकासशील संक्रमण काल में अपने को उस क्षयिष्णु प्रभाव से अलग न कर सके। वे कबीर नहीं हो सके तो कोई बात नहीं किन्तु वे मीराँ हो सकते थे।

विद्यापति ने अपने समय की यथार्थ सामाजिक चेतना को पूर्णतः ग्रहण नहीं किया; 'लोकचेतना' शीर्षक प्रकरण में मैंने इस पर विस्तार से विचार किया है। यहाँ प्रसंगवश इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि विद्यापति जैसे दरबारी कवि ने जन-जीवन के साथ अपने को सम्बद्ध करने का जो कुछ भी प्रयत्न किया और उसमें जितना भी वे सफल हो सके, वह कम नहीं है। चौदहवीं शताब्दी के कवि के लिए भाषा काव्य लिखना ही एक असंभव व्यापार था। तीन सौ वर्ष बाद भी केशवदास ने 'भाषा' में काव्य लिखते वक्त सिर

ग्लानि का अनुभव किया तथा तुलसीदास जैसे जनमंगल की भावना से ओतप्रोत कवि ने 'भाखा भनिति' के लिए जितनी शालीन सफाई पेश की—वह सब कुछ संभव न हुआ होता यदि विद्यापति जैसे दरबारी कवि ने कविता को देववाणी की दमघोंट चहारदीवारी से बाहर न निकाला होता। यह सही है कि उन्होंने कबीर की तरह संस्कृत को कूपजल कहकर तिरस्कृत नहीं किया; किन्तु इतना तो वे मानते ही थे कि संस्कृत अब केवल बुधजन तक ही सीमित हो गई है।

सक्कय बानी बुहजन भावइ
पाअऊँ रस को मम्म न पावइ
देसिल बयना रस जन मिट्ठा
त तैसन जम्पओं अवहट्ठा

उन्होंने अपने राजकवि होने की मजबूरी को संस्कृत प्रशस्ति काव्य लिखकर निभाया, तत्कालीन परम्परा के अनुसार राजा के युद्ध और प्रणय का विवरण पिंगल या अवहट्ठ में उपस्थित किया किन्तु हृदय का तकाजा, जनता के प्रति उत्तरदायित्व 'देसिलबयना' के माध्यम से ही व्यक्त हुआ। विद्यापति के गीतों का पाठक इनकी जीवन्त प्रवाहमयी भाषा से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। लोक-गीतों की सुमधुर और सहज पद्धति पर लिखे गए वे गीत तत्कालीन जन-मानस के अकृतिम दर्पण हैं। इस प्रकार की चेतना को सामाजिक यथार्थ के प्रति श्रद्धा की भावना के बिना कौन कवि ग्रहण कर सका है? इतना ही नहीं विद्यापति ने बाल-विवाह, कुटनी नारी की दीनता, मुसलमानों के आक्रमण से उत्पन्न सामाजिक अव्यवस्था, आदि विषयों पर भी बड़ी ईमानदारी के साथ विचार किया है। १६वीं शताब्दी के आरंभ में बाल-विवाह आदि समस्याओं पर विचार करनेवाले लोगों को हम 'रिनेसां' के अग्रदूत कहते हैं, किन्तु कल्पना कीजिए चौदहवी शताब्दी के उस युग की, जब विदेशी आक्रमण से संत्रस्त हिन्दू जाति अपने बचाव के लिए नाना प्रकार की किलेबंदी कर रही थी। बाल-विवाह भी उसी युग की देन है, इसमें शक नहीं। विद्यापति ने उस कुरीति को, जो तत्कालीन विकट परिस्थितियों का परिणाम था, क्षम्य नहीं माना और उस पर मार्मिक किन्तु क्षोभहीन ढंग से प्रहार किया।

लोकचेतना के प्रति उनका आदर एक और रूप में व्यक्त हुआ। हिन्दी के अद्यतन काव्य की एक प्रवृत्ति है लोकतत्व से परिग्रहण की। हम उन कवियों या लेखकों को साधुवाद देते हैं जो जनता के लोक-गीतों या लोक-कथाओं को अपने काव्य में स्थान देते हैं। लोक-गीतों या लोक-कथाओं के परिग्रहण में भी कभी-कभी गड़बड़ी पैदा होने की आशंका रहती है। लोक-गीत या लोक-तत्वों का अध्येता जब इन तीनों में जनता के प्रेम या दर्द की सहज निवृत्ति के साथ-साथ अन्धविश्वासों एवं रूढ़ियों के प्रति व्यक्त भयमिश्रित श्रद्धा को भी चुपचाप ग्रहण

कर लेते हैं तब लोक-गीतों के प्रयोग से स्वस्थ प्रवृत्तियों को शक्ति के स्थान पर बाधा ही मिलती है। लोक-तत्वों का प्रयोग शैली और वस्तु दोनों ही दृष्टियों से काव्य को उन्नयनशील, कृत्रिमताहीन तथा जन-मानस के साथ सम्बद्ध बनाने मे सक्षम होता है। उपमाएँ, उत्प्रेक्षा तथा अन्य अलंकारों के प्रयोग में लोक-तत्व से प्रभावित उपमान ग्रहण किये जा सकते हैं। यही नहीं, कभी-कभी लोक-तत्त्वो का परिग्रहण साहित्य की रूढ़ प्रवृत्तियों से प्रभावित विचार-सरणि को भी बदलने मे सहायक होता है। विद्यापति ने लोक-तत्त्वों के ग्रहण मे काफी पटुता और कुशलता का परिचय दिया है। उन्होंने गीतों के छन्द, धुन, स्वर तथा शब्द-विन्यास आदि लोक-जीवन से लिये, साथ ही विरह और संयोग के वर्णनों मे भी लोक-जीवन की मान्यताओं का प्रयोग किया। उदाहरण के लिए बालक-जन्म के अवसर पर होने वाले टोने-टोटके, तथा अन्य लौकिक संस्कारों का वर्णन विद्यापति ने वसन्त को बालक मानकर उसके जन्म के अवसर पर प्रस्तुत किया है—

मधु लए मधुकर बालक दएहलु
कोमल पंखरी लाई
पओनार तोरि सूत बाँधल कटि
केसरि कएल बघनाई

पूजा, व्रत आदि के अवसरों पर गाये जाने वाले स्तुति-गानों में भी अनेक लोक-गीतों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। संयोग और वियोग के गीतों मे तो विद्यापति ने अभिजात संस्कारों को नीरस समझकर एकदम हटा दिया है। उनके स्थान पर उन्होंने सामान्य प्रेमी-प्रेमिका के लोक-जीवन में संयुक्त प्रेम—व्यापार का मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है। लोक-गीत की एक धुन देखिए—

के पतिया लय जायत रे
मोरा पियतम पास
हिय नहिं सहए असह दुख रे
भेज साओन मास
एकसरि भवन पिया विनु रे
मोरा रहलो न जाय
सखि अनकर दुख दारुन रे
जग के पतियाय
मोर मन हरि हरि लए गेल रे
अपनो मन गेल
गोकुल तज मधुपुर बस रे

कत अपजस लेल
विद्यापति कवि गाओल रे
धनि धरु हिय आस
आओत तोर मनभावन रे
एहि कातिक मास

ठीक इसी भाव के प्रायः इन्हीं शब्दो के कई गीत भोजपुरी, अवधी तथा अन्य लोक-भाषाओं में आज भी चलते हैं। कही-कही तो विद्यापति ने लोक-गीत को ज्यो का त्यों रख दिया है। या हो सकता है कि उन्हीं का लिखा हुआ गीत शुद्ध लोक-गीत की तरह प्रिय होने के कारण लोक-गीत ही प्रतीत होता है। इन गीतो मे दर्द की इतनी तीव्र व्यंजना इसीलिए सम्भव हो सकी है कि कवि ने विरहिणी के मुख से निकलनेवाले शब्दों में निहित पीड़ा को पहचाना है। विरहिणी नायिका छाती फटने की व्यञ्जना कई शब्दों में भिन्न तरह से कर सकती हैं; पर

मधुपुर मोहन गेल रे
मोरा विहरत छाती
गोपी सकल विसरलनि रे
जत छल अहिवाती

विहरत की तुलना का दूसरा शब्द मिलना कठिन है। यह ऐसा शब्द है जो दर्द की अन्तःसलिला में जाने कितने समय तक बहते-टकराते घिस-घिसकर चिकने पत्थर की तरह पारदर्शी हो गया है, इस शब्द में अभिधार्थ से कहीं ज्यादा भाव सन्निहित हो गया है।

लोक-गीत कभी भी निराशावादी प्रवृत्तियों को प्रश्रय नहीं देते। विरहिणी नारी के दुख को कवि समझता है इसीलिए लोक-गीतों की आशावादी प्रवृत्ति के अनुकूल ही वह प्रत्येक पद में कहता है कि धनि, तू अपने हृदय में धैर्य धारण कर तेरे प्रिय शीघ्र आएँगे, या इस कातिक मास में ही आ जायेंगे, आदि आदि।

विद्यापति पूर्णतः गीतात्मक (Lyrical) व्यक्तित्व के पुरुष थे। संगीत-मयता और अपने व्यक्तित्व को गीतो में लय करने की तन्मयता विद्यापति के नैसर्गिक गुण हैं। उन्होंने संस्कृत और अवट्ठ की कतिपय रचनाओं में प्रबंधकार कवि के कौशल का परिचय भी दिया है किन्तु जैसा मैंने पहले ही कहा, यह दरबारी कवि के उत्तरदायित्व का निर्वाह मात्र है। विद्यापति का व्यक्तित्व केवल गीतों में ही व्यक्त हो सकता था। ऐसा व्यक्तित्व जो सौन्दर्य की भाव-लहरियों से स्पन्दित था, प्रेम-बासुरी की जड़ी-भूतकारिणी माधुरी से प्लावित था तथा जो विरह के चम्पा की तीखी गंध से व्याकुलित था केवल अपने को मधु-मधु गीतों में ही व्यक्त कर सकता था। दण्डनीति के पण्डित भूपरिक्रमा

के लेखक के व्यक्तित्व मे विचार-कर्कशता और तर्क की परुषता अवश्य थी किन्तु यह उस व्यक्तित्व का हृदय नही है, कलेवर है जिसकी रुक्षता और उत्तप्तता के बीच उनके हृदय की सरस भाव-धारा सुरक्षित रही। विद्यापति की राधा वस्तुत सौन्दर्य का स्तवक हैं। इकहरे भाव-चित्रों की चित्रपटी है, वह एक ऊँची रुचि के कलाकार की तूलिका से निर्मित चित्रों का अलबम है, उसमें अजन्ता के भित्ति-चित्रों का गांभीर्य और विशालता नहीं, उसमें खजुराहो और भुवनेश्वर के मन्दिरो मे निर्मित मिथुन नरनारी के खण्डित व्यक्तित्व के छायांकन का प्रभाव है। विद्यापति के गीतों में एक क्षण को चिरस्थायी बनाने का प्रयत्न है। एक ऐसा क्षण जो अपनी लघु स्थिति में जीवन की समग्रता का पूरा आभास तो नहीं दे सकता किन्तु जो जीवन के किसी एक हिस्से को सदा के लिए उद्भासित करने के लिए समर्थ होता है। प्रबन्धकार कवि-जीवन का पूरा चित्रण इसी क्षण की अनुभूति को प्रस्तुत करने के लिए किया करता है जब कि विद्यापति उस क्षण मे ही जीवन देख लेने के अभ्यासी हैं। उनके गीत शबनम की बूंदों की तरह दिव्य और पारदर्शी हैं किन्तु उन्हीं की तरह उनका अस्तित्व भी केवल रुचि सम्पन्न हृदयो मे ही हो सकता है।

विद्यापति का प्रभाव परवर्ती काल पर कई रूपों मे पड़ा। अपनी मानवी अनुभूति और देश-काल-निरपेक्ष कलाकारिता के बल पर उन्होंने ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण किया जिसने भक्तों को वैष्णवी भक्ति का सुमधुर गान दिया, रसिकों को कलापूर्ण प्रणय की भाव-भंगिमा, असंख्य विरही-जनों के कान्ताविश्लेष दुख से पीड़ित मन को सँभालने की ताकत, युवको को नारी का मादक मांसल सौन्दर्य तथा वृद्धों को अपने जीवन के अन्तिम काल में आत्म-ग्लानि पूर्ण मन से ईश-वन्दना के लिए स्तुतियाँ प्रदान कीं। डा० सुभद्र झा ने लिखा है कि विद्यापति का प्रभाव तुलसीदास से भी व्यापक है क्योंकि उनके पाठक केवल हिन्दी क्षेत्र के ही लोग नहीं बल्कि असम, बंगाल और उड़ीसा के भी हैं। तुलसीदास का प्रभाव कुछ भिन्न तरह का है। यह प्रभाव धर्म के नियमो की तरह बुद्धि-गम्य है, संसार के दुःखों से आकुल जन के लिए तुलसीदास शास्त्रज्ञ किंतु सहृदय धर्मगुरु हैं। विद्यापति भिन्न हैं, उनकी कविता हृदय को चेतावनी नही, प्यार देती है। विद्यापति के गीतों की शैली निराली है। विद्यापति की कविता ने असम और बंगाल के ब्रजबुलि के कवियों को न केवल प्रभावित किया बल्कि वह इस प्रकार के काव्य लिखने का आदर्श और प्रेरणा भी बनी रही। इसने पिछले खेवे के ब्रजभाषा कवियों को प्रभावित नहीं किया, ऐसा कुछेक विद्वान् मानते हैं। किन्तु ब्रजभाषा कविता के विकास में बंगाली गोस्वामियों का प्रभाव कम न था। चैतन्य के वृन्दावन आगमन के समय न केवल रागानुगा भक्ति के अनन्तव्यापिनी शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, साथ ही गीत-गोविन्द के श्लोक और विद्यापति के पद भी जो महाप्रभु को बहुत प्रिय थे, वृन्दावन आये। उसके पहले भी विद्यापति

से प्रभावित कितने सन्त वृन्दावन आ चुके थे। रूप गोस्वामी, शंकर देव आदि संत विद्यापति से अपरिचित न थे। विद्यापति के सम्बन्ध में ग्रियर्सन की यह श्रद्धाञ्जलि उचित ही है—"हिन्दू धर्म का सूर्य अस्त हो सकता है, वह समय भी आ सकता है जब कृष्ण से विश्वास और श्रद्धा का अभाव हो, कृष्ण प्रेम की स्तुतियों के प्रति जो हमारे लिए इस भवसागर के रोग की दवा है, विश्वास जाता रहे तो भी विद्यापति के गीतों के प्रति जिनमें राधा और कृष्ण के प्रेम का वर्णन है, लोगों की आस्था और प्रेम कभी कम न होगा।"

२ | काल-निर्णय

भारत के अन्य बहुत से श्रेष्ठ कवियों की भाँति विद्यापति का तिथि-काल भी अद्यावधि अनुमान का विषय बना हुआ है। यद्यपि विद्यापति का सम्बन्ध एक विशिष्ट राजघराने से था, और इस प्रकार वे मात्र कवि ही नहीं बल्कि एक ऐतिहासिक व्यक्ति कहे जा सकते हैं, किन्तु अभाग्यवश इतने प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के समय के विषय में कोई ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त नहीं हो सका है, जिस जिस पर मतैक्य हो सके।

विद्यापति की जीवन-तिथि का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। अत जीवन-तिथि के निर्धारण का कार्य मात्र अनुमान का विषय रह जाता है। विद्यापति के पिता गणपति ठक्कुर राजा गणेश्वर के सभासद थे और ऐसा माना जाता है कि विद्यापति अपने पिता के साथ राजा गणेश्वर के दरबार में कई बार गए थे। उस समय उनकी अवस्था आठ-दस साल से कम तो क्या रही होगी। कीर्तिलता से मालूम होता है कि राजा गणेश्वर लक्ष्मण-सम्वत् २५२ मे असलान द्वारा मारे गए। इस आधार पर चाहे तो कह सकते हैं कि विद्यापति यदि उस समय दस-बारह साल के थे तो उनका जन्म लक्ष्मण-सम्वत् २४२ के आसपास हुआ होगा। सबसे पहले श्री नगेन्द्र नाथ गुप्त ने विद्यापति-पदावली (बँगला संस्करण) की भूमिका में लिखा कि २४३ सम्वत् को राजा शिवसिंह का जन्म-काल मान लेने पर हम मान सकते हैं कि कवि विद्यापति का जन्म लक्ष्मण सम्वत् २४१ के आसपास हुआ होगा। क्योंकि ऐसा प्रसिद्ध है कि शिवसिंह पचास वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठे और विद्यापति अवस्था में इनसे दो साल बड़े थे। इसी के आधार पर विद्यापति का जन्म सम्वत् २४१ (लक्ष्मण) में अर्थात् ईस्वी सन् १३६० में हुआ, ऐसा मान लिया गया।

जन्म-तिथि-निर्धारण के विषय में किसी बाह्य साक्ष्य के अभाव की अवस्था मे हमें अन्तः साक्ष्य पर विचार करना चाहिए। कीर्तिलता पुस्तक से ऐसा मालूम नहीं होता है कि वह विद्यापति की प्रारम्भिक रचनाओं में एक है। जैसा बहुत से विद्वान् मानते हैं विद्यापति ने इस ग्रन्थ में अपनी कविता को बालचन्द्र की तरह कहा है—

बालचन्द विज्जावइ भासा
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा

ओ परमेसर इर सिर सोहइ
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ[1] (२।८—१२)

इस पद से ऐसा ध्वनित है कि इसके पहले विद्यापति की कोई महत्त्वपूर्ण रचना प्रकाश में नहीं आई थी। पर कवि की इन पंक्तियों से अपनी कविता के विषय में उनका विश्वास झलकता है और यह उक्ति यों ही कही गई नहीं मालूम होती। कवि कहता है कि यदि मेरी कविता रसपूर्ण होगी तो जो भी सुनेगा, प्रशंसा करेगा। जो सज्जन हैं, काव्य रस के मर्मज्ञ हैं, वे इसे पसन्द करेंगे, किन्तु जो स्वभावेन असूया-वृत्ति के हैं वे निन्दा करेंगे ही। इस निन्दावाली पंक्ति से कुछ लोग सोच सकते हैं कि किसी प्रारंभिक रचना की निन्दा हुई होगी। पर सज्जन-प्रशंसा और दुर्जन निन्दा कोई नई बात नहीं, यह मात्र काव्य परिपाटी है। यहाँ बालचन्द्र निष्कलंकता और पूजार्हता घोषित करने के लिये प्रयुक्त लगता है।

अब यदि हमें कीर्तिलता के निर्माण का समय मालूम हो जाय तो हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि विद्यापति उस समय प्रसिद्ध कवि हो चुके थे। कीर्तिलता के कथा-पुरुषों में कीर्तिसिंह मुख्य हैं। कीर्तिलता पुस्तक महाराज कीर्तिसिंह की कीर्ति को प्रोज्ज्वल करने के लिए लिखी गई थी। कीर्तिलता से यह भी मालूम होता है कि कीर्तिसिंह ने जौनपुर के शासक इब्राहीम शाह की सहायता से तिरहुत का राज्य प्राप्त किया, जिसे लक्ष्मण सम्वत् २५२ में मलिक असलान ने राजा गणेश्वर का वध करके हस्तगत कर लिया था। इस कथा मे दो घटनाएँ ऐतिहासिक महत्त्व की आती हैं। पहली तो असलान द्वारा राजा गणेश्वर का वध और दूसरी इब्राहीम शाह की मदद से तिरहुत का उद्धार।

लक्ष्मण सेन सम्वत् कब प्रारम्भ हुआ, इस पर भी विवाद है। इस समस्या पर कई प्रसिद्ध इतिहास-विशेषज्ञों ने विचार किया है, परन्तु अब तक किसी निश्चित तिथि पर सब का मतैक्य नहीं है। श्री कीलहर्न ने इस विषय पर बड़े परिश्रम के साथ विचार किया।[2] उन्होंने मिथिला की छः पुरानी पाण्डुलिपियो के आधार पर यह विचार किया कि लक्ष्मण-सम्वत् को १०४१ शाके या १११९ ईस्वी सन् में प्रथम प्रचलित मानने से पांडुलिपियों में अंकित तिथियाँ प्रायः ठीक बैठ जाती हैं। छः पांडुलिपियों में एक को छोड़ कर बाकी की तिथियों में गड़बड़ी नहीं मालूम होती। पश्चात् श्री जायसवाल ने डेढ़ दर्जन के लगभग प्राचीन मैथिल पाडुलिपियों की जाँच करके यह मत दिया कि लक्ष्मण सेन सम्वत् में १११९ जोड़ने पर हम तात्कालीन ईस्वी काल का पता लगा सकते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि ऊपर की संख्या केवल कर्णाट या ओईनीवार वंश तक के ऐतिहासिक

---

१ कीर्तिलता और अवहट्टभाषा, डॉ० शिवप्रसाद सिंह, १९५५।
२ इंडियन ऐंटिक्वैरी भाग १२ सन् १८२० ई० पृ० ७।

तिथियों की जानकारी के लिए उक्त संख्या में क्रमश: दो वर्ष कम कर लेना होगा, यानी जायसवाल के मत से १५२० ईस्वी के पहले की तिथियों के लिए लक्ष्मण सम्वत् में १११६ जोड़ने से तत्कालीन ईस्वी सन् का पता लगेगा, किन्तु बाद की तिथियों के लिए ११०८ जोड़ना आवश्यक होगा।[1] बहुत से विद्वान् लक्ष्मण-सम्वत् का प्रारम्भ ११०६ में ही मानते हैं। इस तरह ११०६ से १११६ तक के काल में अनिश्चित ढंग से कभी लक्ष्मण-सम्वत् का आरम्भ बताया जाता है। ऐसी स्थिति में २५२ लक्ष्मण यानी राजा गणेश्वर की मृत्यु का वर्ष १३५८ ईस्वी से १३७१ के बीच में पड़ेगा।

दूसरी ऐतिहासिक घटना इब्राहीम शाह की मदद से तिरहुत का उद्धार है। जौनपुर में इब्राहीम शाह नाम का मुसलमान शासक अवश्य था और उसका राज्य-काल भी निश्चित है। १४०२ में इब्राहीम शाह गद्दी पर बैठा। तभी कीर्तिसिंह के आवेदन पर वह तिरहुत में असलान को दण्ड देने गया होगा। अतः इब्राहीम शाह के तिरहुत जाने का समय १४०२ ईस्वी के पहले नहीं हो सकता, यह ध्रुव सत्य है।

ज्यादा से ज्यादा १३७१ में गणेश्वर राय की मृत्यु और उसके ३१ वर्ष के बाद इब्राहिम शाह का मिथिला आगमन बहुत से विद्वानों को खटकता है। इस-लिए इस व्यवधान को समाप्त करने के लिए कई तरह के अनुमान लगाए जाते हैं।

सबसे पहले डा० जायसवाल को यह व्यवधान खटका और इन्होंने इसको दूर करने के लिए एक नया उपाय निकाला। कीर्तिलता में २५२ लक्ष्मण सम्वत् की सूचना देने वाला पद्य इस प्रकार है—

लक्खन सेन नरेस लिहिअ जबे पक्ख पंच बे (की० २।४)

महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने इसका अर्थ किया था कि जब लक्ष्मण सेन का २५२ लिखित हुआ। जायसवाल ने इसे ठीक नहीं माना और उन्होंने 'जब बे' का अर्थ ५१ किया और इसे २५२ में जोड़कर इस वर्ष की संख्या ३०४ लक्ष्मण सेन ठीक किया अर्थात् १४२३ ईस्वी।[2]

'जबे' स्पष्ट से समय सूचक क्रियाविशेषण अव्यय है, इसे खींचतान करके वर्ष-गणना का माध्यम बनाना उचित नहीं जान पड़ता। वस्तुतः जो समय-व्यवधान जायसवाल को खटक रहा था, वह सत्य था और ३१ वर्ष के बाद ही इब्राहीम शाह तिरहुत आया, इसमें कोई गड़बड़ी नहीं मालूम होती। उलटे जायसवाल जी की नई गणना से कई ऐतिहासिक भ्रान्तियां खड़ी हो जाती हैं। उन्हीं के बताए काल को सही मानें तो राजा कीर्तिसिंह १४२३ या २४ ईस्वी

---

१ जे० बी० ओ० आर० एस०, भाग २०, पृ० २० एफ० एफ०।

२. जायसवाल, दि जर्नल आव बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी भाग १३, पृ० २९९

में गद्दी पर बैठे होंगे। ऐतिहासिकता यह है कि राजा शिवसिंह को २१९ लक्ष्मण-सम्वत् में राजाधिराज कहा गया है। यदि गणेश्वर ३०४ लक्ष्मण-सम्वत् में मरे जब कि वे स्वयं राजाधिराज थे, तो शिवसिंह का उनके पहले राजाधिराज हो जाना असत्य हो जाता है।

इधर समय के इस व्यवधान पर डा० सुभद्र झा ने भी गंभीरता से विचार किया है।[1] उन्होंने डा० जायसवाल के मत को ठीक नहीं माना है और लक्ष्मण सम्वत् २५२ में राजा गणेश्वर की मृत्यु को स्वीकार किया है। परन्तु उन्होंने कहा है कि मृत्यु के बाद ही कीर्तिसिंह अपने भाई के साथ अपने पिता के शत्रु के बदला लेने के लिए इब्राहीम शाह के पास गए। चूंकि जौनपुर में इब्राहीम शाह नामक कोई शासक १४०२ के पहले नहीं हुआ इसलिए डा० सुभद्र झा ने माना है कि कीर्तिसिंह जौनपुर नहीं जोनापुर गए जो लिपिकार की गलती से जोइनिपुर के स्थान पर लिखा गया है। उन्होंने जार्ज ग्रियर्सन की रचना (टेस्ट ऑव मैन, टेल्स नं० २—४१) में प्रयुक्त 'योगिनीपुर को' जिसे ग्रियर्सन ने पुरानी दिल्ली कहा है, जोनापुर का सही रूप बताया। डा० सुभद्र झा को योगिनीपुर के पक्ष में कीर्तिलता में ही प्रमाण भी मिल गया।

पेष्खिअउ पट्टन चारु मेखल जओन नीर पखारिआ (की० २—७६)

श्री झा का कहना है कि इस पंक्ति में 'जलोन' शब्द का अर्थ यमुना है। विद्यापति के पदों में 'जअ़ुन' और 'अअ़्नि' दो शब्द मिलते हैं, जिनका अर्थ यमुना है। ऐसी स्थिति में उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'नगर, जो यमुना के जल से प्रक्षालित था, सुन्दर मेखला की तरह मालूम होता था।' तय है कि ऐसी अवस्था में यह शहर जौनपुर नहीं हो सकता। यह अवश्य दिल्ली था किन्तु दिल्ली में डा० झा को उस समय के किसी इब्राहीम शाह का पता नहीं चला, इसलिए उनका कहना है कि इब्राहीम शाह अवश्य फ़ीरोज तुगलक का कोई अप्रसिद्ध सेनापति रहा होगा। फीरोज शाह और भोगीश्वर का सम्बन्ध भी यहाँ एक प्रमाण हो सकता है (कीर्त्ति०) किन्तु कीर्तिसिंह ने कीर्तिलता में कई जगह इब्राहीम शाह को 'बादशाह' या 'सुल्तान' कहा है, फिर एक अप्रसिद्ध से सेनापति को ऐसा कहना ठीक नहीं मालूम होगा। इस कठिनाई को भी श्री झा ने दूर कर दिया है। उनका कहना है कि आदर के लिए ऐसा कहा जा सकता है। जैसा मिथिला में राजा के भाई, या राजघराने के किसी व्यक्ति को 'राजाधिराज' कह दिया जाता है।

इस तरह झा के मत से जोनापुर, योगिनीपुर (पुरानी दिल्ली) था जो जओन (यमुना) के नीर से प्रचलित था और जहाँ फ़ीरोजशाह बादशाह थ

1. सुभद्र झा, सांग्स आव विद्यापति, भूमिका, पृ० ४१-४२।

जिसका सेनापति कोई अप्रसद्धि इब्राहीम शाह था जिसे कीर्तिसिंह आदर के लिए बादशाह भी कहा करते थे।

इस दूरारूढ़ कल्पना के लिए डा० झा के पास दो आधार हैं। पहला ग्रियर्सन के टैस्ट आव् मैन की दो कहानियों में आया योगिनीपुर शब्द जिसे उन्होंने पुरानी दिल्ली का कथा-कहानियों में आनेवाला नाम बतलाया है। प्राचीन पुस्तकों में कई स्थानों पर दिल्ली का नाम योगिनीपुर बताया गया है। किन्तु इसका 'जोनापुर' हो जाना अवश्य कठिन है।

अब रहा शब्द 'जओन' जिसे डा० झा ने यमुना कहा है। प्राकृत में 'यमुना' का 'जउणा' हो जाता है (प्राकृत व्याकरण ४।१।१७८) इसलिए 'जओन' हो सकना नितान्त असम्भव तो नहीं है। पर देखना होगा कि वस्तुतः यह शब्द है क्या ? कीर्तिलता में एक पंक्ति आती है—

फरमान भेलि, कओण साहि (३।२०)

यहाँ 'कओण' का अर्थ है 'कौन'। जिसका अपभ्रंश में 'कवण' रूप मिलता है। कीर्तिलता मे ही कवण (१।१३), कमण (२।२५३) रूप मिलते हैं। यह कओन या कवण 'कः पुनः' का विकसित रूप है।

इसी तरह 'जओन' जिसका अर्थ है जौन यानी जो। 'जवन' का प्रयोग तो आज भी पूर्वी हिंदी में पाया जाता है। कवण, कओन की तरह ही जवण, जओन रूप भी मिलते हैं। ऐसा ही एक शब्द और है।

जेओन दरबार मेओणे (२।२३९) यानी जिस दरबार में। बाबूराम सक्सेना ने इसकी व्युत्पत्ति (जेओन < जेमुना) से की है।

इस तरह हमने देखा यहाँ जेओन का अर्थ यमुना नदी नहीं है। सक्सेना द्वारा सांकेतिक 'ख' प्रति में स्पष्टतः 'जौन' लिखा हुआ है।

इब्राहीम शाह की निराधार कल्पना डा० सुभद्र झा ने की है, वह तो हास्यास्पद कोटि तक पहुँच जाती है। कीर्तिलता में जिस इब्राहीम शाह का जिक्र है वह जौनपुर (उत्तरप्रदेश) का प्रसिद्ध इब्राहीम शाह ही था। राजा गणेश्वर की मृत्यु १३७१ ई० में हुई और कीर्तिसिंह इब्राहीम शाह को १४०२ ई० में तिरहुत ले आए, इसमें कोई गड़बड़ी नहीं है। ३१ वर्ष के मध्यान्तरित समय में कीर्तिसिंह कुछ कर नहीं सकते थे क्योंकि वे उस समय काफी छोटे रहे होंगे; और फिर कुछ कर सकने के लिए अवसर की भी प्रतीक्षा करनी होती है। उस समय की मिथिला के विषय में विद्यापति ने लिखा है कि चारों ओर अराजकता फैली थी, ठाकुर ठग हो गए, चोरों ने घरों पर कब्जा कर लिया। भृत्यों ने स्वामिनियों को पकड़ लिया, धर्म नष्ट हो गए, काम-धन्धे ठप हो गए। जाति-अजाति में शादियाँ होने लगी, कोई काव्य-रस का समझनेवाला न रहा, कवि लोग भिखारी होकर इधर-उधर घूमते रहे। जाहिर है, ऐसी अवस्था तुरन्त नहीं हो जाती। इस तरह के सांस्कृतिक विनिपात में कुछ समय लगता ही है।

इस तरह की संस्कारहीनता एक साल में ही नहीं आ पाती। तय है कि इस प्रकार तिरहुत से गुणों के तिरोहित होने में कुछ समय लगा होगा।

अक्खर रस बुज्झनिहार नहिं कवि कुल भमि भिक्खारि भउं
तिरहुत तिरोहित सब्ब गुणे रा' गणेस जब सग्ग गउं
(२।१४-१५)

विद्यापति भी उस समय छोटे रहे होंगे, जौनपुर के वर्णन से लगता है कि विद्यापति ने नगर देखा था, संभवतः राजा के साथ गए हों, क्योंकि जौनपूर का ऐसा बिम्बपूर्ण चित्रण बिना चाक्षुष प्रत्यक्ष के सम्भव नहीं है। ये सब दस-ग्यारह वर्ष के विद्यापति से तो कभी सम्भव नहीं हो सकता। मेरा अनुमान है कि उस समय विद्यापति की अवस्था पचीस-तीस के आसपास रही होगी, इसी से मैंने पहले ही कहा कि कीर्तिकला को प्रथम रचना मानना ठीक नहीं है। इसी तरह विद्यापति का जन्म १३७४ ईस्वी के आसपास सम्भव मालूम होता है। गणेश्वर के दरबार में गणपति ठाकुर के जाने-आने की बात केवल जनश्रुति पर ही आधारित है। इसलिए गणेश्वर की मृत्यु के समय विद्यापति का होना प्रमाणित नहीं होता।

इब्राहीम शाह के सम्बन्ध में एक और भी ऐतिहासिक सत्य कीर्तिलता मे सुरक्षित है। कीर्तिलता में विद्यापति लिखते हैं कि कुमार कीर्तिसिंह और वीरसिंह के निवेदन पर राजा गणेश्वर के हत्यारे असलान को दण्ड देने के लिए इब्राहीम शाह की सेना तैयार हुई, किन्तु भाग्य की लेखा को कौन टारे, सेना सजी थी पूरब जाने के किए किन्तु चली पश्चिम।

पुब्बे सेना सज्जियउ पश्चिम हुअउ पयान
आण करइते आण भउं विहि चरित्त को जान (३।४८।४९)

तारीख-ए मुबारकशाही से पता चलता है कि १४०१ में ज्यों ही सुल्तान इब्राहीम शाह जौनपुर की गद्दी पर बैठा, दिल्ली के सुल्तान महमूद और उसके सेनापति इकबाल ने कन्नौज पर आक्रमण किया। इब्राहीम एक वृहद् सेना लेकर उसके साथ युद्ध करने गया। इसी घटना की ओर कीर्तिलता में संकेत किया गया है।[1] राजकुमारों की प्रार्थना पर इब्राहीम तिरहुत जाने को तैयार तो हुआ,

---

१ तारीख-ए-मुबारकशाही, डा० कमलकृष्ण बसु का अनुवाद, पृ० २६६-६७।

उपर्युक्त घटना के कारण उसे पश्चिम जाना पड़ा। लाचार दोनों भाई इब्राहीम शाह की सेना के साथ-साथ बहुत दिनों तक घूमते रहे। उनकी करुण अवस्था का अत्यन्त हृदय-विदारक चित्रण विद्यापति ने किया है। उनके पास न अन्न था, न वस्त्र, घोड़ों के लिए घास तक नहीं मिलती। शरीर सूखकर काँटा हो गया, वे गिन-गिन कर उपवास करने लगे। अपने नायकों की इस विपन्न अवस्था का चित्रण विद्यापति ने काल्पनिक करुणोत्पादन के लिए नहीं किया है बल्कि वह एक ऐतिहासिक सत्य है।

विद्यापति के काल-निर्णय के सिलसिले में अन्य प्रमाणों पर भी विचार करना चाहिए। विद्यापति के दो ऐसे पद मिलते हैं जो गियासउद्दीन आजमशाह और नशरत शाह को समर्पित किये गए हैं—

कविशेखर भन अवरुव रूप देखि
राए नसरत साह नेजलि कमलमुखि

डा० उमेश मिश्र ने लिखा है कि नसरतशाह प्रसद्धि नमीबशाह दिल्लीश्वर अलाउद्दीन हुसेनशाह के अठारहों पुत्रों में सबसे बड़े थे। ये बड़े योग्य थे और पिता के मरने पर सन् १५२१ ईस्वी में इन्हीं को राज्य मिला। इस नसरतशाह ने १५३० के लगभग तिरहुत पर चढाई की।[1] इस तर्क के आधार पर मेरी मान्यता के अनुसार विद्यापति की आयु १५५ वर्ष के आसपास होती है, जो बिलकुल असम्भव है। वस्तुतः यह नसरतशाह और कोई नहीं फिरोज तुगलक का पौत्र था, जिसने १३८४ ईस्वी से १३८८ ईस्वी तक शासन किया और विद्यापति के पद जो आरम्भिक अवस्था के लिखे गए थे, इसी नसरतशाह को समर्पित किये गए है।

१४११ ईस्वी में राजा शिवसिंह के सिंहासनारोहण पर विद्यापति ने अवहट्ट भाषा में एक छोटी-सी रचना की है, जिसकी पंक्तियाँ ये हैं—

अनल रंध्र कर लक्खन नरवए सक समुद्द कर अगिनि ससी
चैत करि छठि जेठा मिलिओ वार वेहप्पउ ए जाउलसी
विज्जावइ कविवर एहु गावइ मानव मन आनंद भएओं
सिंहासन सिविसंहि बइट्ठो उच्छवे वरस विसरि गएओं

२९३ लक्ष्मणाशब्द १३२४ शक के चैत मास की कृष्ण षष्ठी ज्येष्ठा नक्षत्र बृहस्पति को संध्याकाल में देवसिंह ने पृथ्वी छोड़कर सुरलोक प्रयाण किया

---

१. हिस्ट्री आव बंगाल, चार्ल्स स्टुअर्ट, भाग ४, पृ० १३८, विद्यापति ठाकुर पृ० ४६ पर उद्धृत।

और राजा शिवसिंह सिंहासन पर बैठे। शिवसिंह विद्यापति के सर्वप्रिय आश्रय-दाता थे, जिनके नाम के समर्पण के साथ कवि ने ढाई-सौ के आस-पास उच्च-कोटि के शृङ्गारिक पदों की रचना की। विद्यापति के द्वारा रचित एक पद में कहा गया है कि शिवसिंह के युद्धक्षेत्र से तिरोधान के बत्तीस वर्ष बाद विद्यापति ने एक स्वप्न में देखा और उन्हें अपनी मृत्यु का आभास होने लगा—

सपन देखल हम शिवसिंह भूप
बत्तीस बरस पर सामर रूप
बहुत देखल गुरुजन प्राचीन
अब भेलहूँ हम आयु विहीन

राजा शिवसिंह का तिरोधान १४१५ ईस्वी के आस-पास माना जाता है, ऐसी स्थिति में १४४७ ईस्वी के कुछ बाद विद्यापति की मृत्यु सम्भावित है। श्री शिव-नन्दन ठाकुर ने ब्रह्मवैवर्त पुराण के स्वप्न-फल के प्रकरण को मिलाकर यह प्रमाणित करने की कोशिश की है कि स्वप्न के आठ महीने बाद विद्यापति की मृत्यु हुई।[1] किन्तु नेपाल दरबार की लाइब्रेरी में सुरक्षित हलायुध मिश्र की पुस्तक ब्राह्मसर्वस्व की पाण्डुलिपि विद्यापति के एक शिष्य ने ३४१ लक्ष्मण-संवत् में की। पाण्डुलिपि के अन्त में कहा गया है कि लिपि के समय रूपधर विद्यापति के पास पढ़ रहा था।

सत्य तो यह है कि विद्यापति का जन्म-मृत्यु काल नाना प्रकार के सत्या-सत्य प्रमाणों के जाल से आच्छन्न है।

डा० विमानविहारी मजूमदार सभी प्रमाणों के अध्ययन के बाद निम्नलिखित निर्णय पर पहुँचे हैं—

१—१३८० ईस्वी के आसपास विद्यापति का जन्म।

२—१३८५-८६ ईस्वी के बीच पद लिखकर गियासउद्दीन और नसरत शाह का उत्सर्ग करना। १३८६-८७ ईस्वी के बाद जौनपुर के प्रथम सुलतान ने तिरहुत जीता। १३८७ के बाद नसरत खान के सुलतान पद पर दावा करने के पहले ये दोनों पद लिखे गये थे।

३—१४०० ईस्वी के आसपास नैमिषारण्य निवासी देवसिंह के आदेश से भूपरि-क्रमा की रचना।

४—१४०२-१४०४ ईस्वी के बीच इब्राहीम शाह द्वारा कीर्त्तिसिंह को मिथिला का सिंहासन प्रदान और उसी समय कीर्त्तिलता की रचना।

५—१४१० ईस्वी में विद्यापति के आदेश से 'काव्यप्रकाशविवेक' की पोथी की अनुलिपि। इस समय कवि अलंकार शास्त्र का अध्यापन करते थे। इसी

---

१ महाकवि विद्यापति, पृ० ३६ ३८

समय पुरुष परीक्षा की रचना और देवसिंह की मृत्यु के पहले अथवा पश्चात् कीर्तिपताका की रचना।

६—१४१०-१४१४ ईस्वी के बीच शिवसिंह के राज्यकाल में दो सौ पदों की रचना।

७—१४१८ ई० में द्रोणवार के अधिपति पुरादित्य के आश्रय में राजबनौली में लिखनावली की रचना।

८—१४२८ ईस्वी में इसी राजबनौली में विद्यापति द्वारा भागवत की अनुलिपि का समाप्त करना।

९—१४३०-४० ईस्वी के बीच पद्मसिंह और विश्वास देवी के नाम से एक पद की रचना और शैवसर्वस्वसार और गंगा-वाक्यावली की रचना।

१०—१४४०-६० ईस्वी के बीच विभागसागर, दान-वाक्यावली और दुर्गाभक्ति तरंगिणी की रचना।

११—१४६० ईस्वी में स्मृति के अध्यापक के रूप में ब्राह्मण सर्वस्व का अध्ययन।

इस दिशा में 'सर्च रिपोर्ट' के अनुशीलन के समय मुझे लखनसेनि कवि की कुछ पंक्तियाँ दिखाई पड़ी। लखनसेनि कवि का रचना-काल १४८१ सम्वत् दिया हुआ है, यानी १४२४ ईस्वी। रचनाकार जौनपुर के बादशाह इब्राहीम शाह का समकालीन है, और उसने बादशाह के प्रताप की प्रशंसा भी की है, यही नहीं तत्कालीन भारत की अवस्था का जो चित्र लखनसेनि ने खींचा है वह आश्चर्य-जनक रूप से विद्यापति के वर्णन से मेल खाता है।

> बादशाह जे बीराहिमसाहो, राज करइ महि मंडल माही
> आपुन महाबली पुहुमी धावै, जउनपुर मंह छत्र चलावै
> सम्बत चौदह सइ एक्यासी, लक्खनसेनि कवि तथा प्रगासी

'जउनपुर' के इब्राहीम शाह का काल १४२४ ईस्वी तक तो था ही। इसी के साथ लक्खनसेनि कुछ और महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों का जिक्र करता है—

> जैदेव चले सर्ग की बाटा, और गए घाघ सुरपति भाटा
> नगर नरिन्द्र जो गए उनारी, विद्यापति कइ गए लाचारी

इन पंक्तियों से लगता है कि १४२४ ईस्वी तक विद्यापति का शायद स्वर्गवास हो गया था क्योंकि उनका नाम जयदेव और घाघ के साथ ही कवि ने लिया है और जयदेव को तो स्पष्ट ही 'स्वर्ग की बाट गए', लिखा है। किन्तु इस तिथि-काल को विद्यापति का अन्तिम समय मानने में कठिनाई दिखाई पड़ती है। फिर भी यह एक विचारणीय सवाल तो है ही। वैसे कहा जाता है विद्यापति ने लक्ष्मण सम्वत् २९९ यानी १४१८ ईस्वी में राजा पौरादित्य के समय में

'लिखनावली' का निर्माण किया और यहीं ३०९ लक्ष्मण सम्वत् यानी १४२८ ईस्वी में भागवत की एक प्रति लिखना समाप्त किया। यहाँ ईस्वी सन् को १११९ जोडकर निश्चित किया गया है। और इस तरह लखनसेनि का १४२४ वाला काल ठीक नहीं बैठता। विद्वानों ने इस दिशा में कई प्रकार के प्रमाणों के आधार पर विचार किया है, इसी दिशा में मैं एक प्रमाण लखनसेनि का भी प्रस्तुत करता हूँ, अस्तु।[1]

•

---

१. लखनसेनि की रचना हरिचरित्र विराट पर्व का वर्णन १९४४-४६ की सर्च रिपोर्ट (नागरी प्रचारिणी सभा, अप्रकाशित) में दिया हुआ है। रिपोर्ट का अंश नागरी प्रचारिणी पत्रिका में छपा भी है

३ जीवन-वृत्त

जैसा कि कवि के काल-निर्णय के सिलसिले मे मैंने निवेदन किया है कि विद्यापति के जीवन-वृत्त का पता देने वाली ऐतिहासिक सामग्री का अभाव है। जो कुछ सामग्री प्राप्त होती है वह उनके जीवन से सम्बद्ध एकाध घटनाओं के विषय के यत्किंचित् प्रकाश डालने में ही सक्षम है। ऐसी अवस्था में कवि के जीवन-वृत्त का विवरण केवल उनकी रचनाओं में वर्णित वस्तु-तत्त्व तथा उनके परि-पार्श्व में अभिव्यक्त भावों के भीतर निहित वैयक्तिक संकेतों तक ही सीमित हो सकता है। अर्थात् हम यत्किंचित् प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री के प्रकाश में उनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ मोटी धारणाएं बनाकर उनकी पुष्टि के लिए रचनाओ से कुछ अन्तःसाक्ष्य ढूंढ सकते है। इस प्रकार का कार्य सदा ही खतरे से भरा होता है क्योंकि यह अनिवार्यतः सही नहीं है कि किसी कवि की रचनाओं मे अभिव्यक्त भाव-धारा और उसमें उपस्थित घात-प्रतिघात उसके जीवन का प्रतिफलन ही सूचित करें। यह सत्य है कि कवि का जीवन उसकी वैयक्तिक परिस्थितियों मे प्रभावित होता है और वह चाहकर भी अपनी वर्ण्य-वस्तु को उन प्रभावशाली प्रभावों से अलग नहीं कर पाता; किन्तु वर्ण्यवस्तु के साथ संलग्न भावों के आधार पर कवि के जीवन-वृत्त के निर्माण का कार्य सदा आनु-मानिक ही कहा जायगा। प्रसिद्ध कवियों के जीवन के साथ किंवदन्तियों का घटाटोप भी कम नहीं होता। लोकप्रियता सदा ही लोकमानस की रंगीन कल्प-नाओं से अभिषिक्त हुआ करती है। जनता से पास अपने प्रिय व्यक्ति के लिए प्रतिदान मे समर्पित करने के लिए केवल कल्पना के सुमन होते हैं। इसी कारण जो व्यक्ति जितना ही अधिक लोकप्रिय होता है उसके व्यक्तित्व के चारों ओर निजंधरी कथाओं का जाल भी उतना ही सघन होता है। विद्यापति का जीवन-वृत्त भी इसी प्रकार की रंगीन कथाओं से आच्छन्न है। निजंधरी कथाएँ सर्वथा निर्मूल भी नहीं होती। निजंधरी (Legend) का अर्थ ही है जनता के भावों से अलंकृत ऐतिहासिक सामग्री (Folk-embroiderd from historical mate-rial) यह अलंकरण जितना ही अधिक घना होता है; ऐतिहासिक सामग्री का रूप उतना ही धूमिल। इस कारण निजंधरी कथाओं के पेट में से सत्यांश को निकल पाना बहुत कठिन होता है; किन्तु यह असम्भव नहीं है।

विद्यापति का जन्म मिथिला के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ। १४वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का वह काल मिथिला के लिए विनिपात और दुःख का काल था मिथिला नरेश गणेश्वर की नामक सुलतान ने २५२

मे छलपूर्वक हत्या कर दी थी । राजा की मृत्यु के बाद देश में भयंकर अराजकता छा गई। विजेता के अत्याचार से पीड़ित जनता न केवल दारिद्रय का शिकार हुई बल्कि सांस्कृतिक पतन का । विद्यापति ने बड़े शोक भरे शब्दों में लिखा है कि मिथिला में कोई गुण अवशिष्ट नहीं रहा, कवि लोग भिखारी बनकर मारे-मारे फिरते रहे। कीर्त्तिलता में उन्होंने तत्कालीन मिथिला की अवस्था का इतना कारुणिक चित्रण उपस्थित किया है वह न केवल हृदय-द्रावक बल्कि भयोत्पादक भी है। इन परिस्थिति को देखते हुए यह अनुमान करना निराधार न होगा कि कवि का कैशोर दु:खपूर्ण परिस्थितियों की छाया मे व्यतीत हुआ । विद्यापति का वंश सदैव से विद्या और वैभव का स्वामी रहा है । उनके पूर्वज कर्मादित्य, देवादित्य आदि न केवल प्रसिद्ध विद्वान् बल्कि अपने समय के उच्च शासनाधिकारी भी थे । विद्यापति ने अपने इतने सम्भ्रान्त और प्रसिद्ध वंश के किसी व्यक्ति का उल्लेख नहीं किया है । इस आधार पर डा० विमानविहारी मजूमदार ने यह अनुमान किया कि कवि ने शायद अपेक्षाकृत निम्न परिस्थितियों में रहने के कारण अपने परिवार के व्यक्तियों का उल्लेख नहीं किया । उन्होंने लिखा है कि "आत्मसम्मान के विषय में सचेतन अपेक्षाकृत दरिद्र बुद्धिजीवी व्यक्ति अपने सम्बन्धी बड़े लोगों का परिचय नहीं देना चाहते हैं, क्या इसीलिए विद्यापति ने कहीं भी, किसी ग्रन्थ अथवा पद में, देवादित्य, वीरेश्वर, गणेश्वर, चण्डेश्वर, गोविन्द दत्त, रामदत्त प्रभृति ख्यातिमान एवं प्रभूत ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों के साथ अपने सम्बन्ध की कोई बात नहीं लिखी है।"[1] डा० मजूमदार स्वयं ही यह प्रश्न शका के रूप में ही उठाते है इसलिए इसके विरोध की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती । वैसे यह कथन पूर्णत: निराधार है क्योंकि विद्यापति का पूरा जीवन दु ख और दारिद्रय में नहीं व्यतीत हुआ । और न तो वे अपने सम्भ्रान्त वंश के लिए किसी भी प्रकार असम्मान के कारण ही हो सकते थे । वस्तुत: यह भारतीय कवियों की एक अद्भुत शालीनता रही है कि उन्होंने कभी अपने को प्रचारित करने का प्रयत्न नहीं किया । वैसे यह सत्य भी मान लिया जाय कि विद्यापति का जीवन बहुत कष्टमय था और उन्होंने अपनी स्थिति के प्रति आत्म-ग्लानि के भाव के कारण ही अपने पूर्वजों का नाम लेना उचित नहीं माना तो भी सरस्वती के दुर्लालित पुत्र की अभूतपूर्व ख्याति में कोई फर्क नहीं आता ।

गणेश्वर राजा की मृत्यु के बाद विद्यापति बहुत दिनों तक निराश्रित घूमते रहे । राजकुमार कीर्तिसिंह जो वय में विद्यापति के बराबर ही थे अपने खोये हुए राज्य को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील थे, किन्तु वे इस स्थिति में नही थे कि कवि को आश्रय दे पाते। विद्यापति इन्हीं दिनों इधर-उधर घूमते हुए नसरतशाह और आजमशाह जैसे राजपुरुषों के सम्पर्क में आये । कवि ने अपने कई पदों में कवि भणिता के साथ इन लोगों के नाम लिए हैं । उदाहरण के लिए—

१ विद्यापति—डा० विमानविहारी मजूमदार द्वारा सम्पादित भूमिका पृ० ७।

कविशेखर भन अपरुब रूप देखि
राय नसरत साह भजलि कमलमुखि

अथवा :

भनइ असोधर नव कवि शेखर
पुहवी तेसर कहाँ
साह हुसेन भृंग सम नागर
मालति सेनिक जहाँ

एक पद में उन्होंने ग्यासदीन का भी नाम लिया है—

वेकताओ चोर गुपुत करि कत खनि
विद्यापति कवि भान
महलम जुगपति चिरे जीवे जीवथु
ग्यासदीन सुरतान

ग्यासदीन सुरतान अर्थात् गियास-उद्दीन आज़मशाह ने अपने पिता सिकन्दर शाह से विद्रोह करके ७९३ हिजरी में बंगाल पर अधिकार कर लिया। यदुनाथ सरकार इनका शासन काल ईस्वी सन् १३८९ से १४०९ तक बताते हैं।[1] विद्यापति ने कीर्त्तिकला में इब्राहीम शाह द्वारा तिरहुत के उद्धार की बात लिखी है। इब्राहीम शाह १४०३ में गद्दी पर बैठा। ऐसी स्थिति में विद्यापति से आज़म शाह या ग्यासउद्दीन की भेंट तब तक हुई होगी जब कीर्त्तिसिंह का अभिषेक नहीं हुआ था। नसरतशाह के विषय में हम पीछे विचार कर चुके हैं। जो हो विद्यापति जैसे संस्कारी ब्राह्मण कवि के द्वारा कविताओं का विदेशी मुसलमान-शासकों को, जिनके प्रति उनके मन में आदर का भाव न था जैसा कि कीर्तिलता मे उन्होंने स्पष्ट व्यक्त किया है, इन रचनाओं का समर्पित किया जाना इस बात का द्योतक है कि कवि की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। उन्हें अपने तमाम संस्कारों को दबाकर विवशता की हालत में विदेशी शासकों के प्रति श्रद्धा व्यक्त करनी पड़ी।

ईस्वी सन् १४०२-३ में जौनपुर के शासक इब्राहीम शाह की सहायता से तिरहुत का उद्धार हुआ। कीर्त्तिसिंह ने जौनपुर जाकर सुलतान से सहायता माँगी। कीर्त्तिलता में कवि ने जौनपुर का बड़ा विशद वर्णन प्रस्तुत किया है। वहाँ के बाजारों, सड़कों, अट्टालिकाओं तथा टेढ़े-मेढ़े रास्तों का इतना बारीक वर्णन शायद चाक्षुष प्रत्यक्ष किना संभव नहीं हो सकता। कवि ने राजमहल के वर्णन में मुसलमानी भवन-निर्माण शैली की जानकारी का परिचय भी दिया है।

---

१ History of Bengal Vol II Page 116

लगता है कि उन्होंने यह सब कुछ अपनी आँखो से देखा है अन्यथा एक-एक वस्तु का इतना सूक्ष्म चित्रण कठिन होता। उदाहरण के लिए उन्होंने राजमहल का वर्णन करते वक्त केवल उसकी भव्यता का जिक्र ही नहीं किया है बल्कि चहार-दीवारी, सदरदर वारिगाह, पोआरगाह, दरबारेखास, आदि हिस्सों का अलग-अलग और सिलसिलेवार विवरण प्रस्तुत किया है। इससे अनुमान होता है कवि कीर्तिसिंह और उनके भाई वीरसिंह के साथ जौनपुर गए थे। उन्हें बहुत दिनों तक सुलतान के दर्शन की प्रतीक्षा में वहाँ रुकना पड़ा था। विद्यापति ने लिखा है कि सैकड़ों राजे-महराजे दर्शन की आकांक्षा से आते और किले के सामने वर्षों घूमते रहते, पर दर्शन न मिलता। कीर्तिसिंह ने सुलतान को जाने कितनी अमूल्य वस्तुएँ भेंट में दी तब कहीं खुदावन्द सुलतान प्रसन्न हुए और वजीर की कृपा से भेट की व्यवस्था हुई। कीर्तिलता की भाषा में न केवल फारसी शब्दों का प्रयोग हुआ है बल्कि अवधी भाषा के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। इससे लगता है कि विद्यापति जौनपुर अवश्य आये थे। खैर, कीर्तिसिंह का प्रयत्न सफल हुआ। अस-लान युद्ध-भूमि में पीठ दिखाकर भाग खड़ा हुआ। तिरहुत को लुप्त वैभव फिर मिला, राजा के अभिषेक के समय वाद्य-गीत के स्वरों में विद्यापति ने भी अपने हृदय का उल्लास बिखेर दिया: कीर्तिसिंह के प्रेम-प्रसंगों को लेकर बाद में कवि ने कीर्ति-पताका की रचना की।

ईस्वी सन् १४१० से १४११ के चार वर्ष कवि विद्यापति के जीवन के सर्वाधिक उल्लासपूर्ण वर्ष थे। वर्षों की अशान्ति के बाद एक बार फिर मिथिला में शान्ति और समृद्धि की स्थापना हुई। शिवसिंह राजा थे और लखिमा देवी रानी। विद्यापति को राजा शिवसिंह के द्वारा जो सम्मान प्राप्त हुआ वह अभूतपूर्व था। मैंने पहले ही निवेदन किया है कि विद्यापति दरबारी कवि थे पर अपनी तरह के। उन्होंने राजा की प्रशस्ति गाई; पर अपने को चारण नहीं राज-सखा समझा। कीर्तिसिंह के प्रसंग में उन्होंने अपने को उनका 'खेलन कवि' बताया है। शिवसिंह के वे सखा कवि थे। शिवसिंह की कई रानियाँ थीं; पर लखिमा के सौंदर्य और बुद्धि का कोई जवाब नहीं था। लखिमा पटरानी थी, वह विदुषी थी, सुन्दरी थी और कवयित्री भी थी। कहा जाता है कि अन्तः-महल में विद्यापति के गीतों का राजा-रानी के समक्ष सस्वर पाठ होता था। विद्यापति ने समवयस्क राजा और रानी को जो गीत समर्पित किये हैं वे प्राय. राधाकृष्ण के प्रेम, रूपासक्ति, मान और कामकला के विविध पक्षों को स्पष्ट करने वाले हैं। ऐसे गीतों को देखने से मालूम होता है कि कवि का जीवन बहुत सुखी और उल्लासपूर्ण था। मैंने आरंभ में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि मध्य-कालीन लेखकों पर, खासतौर में दरबारी कवियों पर कामशास्त्र का बहुत घनिष्ट प्रभाव पड़ रहा था विद्यापति ने इस प्रकार के शृङ्गारिक पदो के अन्त में कवि भणिता के साथ शिवसिंह के बारे में जो प्रशस्ति वाक्य दिये हैं वे उनकी काम-

कला विदग्धता को प्रकट करते हैं। वे सर्वत्र लिखते हैं कि इस गूढ़ रहस्य को लखिमा के साथ रमण करने वाले राजा शिवसिंह समझते हैं। ऐसे प्रसंगों को देखने से अनुमान किया जा सकता है कि विद्यापति शिवसिंह के न केवल मित्र बल्कि अन्तरंग थे। शिवसिंह के प्रति जितने आन्तरिक प्रेम का परिचय इन गीतों में ध्वनित है, वह अपने तरह का है। ऐसा प्रेम शायद ही किसी दरबारी कवि को किसी राजा से प्राप्त हुआ हो। यह विद्यापति के सर्वाधिक उल्लास के दिन थे।

पर समय सदा एक सा नही रहता। विद्यापति के आनन्द की अतिशयता पर नियति की भृकुटि खिंच चुकी थी। राजा ने दिल्ली को कर देना बन्द कर दिया, मुसलमानी फ़ौज ने मिथिला को बरबाद कर दिया और शिवसिंह कैद करके दिल्ली ले जाए गए। संभवतः वहीं उनकी मृत्यु भी हुई। प्रिय राजा के वियोग ने कवि के हृदय के उल्लास-पूर्ण तारों को तोड़ दिया। प्रणय, मांसल सौंदर्य, काम-मुद्रायें, और प्रेम की रंगीन दुनिया टकराकर चूर-चूर हो गई। मिलन के मादक गीतों के स्थान पर विरह के उत्तप्त स्वर फूट पड़े। विरह के गीतों के पीछे छिपी इस करुण प्रेरणा को पहचानने का कोई आधार नही। लखिमा की अवस्था तो और भी अधिक शोचनीय रही होगी। मैंने प्रथम अध्याय में लखिमा ठकुरानी के विरह गीत नाम से प्रसिद्ध श्लोको में से एक उद्धृत किया है। इस श्लोक में विरह की आर्त पीड़ा की बड़ी हृदय-द्राविक विवृत्ति दिखाई पड़ती है। विद्यापति ने अपने प्रिय राजा की विदुषी पत्नी को, जिसके प्रति उनके हृदय में भी प्रेम का मधुर भाव संयोजित था, सान्त्वना देने का बहुत प्रयत्न किया। विरह गीतों के अन्त में सर्वत्र कवि ने विरहिणी को यह आश्वासन दिया है। वे बार-बार कहते हैं कि कामिनी इतनी विह्वल न बन, तेरे प्रियतम अवश्य ही लौटकर आयेंगे। वर्षा के नील मेघों से आच्छन्न धरती को देखकर भरे हृदय से वे कहते हैं कि क्या हुआ यदि वह इस पावस में नहीं आया, कातिक मास के आरंभ में उसका आना तो निश्चित है। विरहिणी पति के वियोग मे जीवित चिता में प्रवेश करने की बात किया करती थी, कवि ने इसी को लक्ष्य करके कहा है :—

सूल सेज मोहि सालय रे
पिय बिनु घर मोयं आजि
बिनति करों सहलोलिनि रे
मोहि देहि अगिहर साजि
विद्यापति कवि गाओल रे
आनि मिलब प्रिय तोर
लखिमा देइ बर नागरि रे
राय सिब सिंह नहि ओर

क्या इस पद से यह ध्वनित नहीं है कि लखिमा शिवसिंह के दारुण विरह को सँभालने में असमर्थ अपने को नष्ट कर देने की बात सोचा करती थी, कवि ने स्पष्ट कहा है, ओ लखिमा, ओ श्रेष्ठ नागरिका, राजा शिवसिंह तुम्हें भूले नहीं हैं, वे शीघ्र ही लौटेंगे। एक दूसरे पद के अन्त में यही बातें फिर दुहराई गई हैं—

भनइ विद्यापति अरे रे कमलमुखि
गुन गाहक पिया तोर
राजा सिवसिंह रूप नरायन
सहज एको नहि भोर

अथवा :—

भनइ विद्यापति गाओल धनि धरइज धन रे
अचिरे मिलत तोहि बालम पुरत मनोरथ रे

पर मनोरथ न पुरा, मात्र शब्दों से झूठी सान्त्वना देने के मिथ्योपचार को विद्यापति खूब समझते थे। प्रिय-विश्लेष-दुःख की पीड़ा में अपने सुहाग के प्रति आशंकित विरहिणी को वे सर्वत्र सुहागिनी, कामिनी आदि सम्बोधन से सचेत करते हैं; पर सत्य उनके निकट छिपा न था। इसी कारण विरह के पदों में उनके मन की कातरता छिप न सकी। कवि ने बाद में अपने मन की झूठी बातों से भुलाना छोड़ दिया। हमें पता नहीं कि लखिमा का क्या हुआ। संभवतः प्रिय की विरह पीड़ा की उत्तप्त हवा में यह मुकुलित पुष्प सदा के लिए बिखर कर धूल में मिल गया। जब सान्त्वना चाहने वाला ही न रहा तो फिर आशा की मिथ्या रेखा ही क्यों खींची जाये, कवि ने निराश होकर कहा :—

हृदयक वेदन बान समान
आनक दुःख आन नहि जान
भनइ विद्यापति कवि जय राम
देव लिखल परिनत फल वाम

दैव-दुर्विपाक के सामने कवि ने घुटने टेक दिये। जो कुछ होना था हो गया आनन्द के क्षण सदा के लिए चले गए।

ईस्वी सन् १४१८ में विद्यापति ने पुरादित्य के राजत्व काल में राज-बनौली में लिखनावली की रचना की। लिखनावली में चिट्ठी-पत्री लिखने क. तरीका बताया गया है। प्रणय जिसके काव्य की प्रेरणा थी, सौन्दर्य उपादान अपरूप सौन्दर्य के नवल रूप को वर्षों देखते रहने पर भी जिस कवि के नयन कभी 'तिरपित' नहीं हुए, उसी ने चिट्ठी-पत्री लिखने वालों के लिए लिखना-

वली का निर्माण किया। लिखनावली की रचना स्पष्ट ही पेट पालने का बहाना है। इसके आधार पर यह कहा जाय कि कवि के जीवन का वह समय आर्थिक संकट में बीत रहा था, तो शायद अतिशय कल्पनाप्रियता का दोष लगाया जायेगा किन्तु यह कल्पना यहीं तक समाप्त नहीं होती। इसके पक्ष में एकाध प्रमाण और प्राप्त होते हैं। नेपाल-राज की लाइब्रेरी में लक्ष्मण-सम्वत् ३९१ की लिखी हुई, ब्राह्मणसर्वस्व की पाण्डुलिपि सुरक्षित है। इसे विद्यापति के शिष्य रूपधर ने तैयार किया था। हलायुध मिश्र के इस ग्रन्थ के अन्त में पुष्पिका मे लिखा है कि लिपिकरण के समय रूपधर विद्यापति के पास ब्राह्मण-सर्वस्व पढा करता था। जाहिर है कि कवि उन दिनों विद्यार्थियों को कर्मकाण्ड और स्मृति शास्त्र का अध्यापन किया करते थे। मैं नहीं सोचता कि यह उनके जीवन की सम्पन्नता का द्योतक है। विद्यापति जैसे अभिजात रुचि के कवि के लिए यह सब विवशता की अवस्था मे ही स्वीकार करना पड़ा होगा।

कष्ट की ऐसी ही परिणत अथवा शायद उनके मन में निराशावादी कातरता का उदय हुआ था। मैंने स्पष्ट कहा है कि यह कातरता कवि का स्वभाव नहीं थी। इस प्रकार की जीवन्त गत्वर और रोमेण्टिक विचारधारा का कवि कभी भी निराशावादी नहीं हो सकता। इसी अवस्था में उन्होंने शिव, दुर्गा, कृष्ण और जानकी आदि के स्तुति-पद भी लिखे। इन पदों में भक्ति की दीनता आत्मग्लानि की अभिव्यक्ति है, इसमें शक नहीं। किन्तु इसे हम चाह तो परम्परा-निर्वाह भी कह सकते हैं। इस प्रकार की दीनता प्रत्येक भक्त कवि की रचनाओं में दिखाई पड़ती है। तुलसी, सूर आदि कोई भी इस कातरता से बच न सका, क्योंकि यह कातरता भक्त के व्यक्तित्व की कमजोरी नहीं गुण मानी जाती थी।

विद्यापति की मृत्यु के विषय में भी कई प्रकार की किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कहा जाता कि उन्होंने शिवसिंह के तिरोधान के बत्तीसवें बरस में एक स्वप्न देखा और उन्हें अपनी मृत्यु नजदीक मालूम होने लगी। इस सम्बन्ध मे कालनिर्णय वाले प्रसंग में हमने विचार किया है। राजा शिवसिंह का तिरोधान काल १४१५ ईस्वी माना जाता है, ऐसी अवस्था में विद्यापति की मृत्यु-काल १४४७ ईस्वी माना जा सकता है, किन्तु जैसा कि काल-निर्णय वाले अध्याय मे बताया गया, यह संभव नही मालूम होता।

४ | रचनाएँ

विद्यापति ने संस्कृत, अपभ्रंश और भाषा या प्रारम्भिक मैथिली तीनों ही मे रचनाएँ कीं। संस्कृत में उन्होंने शास्त्रीय या स्तुतिपरक रचनाएँ लिखी। सस्कृत उस काल में केवल थोड़े से शिष्ट जनों की भाषा रह गई थी। विद्यापति ने संस्कृत को बुधजन की भाषा बताया है। उन्होंने लिखा है कि संस्कृत रस के मर्म को नहीं छूती। देशी भाषा सबसे मीठी है इसीलिए उसी के समान अवहट्ट मे कीर्तिलता काव्य लिख रहा हूँ—

सक्कय बाणी बुहजन भावइ
पाउँअ रस को मम्म न पावइ
देसिल बयना सब जन मिट्ठा
तँ तैसन जम्पओं अवहट्ठा

इससे स्पष्ट है कि उनके मन में देशी भाषा के प्रति बहुत प्रेम था। उन्होने संस्कृत में या अवहट्ट में काव्य केवल तत्कालीन परम्परा के निर्वाह के लिए ही लिखा। अवहट्ट में राजा और सामन्तों के युद्ध और प्रेम प्रसंगों का वर्णन की पद्धति चल पड़ी थी, उस पद्धति का निर्वाह उन्होंने कीर्तिलता और कीर्तिपताका-लिखकर किया। संस्कृत भाषा पर उनका अद्भुत अधिकार था, किन्तु उनकी संस्कृत रचनाओं का महत्व राजनैतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से ही आँका जा सकता है, शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से नहीं। इसीलिए हमने संस्कृत रचनाओं का नामोल्लेख मात्र ही किया है, उनका साहित्यिक मूल्यांकन नहीं। अवहट्ट-काव्य का अवश्य ही अपना एक अलग महत्त्व है। इसके विषय में अवहट्ट-काव्य शीर्षक अध्याय में अलग से विचार किया गया है।

विद्यापति की रचनाएँ :—

(१) कीर्तिकला—कीर्तिसिंह के शासन-काल में उनके राज्य-प्राप्ति के प्रयत्नों पर लिखित।
(२) कीर्तिपताका—कीर्तिसिंह के प्रेम-प्रसंगों पर आधारित।
(३) भू-परिक्रमा—शिवसिंह की आज्ञा से लिखित भूगोल सम्बन्धी-ग्रन्थ
४ पुरुष-परीक्षा—शिवसिंह की आज्ञा से रचित दण्डनीति-विषयक

इसे कवि ने अल्प पठित लोगों को चिट्ठी-पत्री लिखना सिखलाने के लिए लिखा।

(६) शैवसर्वस्वसार—विश्वासदेवी की आज्ञा से, शैव सिद्धान्त विषयक।
(७) गंगावाक्यावली—विश्वासदेवी की आज्ञा से लिखित।
(८) विभागसार—नरसिंह की आज्ञा से रचित।
(९) दानवाक्यावली—धीरमति की संरक्षता में लिखिए।
(१०) दुर्गाभक्ति तरंगिणी—धीरसिंह की आज्ञा से।

विद्यापति का यश उपर्युक्त रचनाओं पर आधारित नहीं है। जैसा कि निवेदन किया गया, वे रचनाएँ एक खास उद्देश्य से किसी-न-किसी राजा या रानी के प्रीत्यर्थ लिखी गईं। इनमें कवि वैयक्तिक कर्त्तव्य उत्तरदायित्व और आश्रयदाता राजा की आज्ञा का पालन प्रमुख है उनके हृदय के भाव या अनुभूतियाँ नहीं। इन रचनाओं के अतिरिक्त विद्यापति ने ५०० से अधिक पद लिखे हैं। ये पद ही उनकी अक्षय कीर्ति के आधार हैं। राजदरबार के दमघोट वातावरण में रहते हुए भी उन्होंने इन्हीं पदों के सहारे अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखा है। इन पदों में कवि की आत्मा के स्वर हैं, उनके हृदय के कंपन हैं। इन पदों में कवि ने राजाओं के विलास की नहीं, जनता के सहज हृदय की भावनाओं की अभिव्यक्ति की है। पदावली के पद कई राजा-नवाबों को समर्पित हुए हैं। इनमें देवीसिंह, शिवसिंह और लखिमा, पद्मसिंह और विश्वासदेवी, शिवसिंह के चचेरे भाई अर्जुन और अमर, राघवसिंह, रुद्रसिंह, नरसिंह और धीरमति तथा शिवसिंह के चचेरे भाइयों के लड़के धीरसिंह, भैरवसिंह तथा चन्द्रसिंह आदि के नाम आते हैं।

५ | पदावली के विभिन्न पाठ

विद्यापति के पदों के संकलन का कार्य बहुत पहले से होता आ रहा है। इतने ख्यातिप्राप्त कवि के इन मधुर पदों को प्रत्येक मनुष्य अपनी सम्पत्ति समझता है, इसी कारण कवि के समय से आज तक जाने कितने व्यक्तियों ने इन पदों को अपने उपयोग के लिए संगृहीत किया होगा। किन्तु इस प्रकार के संग्रह लोकप्रियता की सूचना ही देते हैं, रचनाओं की प्रामाणिकता की नहीं। रचनाओं की प्रामाणिकता केवल पाठ-विशेषज्ञों द्वारा प्रयत्नपूर्वक सम्पादित-संग्रह से ही प्रकट हो सकती है। विद्यापति के पदों का संग्रह जार्ज अब्राहम, ग्रियर्सन, चन्दा झा, नगेन्द्रनाथ गुप्त, रामवृक्ष बेनीपुरी, आदि ने किया है। इन संग्रहों में केवल आकर पोथियों का ही उपयोग नहीं किया गया बल्कि जन-मुख के सुने हुए पदों को भी सकलित कर लिया गया। परिणामतः ये संकलन विद्यापति के पदों की बढ़ती हुई संख्या को सूचित करते हैं, किन्तु वे कितने प्रामाणिक है यह जानना कठिन हो जाता है।

विद्यापति के पदों के हस्तलिखित संग्रह मिथिला, नेपाल और बंगाल मे सुरक्षित है। मिथिला की पोथियों में शिवनन्दन ठाकुर द्वारा प्राप्त रामभद्रपुर की पांडुलिपि, राग-तरंगिणी तथा तरौणी की ताल-पत्र पोथी-प्रमुख है। राग-तरंगिणी लोचन कवि की कृति है जिसमें यथावसर विद्यापति के ५१ पद सकलित हैं। यह ग्रन्थ लोचन कवि ने सत्रहवीं शताब्दी में महीनाथ ठाकुर के राजत्वकाल में लिखा था, क्योंकि उन्होंने ग्रन्थ में एक स्थान पर स्पष्ट लिखा है—

धीरश्री महिनाथ भूप तिलकः शास्तेऽधुना मैथिलान्

(मंगलाचरण षष्ठ श्लोक)

सातवें श्लोक को देखने से मालूम होता है कि इन ग्रन्थ की रचना कवि ने महीनाथ के छोटे भाई नरपति की आज्ञा से की।

इस प्रकार राग-तरंगिणी की प्रति बहुत पुरानी नहीं है। यह विद्यापति की मृत्यु के ढाई सौ वर्ष बाद लिखी गयी है। लेखक ने कवि के इन ५१ पदों को कहाँ से संकलित किया है इसकी कोई सूचना नहीं मिलती। राग-तरंगिणी के ५१ पदों में से तीन में विद्यापति का नाम नहीं आता किन्तु उनके नीचे कवि लोचन ने 'इति विद्यापति' लिखा है। जिससे मालूम होता है कि वे पद विद्यापति के

ही हैं। दो पदों में कवि के नाम के स्थान पर 'कण्ठहार' भणिता दी हुई है जो उनकी एक उपाधि थी।

मिथिला की दूसरी पोथी रामभद्रपुर की है जिसे शिवनन्दन ठाकुर ने प्राप्त किया था। यह पोथी मूलतः पंडित विष्णु लाल झा को मिली थी जिन्होंने ठाकुर को इसकी प्राप्ति की सूचना दी। ठाकुर ने इस पोथी से पदो को उतारकर 'विद्यापति विशुद्ध पदावली' शीर्षक से अपनी पुस्तक महाकवि विद्यापति में प्रकाशित किया। यह पाण्डुलिपि काफी पुरानी है, इसमें सन्देह नहीं। तालपत्रों पर लिखी इस पोथी में चार लिपिकारों के हस्ताक्षर हैं। सभी तालपत्र भी एक जैसे पुराने नहीं मालूम होते। डा० विमान बिहारी मजूमदार का अनुमान है कि कोई अक्षर अथवा तालपत्र दो सौ वर्षों से कम का नहीं है। इन पोथी में ३५ पत्र संलग्न हैं, शेष नष्ट हो गए हैं। उपलब्ध पदों की संख्या ८६ है जिसमें ८६ पदो को स्व० शिवनन्दन ठाकुर ने प्रकाशित कराया था।

मिथिला की तीसरी पोथी तरौणी की तालपत्र पोथी कही जाती है। यह पोथी अब प्राप्त नहीं होती इसलिए इसके विवरण आदि के लिए श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त की सूचनाओं पर ही अवलम्बित होना पडता है। उन्होंने लिखा है कि इस पोथी में प्रायः ३५० पद थे जिन्हें उन्होंने अपने संस्करण में प्रकाशित किया था।

नेपाल में प्राप्त होने वाली पोथी नेपाल सरकार की लायब्रेरी में सुरक्षित है। स्व० काशीप्रसाद जायसवाल और डा० अनन्त प्रसाद बन्द्योपाध्याय ने दरभंगा नरेश की आज्ञा से इसकी फोटो कापी तैयार की थी। इस फोटो कापी का प्रथम खंड पटना कालेज लाइब्रेरी में और दूसरा पटना विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी में सुरक्षित है।

नेपाल पोथी की लिपि प्राचीन मैथिली है। इस पोथी में पदों की संख्या २८७ है।

बंगाल में विद्यापति के पद बहुत लोकप्रिय रहे हैं। गौडीय वैष्णव भक्तों ने विद्यापति के गीतों को बड़ी सावधानी से सुरक्षित किया है। सबसे प्राचीन पोथी 'क्षणदागीत चिन्तामणि' है जिसे विश्वनाथ चक्रवर्ती ने ईस्वी सन् १७०५ के आसपास तैयार किया।

बंगाल में तैयार की गई दूसरी पोथी पदामृतसमुद्र है जिसके संकलन कर्ता राधामोहन ठाकुर हैं। अनुमानतः अट्ठारहवीं शताब्दी में इन्होंने इस ग्रंथ का संकलन किया। इसमें कुल ७०६ पद हैं जिनमें उनके स्वरचित पदों की संख्या २२८ और गोविन्द दास के पद संकलित हैं। इस संकलन में संगृहीत विद्यापति के पदों पर बँगला का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। उच्चारण के कारण तो परिवर्तन हुआ ही है, मैथिली के प्रयोगों के स्थान पर बँगला प्रयोग दिए गए हैं जिससे भाषा में बहुत अन्तर आ गया है

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गोकुलानन्द सेन अर्थात् वैष्णवदास ने पद कल्पतरु का संकलन किया। वैष्णव पदावली के सभी संग्रहों में यह बृहत्तम है। कुल ३१०१ पद हैं। इसमें विद्यापति के १६१ पद हैं। डा० विमान बिहारी का ख्याल है कि इस संग्रह में संकलित विद्यापति भणिता से युक्त सभी पद मैथिली कवि विद्यापति की ही रचनायें नहीं हैं।

देशबन्धु चितरंजन दास के पास सकीर्तनामृत की पोथी उपलब्ध थी। इस संग्रह को १७७१ ईस्वी में दीनबन्धु दास ने तैयार किया था। इसमें चालीस कवियों के ४८१ पदों का संग्रह है। इसमें विद्यापति के रचे हुए केवल दस पद हैं।

विद्यापति के पदों से संबद्ध इन विविध बातों की प्रामाणिकता पर विचार करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध है, उसके आधार पर डा० विमान मजूमदार ने अपनी पुस्तक 'विद्यापति' में तथा डा० सुभद्र झा ने सांग्स ऑव् विद्यापति में विस्तार से विचार किया है।

●

६ | जीवन-दृष्टि और धार्मिक मान्यताएँ

कोई भी कवि या लेखक अपने वातावरण से अलग होकर नहीं जीता। वातावरण कवि के जीवन को, उसके व्यक्तित्व को परोक्ष और अपरोक्ष दोनों ही रूपों में कई प्रकार से प्रभावित करता रहता है। यह सत्य है कि कवि केवल वातावरण की उत्पत्ति नहीं है, वरन् वह सांस्कृतिक और सामाजिक दोनों प्रकार के वातावरण का निर्माता भी है। किन्तु निर्माण की यह शक्ति, या उसे बदलने की यह क्षमता भी कवि को उसी से प्राप्त होती है। देश-काल की सांस्कृतिक स्थिति किसी कवि के काव्य को प्रभावित करने में समर्थ होती है। श्री हिपोलाइत टेन ने लिखा है कि काल और देश कवि के निर्माण में निर्णायक तत्व माने जाते हैं। टेन के विचारों को ही आगे चलकर समाजशास्त्री आलोचकों ने बहुत विकसित किया। फ्रांसीसी आलोचक वातावरण के इस पूरे प्रभाव को व्यक्त करने के लिए 'मिलियू' (Milieu) शब्द का प्रयोग करते हैं ? वातावरण के सम्यक् अध्ययन के अभाव में हम कभी-कभी किसी कवि के काव्य के अन्तः साक्ष्यो के आधार पर या कभी-कभी केवल अनुमान के बल पर उसकी जीवन-दृष्टि तथा धार्मिक मान्यताओं आदि के बारे में नाना प्रकार के विवाद उपस्थित कर देते हैं। कवि विद्यापति के विषय में भी इसी प्रकार के विवाद चलते हैं। विद्यापति भक्त थे या शृङ्गारिक, शैव थे या शाक्त, रहस्यवादी थे या मात्र लौकिक, आदि-आदि। इन सभी प्रश्नों का उत्तर विद्यापति के समय की सांस्कृतिक और धार्मिक अवस्थाओं के अध्ययन तथा कवि की जीवन-दृष्टि के विश्लेषण के आधार पर ही दिया जा सकता है।

विद्यापति को बहुत से आलोचक रहस्यवादी कवि मानते हैं। जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने विद्यापति के काव्य के अन्तःस्रोतों का विचार करके यह निश्चित किया कि "राधा और कृष्ण वस्तुतः प्रतीक हैं। राजा जीवात्मा के मिलन के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। यह प्रयत्न तब तक अप्रतिहत रूप से चलता रहता है जब तक जीवात्मा परमात्मा में लय होकर सायुज्यलाभ नहीं कर लेता। जीवात्मा अपने सांसारिक प्रपंचों और माया के पक्षों में से इस प्रकार आबद्ध है कि वह अपनी आन्तरिक प्रेरणा से परमात्मा की प्राप्ति करने के लिए प्रयत्न नहीं करता। इसीलिए उसे ईशोन्मुख करने के लिए गुरु की आवश्यकता होती है। विद्यापति के काव्य में दूती गुरु का प्रतीक है। वह दूती जीवात्मा या प्रमिका को निरन्तर से मिलने के लिए प्रेरित करती है इतना ही

करती है।"[१] श्री नगेन्द्र नाथ गुप्त ने, जिन्होंने विद्यापति के पदों को एकत्र संगृहीत किया, अपने एक भाषण में विद्यापति को रहस्यवादी बताया।[2]

श्री जनार्दन मिश्र ने भी विद्यापति को रहस्यवादी बताया है। उन्होंने लिखा है कि '**विद्यापति के समय में रहस्यवाद का मत जोरों पर था, उसके प्रभाव से बचकर निकलना और किसी अधिक निष्कंटक मार्ग का अनुसरण करना उन्हें शायद अभीष्ट न था। अथवा अभीष्ट होने पर भी तुलसीदास की तरह अपने वातावरण के विरुद्ध जाने की शक्ति उनमें न थी। इसीलिए स्त्री और पुरुष के रूप में जीवात्मा की उपासना की जो धारा उमड़ रही थी उससे उन्होंने अपने को बहा दिया।**[3] श्री जनार्दन मिश्र ने अपने मत की पुष्टि के लिए जिस पद को उद्धृत किया है उसे भी देख लेना चाहिए। वह पद नीचे दिया जाता है—

एक दिन छलि नवनीत रे
जल मिन जेहन पिरीत रे
एकहि वचन विच भेल रे
हंसि पहु उतरो न देल रे
एकहि पलंग पर कान्ह रे
मोर लेख दूर देस भान रे

इस पद में जीवात्मा के अहंकार तथा बाद में उसकी ग्लानि का चित्रण है। पलंग शरीर है—जहाँ आत्मा के रूप में परमात्मा निरन्तर हृदय में निवास करता है; किन्तु अज्ञान के पड़े जीव के लिए वह जाने कितनी दूर है।

श्री कुमारस्वामी भी विद्यापति के पदों में रहस्यवादी भावों का प्रभाव देखते हैं। 'सांग्स आव विद्यापति' में श्री कुमारस्वामी ने लिखा[४] कि विद्यापति का

---

१. Grierson, Maithili Crestomathy, Page 36.

२. **पटना विश्वविद्यालय में १६३५ ई० में विद्यापति पर दिये गए भाषण से।**

३. **विद्यापति, पृ० ४७।**

४. Vidyapati is roses, roses all the way, is a Bower of Bliss there we have the early paradise as it were of an Indian William Morris—Jamuna bank in Vaishnava literature stands for this world regarded the constant meeting place of Radha and Krishna where amidst the affairs of daily life the soul is arrested, deguiled to her undoing in the flute of Krishna there is call of Infinite

काव्य गुलाब है, गुलाब। चारों तरफ से केवल गुलाब। यह आनन्द-निकुंज है। यहां हमें उस स्वर्ग का दर्शन होता है—वृन्दावन की कृष्णलीला शाश्वत है। वृन्दावन मनुष्य का हृदय देश है। यमुना का किनारा इस संसार का प्रतीक है जो राधा और कृष्ण अर्थात् जीव और ईश्वर की लीला-भूमि है। वंशी की आवाज अदृश्य सत्ता की आवाज है, जीव को परमात्मा की ओर अग्रसर होने का आह्वान है।

कुमारस्वामी के मतों का जोरदार विरोध करते हुए भी विनयकुमार सरकार ने अपनी पुस्तक 'लव इन हिन्दू लिटरेचर' में लिखा कि कुमारस्वामी जैसे विद्वान् दार्शनिक, कवि, आलोचक की सबसे बड़ी कमजोरी, जो उन्हें इस प्रकार की द्विधापूर्ण और असंबद्ध बाते कहने के लिए प्रेरित करती है यह है कि वे कभी भी यह मानने को तैयार नहीं हैं कि वस्तुतः विद्यापति के काव्य की प्रेरणा में शृंगार और काम-वासना है। केवल शृंगार और काम-वासना। शृंगार की भावना कभी दूषित नहीं है और न तो विद्यापति को इसके लिए किसी के सामने सफाई देने की ही जरूरत है। शृंगार स्वतः महान् है, वह अपनी महत्ता के लिये किसी का मुखापेक्षी नहीं है।

आगे चलकर विनयकुमार सरकार ने लिखा है कि वस्तुतः कुमारस्वामी जिन्होंने अपनी धारणा बना रखी है कि विद्यापति के शृंगारिक वर्णन भारतीय पारिवारिक जीवन की मर्यादा का उल्लंघन करते हैं, और इसे तोपने के लिये ही वे विद्यापति के मांसल, ऐन्द्रिक प्रेम-वर्णनों को आध्यात्मिक बनाने का असफल प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः वे विद्यापति की ओर से उनकी प्रेम-भावना के लिए जो मनुष्य के मन को ऊपर उठाती है, ऐन्द्रिकता समझकर सफाई देने के लिए प्रयत्नशील है। किन्तु वे लाख प्रयत्न करके भी राधा-कृष्ण के प्रेम-वर्णन के प्रत्येक प्रसंग की जीव की ब्रह्मोन्मुखी साधना प्रमाणित नहीं कर सकते। वह चाहे भी तो पार्थिव तत्त्वों, गन्दगी, धूल, अपूर्णता, अतृप्ति, स्त्री के हृदय, मनुष्य के प्रेम, ऐन्द्रिक सुख को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। विनयकुमार सरकार के मत से "ऐन्द्रिक भावना का मानवीय सम्बन्धों के बीच इतना सुन्दर सम्मिश्रण और इतने ऊँचे स्तर का चित्रण भारतीय साहित्य में विद्यापति के अलावा और और किसी ने प्रस्तुत नहीं किया है।"[१]

इस प्रकार हमने देखा कि ग्रियर्सन, जनार्दन मिश्र, कुमारस्वामी जैसे विद्वान् विद्यापति के राधाकृष्ण प्रेम-वर्णन को रहस्यवादी बताते हैं जब कि विनयकुमार सरकार और बहुत से दूसरे लोग इसे नितान्त शृंगारिक, सौ फी सदी शृंगारिक कहते हैं। जनार्दन मिश्र ने विद्यापति के रहस्यवादी होने का एक कारण यह भी बताया है कि उस समय रहस्यवादी धारा की प्रधानता थी, विद्यापति इससे बच न सके और उसमें बह गये। रहस्यवादी धारा से उनका तात्पर्य क्या है यह

१ Love in Hindu literature Page 20 21

तो स्पष्ट नहीं हो सका। किन्तु तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों का अध्ययन करनेवाला उनके संकेत को अवश्य ही समझ सकता है। रहस्यवादी साहित्य जो विद्यापति के समय में या उनके पूर्व लिखा जा रहा था वह या तो सिद्ध साहित्य था या परवर्ती सूफी साहित्य। रहस्यवादी प्रवृत्ति अपने शुद्ध रूप मे सिद्ध-साहित्य मे नहीं दिखाई पडती, फिर भी सिद्ध साहित्य के अन्तर्गत रहस्य-वादी प्रकृति का एक रूप है अवश्य। सिद्धों का रहस्यवाद आधुनिक रहस्यवाद से थोड़ा भिन्न है भिन्न इस अर्थ में कि आधुनिक रहस्यवाद न तो दार्शनिक शब्दों या साम्प्रदायिक नियमों से आक्रान्त है और न तो इसमें पुराने मध्यकालीन रहस्यवादी सिद्धों की तरह गुह्य-साधना का घटाटोप है। फिर भी पुराने सिद्धो की रहस्यवादी भावना पर विचार करने पर इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है विद्यापति पर इनका प्रभाव कम से कम दिखाई पड़ता है।

डा० सुभद्र झा ग्रियर्सन आदि के मत का विरोध करते हुए लिखा है कि "भारतीय प्रतीकवादी (रहस्यवादी) कवियों की कविताओं में जैसे जायसी या कबीर के काव्य में, जीवात्मा को परमात्मा से मिलने के लिए प्रयत्नशील दिखाया जाता है। परमात्मा एक स्वतः परिपूर्ण सत्ता होने के कारण निरपेक्ष है और वह न तो जीवात्मा से मिलने के लिए इच्छुक होता है और न तो कोई आह्वान करता है। कबीर या 'रत्नसेन' या जायसी की 'पद्मावती' जो ब्रह्म के प्रतीक हैं, 'बहुरिया' या 'रत्नसेन' से लिए आकांक्षा व्यक्त नहीं करते।"[१] मैं विद्यापति को रहस्यवादी कवि नहीं मानता, पर ग्रियर्सन आदि की स्थापना के विरोध में उपर्युक्त मत बहुत प्रबल नहीं प्रतीत होता। अगर प्रतीक की दृष्टि से कथा के व्यापक प्रसंगों का ब्योरेवार अर्थ बिठलाया जाने लगे तो कबीर का साईं जाने कितनी बार कबीर पर रंग डालता है—

सतगुरु हो महराज साईं मो पर रंग डारा

यही नहीं 'राजा राम भरतार' कबीर के घर आते हैं और वे सखियों से मंगल-गान गाने की प्रार्थना करते हैं। उसी प्रकार जायसी की पद्मावती रत्नसेन के कैद हो जाने पर उसे छुड़ाने के लिये न केवल प्रयत्न करती है बल्कि उसकी मृत्यु से बाद चिता में जलकर अपने शरीर को क्षार भी कर देती है। इसलिए राधा और कृष्ण के उभयपक्षी सक्रिय प्रेम को डॉ० झा के तर्क के आधार पर अ-रहस्यवादी सिद्ध करना कठिन है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने निर्गुण सन्तों के प्रेम के विषय में ठीक ही लिखा है कि "भक्त का भगवान् के साथ एक व्यक्तिगत सम्बन्ध है। भगवान् या ईश्वर कोई शक्ति या सत्तामात्र नहीं बल्कि एक सर्वशक्तिमान् व्यक्ति है जो कृपा कर सकता है, प्रेम कर सकता

---

१ Songs of Vidyapati by Dr Subhadra Jha, Page 183

उद्धार कर सकता है, अवतार ले सकता है।"[1] इसलिए विद्यापति के कृष्ण यदि राधा के रूप मे आकृष्ट हैं, या उससे प्रेम करते है या प्रेम का प्रतिदान देते हैं, तो उनके सर्वशक्तिमान् ईश्वर रूप में कोई त्रुटि नहीं आती।

विद्यापति पर रहस्यवाद का प्रभाव खास तौर पर सिद्ध सूफी रहस्यवाद का प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। क्योंकि सिद्ध और सूफ़ी दोनों ही जिन प्रतीको का प्रयोग करते हैं, वे विद्यापति मे नही पाये जाते। विद्यापति मे न तो सिद्धो की सहज समाधि है, न षट्चक्र, न कुडलिनी, हठयोग और न तो मन के भीतर ही साधना द्वारा आत्मलय होने की प्रक्रिया। विद्यापति न माया की बात करते हैं, न ब्रह्म की और न किसी सद्गुरु की शरण में जाने का उपदेश देते है। उन्हे 'सबद' की चोट नही लगती और न तो अनाहत नाद का आकर्षण खींचता है। वे किसी अखण्ड नाद को जो जगत् के अन्तस्थल में निरन्तर गूँजता रहता है, सुनने के लिए कभी दौड़े नही। न उसको चर्चा की, न तो क्रिया-विशेषण से सुषुम्णा के पथ को उन्होंने उन्मुक्त किया और न तो कुंडलिनी को जगाकर उस ब्रह्मरंध्र मे पहुँचाने का प्रयत्न ही किया। न तो वे उपाधिरहित शब्द के प्रणय तत्त्व की बात करते हैं और न वे अखण्ड सत्ता रूप ब्रह्म के वाचक स्फोट की ही चर्चा करते है। उसी प्रकार उनके यहाँ 'महासुह' का वर्णन नही है। न माया का तरुवर है और न पंच बिडाल। विद्यापति पर सूफ़ी रहस्यवाद के प्रभाव की बात उठाना भी व्यर्थ है। सूफी धर्म का प्रचार शुरू हो गया था इसमे कोई शक नहीं, पर मिथिला की तरफ १४वी शताब्दी में इसके प्रचार के संकेत-प्रमाण उपलब्ध नहीं होते हैं। होते भी हो तो विद्यापति के काव्य में इनका प्रभाव ढूँढ़ना अनुचित है। सूफ़ी रहस्यवाद का प्रभाव यदि विद्यापति पर होता तो शक्ति, विष्णु, माधव, राधा, शिव, आदि बहुदेवों की स्तुति वे नहीं गाते क्योंकि सूफ़ी धर्म मूलतः एकेश्वरवादी है। सूफ़ी मत बहुत बातों में भारतीय अद्वैत मत से मिलता-जुलता है। यह सत्य है कि सूफ़ी साहित्य में भी प्रेम साधना पर ही जोर दिया गया है। कुछेक विद्वान् इसलिए कभी-कभी रागानुगा कृष्ण-भक्ति की सूफी रहस्यवादी काव्य की प्रेम-पीर वाली प्रवृत्ति का प्रभाव भी मानने लगते हैं। किन्तु विद्यापति के राधा-कृष्ण प्रेम में सूफ़ी प्रेम-पद्धति से लेशमात्र भी साम्य नहीं है। विद्यापति जैसे ब्राह्मण के संस्कारी चित्त में इस विदेशी पद्धति का प्रभाव पड़ना कठिन था भी। यदि राधा-कृष्ण प्रेम में सूफी मत का प्रभाव ढूँढ़ा जा सकता है तो जयदेव के गीतगोविन्द में तथा अन्य संस्कृत-प्रेम-काव्यो में भी इसके प्रभाव का अनुमान निकाला जा सकता है। राधा-कृष्ण का प्रेम सौ फ़ीसदी भारतीय है। यह प्रेम रहस्यवादी नहीं है, क्योंकि इसमें न तो गुह्य उपासना है और न प्रतीकवाद ही। राधा जीव का प्रतीक हो सकती है, किन्तु कृष्ण ब्रह्म के प्रतीक नहीं, वे साक्षात् ईश्वर हैं—इसलिए रत्नसेन और पद्मा-

[1] हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० ८५

वती वाली प्रतीक-पद्धति भी यहाँ बैठती नजर नहीं आती ।

विद्यापति के राधा-कृष्ण-प्रेम-प्रसंग में रहस्यवादिता की गन्ध खोजने वाले लोगों की खिल्ली उड़ाते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गये हैं । उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने गीतगोविन्द के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया है वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी । सूर आदि कृष्ण-भक्तों के शृङ्गारी पदों की भी ऐसे लोग आध्यात्मिक व्याख्या चाहते हैं । पता नहीं, बाल-लीला के पदों का वे क्या करेंगे । इस सम्बन्ध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि लीलाओं का कीर्तन कृष्ण-भक्ति का एक प्रधान अंग है । जिस रूप में लीलाएँ वर्णित हैं उसी रूप में उनका ग्रहण हुआ है और उसी रूप में वे गोलोक में नित्य मानी जाती हैं । जहाँ वृन्दावन यमुना, निकुंज, कदंब, सखा, गोपिकाएँ इत्यादि सब नित्यरूप में है, इन लीलाओं का दूसरा अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं ।"[1] शुक्ल जी ने लीलाओं को नित्य माना और यह भी स्वीकार किया कि इनका कीर्तन कृष्ण-भक्ति के प्रसंग में चलता है । पर विद्यापति के पदों में वे भक्ति के तत्व का समावेश स्वीकार नहीं करना चाहते । सूर आदि भक्तों के शृङ्गारी पद लीला-कीर्तन होने के कारण भक्ति के अन्तर्गत परिगणित हो सकते है, तो विद्यापति के शृङ्गारी पद क्यों नहीं ? इसका उत्तर देते हुए शुक्ल जी ने कहा कि, 'विद्यापति शैव थे, उन्होंने इन पदों की रचना शृङ्गार-काव्य की दृष्टि से की है, भक्त के रूप में नहीं । विद्यापति को कृष्ण-भक्तों की परम्परा में नहीं समझना चाहिए ।'[2] विद्यापति शैव थे, इसलिए कृष्ण भक्ति के पद नहीं लिख सकते और इसलिए उनके पदो को शृङ्गार के पद मानना चाहिए, कृष्ण-भक्ति के नहीं, यह बहुत अच्छा तर्क प्रतीत नहीं होता ।

श्री शिवनन्दन ठाकुर और अन्य कई आलोचकों ने यह माना है कि विद्यापति शैव थे । श्री शिवनन्दन ठाकुर ने विद्यापति को शैव प्रमाणित करने के लिए कई तर्क दिये है । अन्त में तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों का सारांश देते हुए उन्होंने लिखा है कि "विद्यापति के समय में मिथिला में तान्त्रिक उपासना की प्रबलता थी । विद्यापति के ऊपर इसका प्रभाव अवश्य पड़ा होगा । सम्भव है जब तक विद्यापति अपनी उपासना का रूप स्थिर नहीं कर पाये थे तब तक वे शक्ति के उपासक थे, और ब्रह्मा, विष्णु, महेश से भी शक्ति की उपासना करवाते थे । उस समय भारत में विशिष्टाद्वैत मत का स्पष्ट प्रचार हो रहा था । उसके अनुसार विष्णु-लक्ष्मी, राधा-कृष्ण आदि युगल मूर्ति की उपासना की धारा बह चली थी, विद्यापति ने जब अपनी उपासना का रूप स्थिर किया और

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५७-५८ ।

२ वही पृ० ५७

शिव जी को अपना इष्टदेव बनाया तब शाक्त विशिष्टाद्वैत मतों से प्रभावित होने के कारण शिव जी को अपना इष्टदेव नही रखकर युगलमूर्ति गौरी-शंकर को अपना इष्टदेव बनाया। विद्यापति ने कहा—

लोढ़ब कुसुम तोड़ब बेल पात
पूजब सदाशिव गौरी के सात

इसमें शक नहीं कि विद्यापति ने शिव-गौरी पर कई स्तुतिपरक पद लिखे हैं। प्रसंगवश यहाँ उनके एतत्सम्बन्धी कुछ पदों पर विचार कर लेना चाहिए। इसमे से कुछ पद केवल शंकर की स्तुति के हैं, कुछ अर्धनारीश्वर रूप में शंकर-उमा दोनों के। कुछ पद उमा-शंकर विवाह के प्रसंग के हैं। ऐसे पदों में लेखक ने शंकर में ईश्वरत्व-बुद्धि के साथ ही साथ जन-सामान्य की वैवाहिक रीति-पद्धति का भी समावेश किया। ऐसे पदों में तात्कालिक मिथिला के विवाहों में होने वाले हास-विनोद आदि के भी सांकेतिक चित्र सामने आते हैं। विवाह के अवसर पर शंकर पार्वती के विवाह-गीत आज भी पूर्वी प्रदेशों में गाये जाते हैं। ऐसे समय पर वरपक्ष की कुरूपता और दरिद्रता का झूठा बयान करके एक खास प्रकार का विनोद पैदा करने की परिपाटी चलती है। इस परिपाटी में शंकर-पार्वती के विवाह-गीत बहुत फिट बैठते हैं। विनोद में कन्या के सौभाग्य का वर्णन भी रहता है। इसलिए इस प्रकार के मांगलिक गीत बहुत प्रचलित रहे हैं। उदाहरण के लिए विद्यापति का एक छोटा गीत देखिए—

हम नहि आज रहब यहि आंगन
जो बुढ़ होएत जमाई, गे माई।
एक त बइर भेल बीध बिधाता
दोसर धियाकर बाप,
तेसर बइर भेल नारद बाभन
जे बुढ़ आनल जमाई, गे माई
पहिलुक बाजन डामरु तोरब
दोसरि तोरब मुंड माल
बरद हाँकि बरियात बेलाइब
धिया ले जाएब पराई, गे माई
धोती लोटा पतरा पोथी
एहो सब लेबन्हि छिनाइ
जौ किछु बजता नारद बाभन
दाढ़ी धएब घिसिआएब, गे माई
भन विद्यापति सुनु हे मनाइन
बुढ़ कर अपन गेयान

सुभ-सुभ कए सिरी गौरी बिआहू
गौरी-हर एक समान, गे माई।

कन्या के भविष्य के बारे में माँ की चिन्ता, ईश्वर का फटेहाल दूल्हा बनकर आना, नारद ऋषि की दुरवस्था और व्यंग-विनोद के अन्तराल में पार्वती के अशेष मंगल और सौभाग्य की सदिच्छा कितने सुन्दर ढंग से व्यक्त हुई है। प० शिवनन्दन ठाकुर के कथन में कोई तथ्य नहीं मालूम होता। हाँ, एक बात उन्होंने अलबत्ता अनजाने में स्वीकार कर ली है जो विद्यापति के काव्य की धार्मिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए जरूरी है, वह यह कि उस समय मिथिला मे विशिष्टाद्वैत मत का प्राबल्य था। डा० सुभद्र झा ने लिखा है कि "गौरी-शंकर के विवाह गीत मिथिला मे विवाह के अवसर पर गाये जाते हैं। शिवनन्दन ठाकुर विद्यापति को शैव मानते हैं इसीलिए उनके द्वारा वर्णित राधा-कृष्ण प्रेम को सामान्य शृङ्गार-काव्य की कोटि में ही रखना चाहते हैं। उनका कहना है कि मिथिला में ईश्वर की पूजा पति के रूप में कभी-कभी नही होती थी।"[1] डा० सुभद्र झा ने ठाकुर के इस मत को गलत बताया है और उन्होंने विष्णुपुरी की कविताओं का उद्धरण देकर बताया है कि "मिथिला में प्रेम-भक्ति की कवितायें लिखी गई थी।[2] खैर, हम यहाँ शिवनन्दन ठाकुर तथा आचार्य शुक्ल के इस तर्क पर विचार करना चाहते हैं कि क्या विद्यापति चूंकि शैव थे, इसलिए वे राधा-कृष्ण की प्रेम-भक्ति का काव्य नहीं लिख सकते थे। शैव और वैष्णव धर्म का वैमनस्य, जैसा उग्र बाद में हुआ, विद्यापति के समय में नहीं था। ईस्वी सन् १००० के आसपास उत्कीर्ण खजुराहो के शिलालेख से भगवान् शिव को एकेश्वर कहा गया है तथा विष्णु, बुद्ध, जिन आदि को उन्हीं का अवतार कहा गया है।[3] वायुपुराण मे ही शिव और विष्णु के तादात्म्य का विवरण मिलता है—

प्रकाशं चाप्रकाशं च जंगमं स्थावरं च यत्।
विश्वरूपमिदं सर्वं रुद्रनारायणात्मकम्॥
(२५।२०)

विष्णुपुराण में विष्णु और शिव को एक बताया गया है—

शंकरो भगवान् शौरिर्मूर्ति गौरी द्विजोत्तम
नमो नमो विशेषस्त्वं ब्रह्मात्वंहि पिनाकधृक्
(१।८।२१)

---

१. महाकवि विद्यापति, पृ० १८४।
२. Songs of Vidyapati; by Dr. Subhadar Jha, Page 184-85.
३ डा० यदुवंशी का शैवमत पृ० १४१।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि जो लोग विद्यापति के बारे में कहा करते है कि शैव थे अत: वैष्णव भक्त नहीं हो सकते, वे उस काल का मन:स्थिति को नहीं जानते। शिव सिद्धिदाता थे, विष्णु भक्ति के आश्रय। गाहड़वाल नरेश अपने को माहेश्वर कहते थे, पर वे लक्ष्मीनारायण की स्तुति भी किया करते हैं।'[1] विद्यापति ने एक स्तुतिपद में विष्णु और शिव की समवेत स्तुति की है—

> भल हर भल हरि तुअ कला
> खन पीत बसन खनहिं बघछला
> खन पंचानन खन भुजचारि
> खन संकर खन देव मुरारि
> खन गोकुल भए चराइअ गाय
> खन भिखि मांगिय डमरू बजाय
> खन गोविन्द भये लिअ महादान
> खनहिं भसम भरि आँख ओ कान
> एक सरीर लेल दुइ बास
> खन बैकुंठ खनहिं कैलास
> भनहिं विद्यापति विपरीत बानि
> ओ नारायण ओ सूलपानि

इस पद में न केवल विद्यापति ने शंकर-विष्णु को एक बताया बल्कि विष्णु-लीलाओं में मुख्य गोकुल में गाय चराना और गोविन्द के रूप में दधि का महादान लेने वाला बताया है। हरि और शंकर के इसी समवेत रूप को बाद में तुलसीदास ने अपनाया और उसे विस्तृत भूमिका प्रदान की—

> रुचिर हरिशंकरी नाम मंत्रावली द्वन्द्व दुख हानि आनन्द खानी
> विष्णु शिव लोक सोपान सम सर्वदा वदति तुलसीदास बिसद बानी

शिव और विष्णु की वन्दना के साथ-साथ विद्यापति ने शक्ति या दुर्गा की भी स्तुति में पद लिखे हैं। इसलिए कोई शक्ति या मौलिक बात कहने का इच्छुक आलोचक कहना चाहे तो यह भी कह सकता है कि चूँकि विद्यापति शाक्त थे इसलिए उन्होंने राधा के रूप में आद्याशक्ति की लीलाओं का चित्रण किया है। वस्तुस्थिति को न समझने के कारण इस प्रकार के तर्कों के आधार पर किसी कवि के दृष्टिकोण तथा धार्मिक विश्वासों का विवेचना नहीं किया जा सकता। विद्यापति

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ २६

के समय मे मिथिला में क्या सम्पूर्ण उत्तर भारत में शैव, शाक्त और वैष्णव तीनो प्रकार के मतों का काफी प्रचार हो गया था। कामरूप और हिमालय की तराई के हिस्सों में शाक्त-साधना का काफ़ी प्रचार था। इसका प्रभाव विद्यापति पर कितना पड़ा, यह कहना कठिन है किन्तु शक्ति का रूप सदा से भारतीय कवि को अपनी ओर आकृष्ट करता रहा है। शक्ति के भी विविध रूप हैं। राधा स्वयं परमेश्वर की आह्लादिनी शक्ति कही गई हैं। पुराणों में अनेक स्थलों पर प्रकृति को विष्णु-माया कहा गया है। शक्ति की व्यापकता और सार्वभौमता अक्षुण्ण है। राधा-तत्त्व कई दृष्टियों से काश्मीरी शैवदर्शन में व्याख्यात शक्ति-तत्त्व से समानता रखता है। पुराणों में वर्णित वैष्णव शक्ति-तत्त्व और शैवागमों में वर्णित शक्ति-तत्त्व में रूप में अन्तर नहीं, नाम का अन्तर ही ज्यादा है। विद्यापति ने शक्ति के इसी सार्वभौम रूप की वन्दना की है—

विदिता देवी विदिता हो अविरल केस सोहन्ती
एकनेक सहस को धारिनि, जनि रंगा पुरनन्ती
कज्जल रूप तुअ काली कहिए, उज्ज्वल रूप तुअ वानी
रवि मंडल परचंडा कहिए, गंगा कहिए पानी
ब्रह्मा घर ब्रह्माणी कहिए, हर घर कहिए गौरी
नारायण घर कमला कहिए, के जान उतपति तोरी
विद्यापति कविवर एह गाओल, जाचक जन के गती
हासिनी देइ पति गरुण नारायण, देवसिंह नरपती

इस प्रकार विद्यापति की शक्ति-वन्दना में मध्यकालीन तान्त्रिक साधना का प्रभाव ढूँढ़ा जाये तो कोई आपत्ति नहीं, किन्तु साधारण तौर से हम इसे एक हिन्दू कवि के चित्त का दुर्गा के प्रति भक्ति-निवेदन ही कहें तो ज्यादा ठीक होगा। इन सभी देवताओं की वन्दना को दृष्टि में रखकर म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्री ने कहा था कि विद्यापति वस्तुतः पंचदेवोपासक थे। कीर्तिलता के बंगीय संस्करण में शास्त्री जी ने उक्त मत प्रस्तुत किया। किन्तु विद्यापति को पंचदेवोपासक मानें या शुद्ध चित्त का एक हिन्दू, यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि उनकी रचनाओं को शृंगारिक मानें या वैष्णव भक्ति-पूर्ण। इस प्रश्न का उत्तर विद्यापति के काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा उसके व्यक्तिगत जीवन की स्थितियों, वातावरण आदि को समझे बिना नहीं दिया जा सकता। जिस धार्मिक वातावरण की चर्चा की गई है, विद्यापति के काल में उपर्युक्त सभी धर्म कमोबेश मात्रा में प्रचलित थे। विद्यापति ने प्रत्येक देवी-देवता की वन्दना की। यहाँ तक कि उन्होंने राधा की वन्दना में भी पद लिखे हैं, जैसे—

देखि देखि राधा रूप अपार
अपरूप केहि बिधि आन मिलाओलि

खिति तल लावनि सार
अंगहि अंग अनंग मुरछायत
हेरए पड़ए अधीर
मन्मथ कोटि मथन कर जे जन
से हरि महि मध गोर
कत कत लछमी चरन तल नेओछये
रंगिनि हेरि बिभोरि
कर अभिलाख मनहि पद पंकज
अहो निसि कोर अगोरि

इस पद में राधा जगद्धात्री की पीठिका पर आसीन है। उनके रूप के सामने सम्पूर्ण जगत् का सौन्दर्य फीका है। कामदेव को भी अपने रूप से विजित करने वाले कृष्ण इस सौन्दर्य को देखकर संज्ञाहीन हो जाते हैं। सहस्रों लक्ष्मी राधा के चरणों में न्योछावर है। राधा का यह देवी-सूक्त वाला रूप है। जिसके सामने देव-देवता सब कुछ तुच्छ और निर्बल है।

कहने वाले कह सकते हैं कि 'बिहारी सतसई' के लेखक ने भी ग्रन्थारम्भ मे राधा की वन्दना की है, किन्तु उनका काव्य कभी भक्ति काव्य नहीं माना गया, फिर विद्यापति का ही क्यों माना जाय ? इसके उत्तर में एक चलता तर्क यह दिया जा सकता है कि बिहारी की रचना किसी भी परवर्ती वैष्णव भक्त द्वारा कीर्तन का विषय नहीं मानी गई जब कि विद्यापति की रचनाएँ एक व्यापक क्षेत्र में कीर्तन में गाई जाती थी। महाप्रभु चैतन्यदेव विद्यापति की रचनाओं को गा करके मस्त हो जाया करते थे। विद्यापति के परवर्ती, ब्रजबुलि कवि गोविन्ददास ने लिखा है कि विद्यापति का काव्य कितना गौरवपूर्ण है, गोविन्द-गौरि (राधा-कृष्ण) के प्रेम पर लिखे हुए जिनके गीतों ने संसार का हृदय जीत लिया। गौड़ीय वैष्णवों का तो यहाँ तक कहना है कि विद्यापति का जन्म ही इसीलिए हुआ था कि वे चैतन्य महाप्रभु के अवतार के पहले इस पृथ्वी पर आकर राधा-कृष्ण की प्रेम-भक्ति के गान लिखें जिन्हें महाप्रभु कीर्तन में गायेंगे। कृष्णदास ने लिखा है कि चैतन्य महाप्रभु विद्यापति के गीतों को बड़े प्रेम से सुनते थे।

कर्णामृत विद्यापति श्री गीतगोविन्द
दुहें श्लोक गीते प्रभुर कराय आनन्द
(चैतन्य चरितावली ३१५)

वस्तुतः विद्यापति शृङ्गारिक कवि थे या भक्त इसे समझने के लिए भक्ति-काल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि समझना अनिवार्य हो जाता है। हमारे मन में शृङ्गार भक्ति के विषय में कई मिथ्या धारणाएँ बद्धमूल हो गई हैं। शृङ्गार भक्ति का

विरोधी नहीं है। विद्यापति के काव्य में इस शृङ्गार का ऐसा रूप क्यों है—इसे हम पूरी पृष्ठभूमि में रखकर देखने पर ही समझ सकते हैं। नख-शिख वर्णन केवल शृङ्गारिक कवियों ने ही प्रस्तुत नहीं किये हैं। रूप वर्णन की वैष्णव शैली में किन-किन तत्त्वों का समावेश हुआ, यह भी जानना आवश्यक है। रूपासक्ति और रूपोपासना में कार्य फर्क है। राधा क्या है—राधा के स्वरूप का विकास किन-किन तत्वों के सम्मिश्रण से हुआ। राधा के किस रूप की विद्यापति स्तुति करते हैं, आदि प्रश्न इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के आकलन के बाद ही समाहित हो सकते हैं।

७ भक्ति काव्य : सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का पुनः परीक्षण

ईस्वी सन् की सातवीं शताब्दी से अद्यतन काल तक अजस्र रूप से प्रवाहित हिन्दी काव्य-धारा में भक्ति का प्रवाह मन्दाकिनी की तरह अपनी शुभ्रता, निष्कलुष तरंगावलि और अनन्त जनता के मन को नैसर्गिक शान्ति प्रदान करने वाली दिव्य जल-धारा की तरह पूजित है। रवि बाबू ने लिखा है कि 'मध्ययुग में हिन्दी के साधक कवियों ने जिस रस-ऐश्वर्य का विकास किया उसमें असामान्य विशिष्टता है। वह विशेषता यह है कि एक साथ कवि की रचना में उच्चकोटि की साधना और अप्रतिम कवित्व का एकत्र मिश्रित संयोग दिखाई पड़ता है जो अन्यत्र दुर्लभ है।'[1]

भक्ति काल के इस अप्रतिम और ऐश्वर्यमंडित काव्य को विदेशी प्रभाव की छाया में पला हुआ या ईसाइयत का अनुकरण बताने वाले लोगों पर भारतीय मन का क्षोभ स्वाभाविक था। डा० ग्रियर्सन, वेबर, कैनेडी यहाँ तक कि भारतीय पंडित डा० भांडारकर ने भी यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ईसाई-संसर्ग का परिणाम है। डा० ग्रियर्सन ने नेस्टोरियन ईसाइयों के धर्ममत का भक्ति-आन्दोलन पर प्रभाव दिखाते हुए हिन्दुओं को उनका ऋणी साबित किया।[2] वेबर ने कृष्ण-जन्माष्टमी के उत्सव की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए कृष्ण-जन्म की कथा को ईसामसीह की जन्म-कथा से जोड़ दिया।[3] कैनेडी ने 'कृष्ण, ईसाइयत और गूजर' शीर्षक निबंध में यह बताने का प्रयत्न किया कि गूजरों से कृष्ण का सम्बन्ध है और चूँकि गूजर सीथियन जाति के हैं इसलिए उनमें प्रचलित बालकृष्ण की पूजा की प्रेरणा उनके मूल-प्रदेशों के किसी धर्म मत से मिली होगी।[4] डा० भांडारकर ने

---

१. पुरोहित हरिनारायण शर्मा द्वारा संपादित सुन्दर ग्रन्थावली का प्राक्कथन संवत् १९८३।

२. जर्नल आव रायल एशियाटिक सोसाइटी, सन् १९०७ में प्रकाशित 'हिन्दुओं पर नेस्टोरियन ईसाइयों का ऋण' शीर्षक निबन्ध।

३. इण्डियन ऐन्टिक्वेरी भाग ३-४ में कृष्ण-जन्माष्टमी पर लेख।

४ जर्नल आव रायल एशियाटिक सोसाइटी सन् १९०७ में प्रकाशित कृष्ण

सब मतों का जैसे एकत्र संयोग प्रस्तुत करते हुए लिखा कि 'आभीर ही शायद बाल-देवता की जन्म-कथा तथा उसकी पूजा अपने साथ ले आए। उन्होंने भी काइस्ट और कृष्ण शब्द के कुष्टघृष्ट साम्य को प्रमाणित करने का घोर प्रयत्न किया और बताया कि नन्द के मन में यह अज्ञान कि वह कृष्ण के पिता हैं तथा कंस द्वारा निरपराध व्यक्तियों की हत्या क्राइस्ट-जन्म की तत्संबंधी घटनाओं से पूर्णतः साम्य रखते हैं। यह सब कुछ भांडारकर के मत से आभीर अपने साथ भारत में ले आये।[1]

इन मतों को पढ़ने पर किसी भी विवेकवान पुरुष को लगेगा कि इसकी स्थापना के पीछे निश्चित पूर्वग्रह और न्यस्त-अभिप्राय थे जिनके कारण सत्य को आच्छन्न बनाने में इन विद्वानों ने संकोच नहीं किया। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने बड़े खेद के साथ लिया है कि 'भारतवर्ष' का यह परम अपराध रहा है कि वह परमत सहिष्णु और आश्रित-वत्सल रहा है। दुर्दिन में दुरवस्था की मार से जब एक दल के ईसाई भारत के दक्षिणी हिस्से में शरणापन्न हुए उस समय शरणागत-वत्सल भारत में उन्हें बिना विचारे आश्रय दिया। उस दिन उसने सोचा भी नहीं था कि इन दुर्गत आश्रितों के सहधर्मी इस मामूली से सूत्र से भारतवर्ष के सारे गौरवों का दावा पेश करने लगेंगे।[2] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उपर्युक्त विद्वानों की धारणाओं का उचित निरास करते हुए राधा-कृष्ण के विकास का बड़ा सन्तुलित सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्वीकार किया है 'कृष्ण का वर्तमान रूप नाना वैदिक-अवैदिक-आर्य-अनार्य धाराओं के मिश्रण से बना है। इस प्रकार शताब्दियों की उलट-फेर के बाद प्रेम-ज्ञान वात्सल्य-दास्य आदि विविध भावों के मधुर आलंबन पूर्ण ब्रह्म श्रीकृष्ण रचित हुए। माधुर्य के अतिरिक्त उद्रेक से प्रेम और भक्ति का प्याला लबालब भर गया। इसी समय ब्रजभाषा का साहित्य बनाना शुरू हुआ।'[3]

भक्ति आन्दोलन के विकास के पीछे ईसाईमत के प्रभाव की बात की गई है। उसी प्रकार कुछेक विद्वानों की धारणा है कि यह आन्दोलन मुसलमानों के आक्रमण के कारण इतने आकस्मिक रूप में दिखाई पड़ा। इस धारणा का भी प्रचार करने में विदेशी विद्वानों का हाथ रहा है। प्रो० हैवेल ने अपनी पुस्तक 'दि हिस्ट्री ऑव आर्यन रूल' में लिखा कि ''मुसलमानी सत्ता के प्रतिष्ठित होते ही हिन्दू राज-काज से अलग कर दिये गए। इसलिए दुनिया की झंझटों से छुट्टी मिलते ही उनमें धर्म की ओर जो उनके लिए एक मात्र आश्रय-स्थल रह गया था स्वाभाविक आकर्षण पैदा हुआ।''[4] हिन्दी के भी कुछ इतिहासकारों ने इसी मत

---

१ वैष्णविज्म शैविज्म एंड अदर माइनर सेक्ट्स, पृ० ३८-३९।
२ डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के सूर साहित्य की भूमिका, पृ० ७।
३ सूर साहित्य संशोधित १९५६ बम्बई पृ० ११ तथा १९।
४ हिन्दी साहित्य का भूमिका में डा० द्विवदी द्वारा उद्धृत पृ० १५

को स्वीकार किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में भक्ति-आन्दोलन की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए लिखा है कि 'देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव-गर्व और उत्साह के लिए वह आकाश न रह गया। इतने भारी राजनीतिक उलट-फेर के पीछे हिन्दू जन-समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।'[1] बहुत से लोग सोचते हैं कि शुक्ल जी ने भक्ति के विकास का मूल कारण मुसलमानी आक्रमण को बताया, किंतु ऐसी बात नहीं है। शुक्ल जी ने भक्ति आन्दोलन के शास्त्रीय और सैद्धान्तिक पक्षों का भी विश्लेषण किया है, उनके निष्कर्ष कितने सही हैं, यह अलग बात है, इस पर आगे विचार करेंगे। शुक्ल जी ने सिद्धों और योगियों की साहित्य-साधना को 'गुह्य रहस्य और सिद्ध' नाम से अभिहित किया है और उनके मत से भक्ति के विकास में इनकी वाणियों से कोई प्रभाव नहीं पड़ा "प्रभाव यदि पड़ सकता था तो यही कि जनता सच्चे शुभ कर्मों के मार्ग से तथा भगवद्-भक्ति की स्वाभाविक हृदय-पद्धति से हटकर अनेक प्रकार के मन्त्र और उपचारों में जा उलझी।"[2] अतः स्पष्ट है कि शुक्ल जी के मत से ऐसी रचनाओं का भक्ति के विकास में कुछ महत्वपूर्ण योगदान नहीं था। भक्ति का सैद्धांतिक विकास 'ब्रह्मसूत्रों पर, उपनिषदों पर, गीता पर, भाष्यों को जो परम्परा विद्वन्मण्डली के भीतर चल रही थी, उसमें हुआ।'[3] भक्ति के विकास में सहायक तीसरा तत्त्व शुक्ल जी के मत से 'भक्ति का वह सोता है जो दक्षिण की ओर से उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय-क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला।'[4] भक्ति जैसे लोक चित्तोद्भूत और लोकप्रिय मत की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि भाष्य और टीका-ग्रंथों में ढूंढ़ना बहुत उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सभी टीका ग्रंथ भारतीय मनीषा की मौलिक उद्भावना और जीवन बुद्धि का परिचय नहीं देते। शुक्लजी के प्रथम और तृतीय कारण भी परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। शुक्ल जी ने यह स्वीकार किया है कि दक्षिण में भक्ति विकसित हो रही थी और उसका प्रभाव उत्तर में पड़ने लगा था। मुसलमानी आक्रमण के कारण भक्ति का उदय नहीं हुआ, भक्ति का स्वाभाविक विकास इस आक्रमण ने कुछ तीव्र अवश्य कर दिया। क्योंकि यदि मुसलमानी आक्रमण के कारक जनता में दयनीयता का उद्भव हुआ जिससे भक्ति के विकास में सहायता मिली तो मुसलमानों के आक्रमण से प्रायः

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठा संस्करण, पृ० ६० ।
२. वही, पृ० ६१ ।
३. वही, पृ० ६२ ।
४. वही, पृ० ६२ ।

सुरक्षित दक्षिण में यह 'भक्ति का सोता' कहाँ से पैदा हो गया जो उत्तर मे प्रभावित होने लगा था ?

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भक्ति के विकास की दिशाओं का संकेत देने वाले तत्वों का सन्धान करते हुए बताया है[1] कि बौद्धमत का महायान सम्प्रदाय अन्तिम दिनों में लोकमत के रूप में परिणत होकर हिन्दू धर्म में पूर्णतः घुल-मिल गया। पूजा-पद्धति का विकास इसी महायान के काल में होने लगा था। हिन्दी भक्ति-साहित्य में जिस प्रकार के अवतारवाद का वर्णन है उसका संकेत महायान मत में ही मिल जाता है। सिद्धों और नाथ योगियों की कविताएँ हिन्दी सन्त साहित्य मे पूर्णतया संयुक्त हैं, इस प्रकार सन्त-मत का उद्भव मुसलमानो के आक्रमण के कारण नहीं, बल्कि अपनी भारतीय चिन्ता के स्वाभाविक विकास का परिणाम है। इस प्रकार द्विवेदी जी की यह स्थापना है कि अगर इस्लाम नही आया होता है तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।[2]

वस्तुतः इन सभी प्रकार के बाद-विवादों का मूल कारण है, भक्ति-सम्बन्धी प्राचीन साहित्य का अपेक्षाकृत अभाव। हम भक्ति काव्य आन्दोलन को बहुत प्राचीन मानते हुए भी जयदेव के गीतगोविन्द से प्राचीन कोई साहित्य न पा सकने के कारण अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए ऐतिहासिक ऊहापोह में ही लगे रह जाते हैं। ब्रजभाषा भक्ति साहित्य का आरम्भ सूरदास के साथ मानते हैं, रामभक्ति काव्य तुलसी के साथ शुरू होता है। प्राचीन संत काव्य ही ले-देकर कुछ पुराना प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में मुसलमानी आक्रमण के साथ भक्ति आन्दोलन का आरम्भ मानने वाले लोग इसे 'मुसलमानी जोश' का साहित्य कह कर गोटी बिठा देते हैं। इस दिशा में एक भ्रान्त धारणा यह भी बद्धमूल हो गई है, जो भक्ति काव्य से सर्वाङ्गीण विश्लेषण में बाधा पहुँचाती है। वह यह कि भक्ति के सगुण और निर्गुण मतवाद परस्पर विरोधी चीजें हैं। इस प्रकार के विचार वाले आलोचक सगुण-काव्य को तो भारतीय परम्परा से सम्बद्ध मानते हैं और निर्गुण काव्य को विदेशी कह देते हैं। परिणाम यह होता है कि निर्गुण काव्य को धाराच्युत कर देने का सगुण भक्ति काव्य को सोलहवी शती के उत्पन्न मानना पड़ता है और सूर तथा अन्य वैष्णव कवियों के लिए १२वी शती में जयदेव और १३वीं शती के विद्यापति एकमात्र प्रेरणा-केन्द्र बन जाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मध्यदेश में भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात खासतौर से ब्रजभाषा प्रदेश में वल्लभाचार्य के आगमन के बाद माना है।[3] डा० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है कि 'सोलहवीं शताब्दी के पहले भी कृष्ण-काव्य लिखा गया था लेकिन

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका का 'भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास' शीर्षक अध्याय।

२ वही, पृ० २।

३ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १५२

वह सब का सब या तो संस्कृत में जैसे जयगुरुदेवकृत गीतगोविन्द या अन्य प्रादेशिक भाषाओं में जैसे मैथिल कोकिल कृत पदावली। ब्रजभाषा में लिखी गई सोलहवीं शताब्दी से पहले की रचनाएँ उपलब्ध नहीं है।"[1] जाहिर है कि यदि गीतगोविन्द और विद्यापति पदावली के अतिरिक्त भक्ति का परिचय देने वाली इतर सामग्री मिलती तो इस प्रकार का व्यवधान उपस्थित न होता।

भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि की खोज के लिए हमें संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाओं का पर्यवेक्षण करना होगा। भागवत-कृष्ण-काव्य का उपजीव्य ग्रन्थ माना जाता है। और भी कई पुराणों में कृष्ण के जीवन तथा उनके अलौकिक कार्यों का वर्णन किया गया है। ईस्वी सन् के पूर्व ही कृष्ण वासुदेव भगवान् या परम दैवत् के रूप में पूजित होने लगे थे। संस्कृत साहित्य में कई स्थानों पर कृष्ण की अवतार के रूप की अभ्यर्थना की गई है। भागवत के अलावा हरिवंश पुराण, नारद पंचरात्र, आदि धार्मिक ग्रंथों में कृष्ण-लीला का वर्णन आता है। भास कवि ने संस्कृत नाटकों में जो कुछ विद्वानों की राय में ईसा पूर्व लिखे गए थे, कई ऐसे हैं जिनमें कृष्ण के जीवन-चरित्र को नाट्य-वस्तु के रूप में ग्रहण किया गया है। परवर्ती संस्कृत काव्यों, शिशुपाल वध, आदि में कृष्ण के जीवन और कार्यों का वर्णन किया गया है। जयदेव का गीत-गोविन्द तो कृष्ण-भक्ति का अनुपम काव्य ग्रन्थ है ही।

ब्रजभाषा की जननी शौरसेनी अपभ्रंश भाषा में भी कृष्ण सम्बन्धी काव्य लिखे गए। आश्चर्य है कि अब तक इन रचनाओं को ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट नहीं हो सका। अपभ्रंश में कृष्णसम्बन्धी जो कुछ भी साहित्य अवशिष्ट है और जिसका सन्धान हो सका है, वह ब्रजभाषा के सगुण कृष्ण भक्ति आन्दोलन को समझने में बहुत सहायक हो सकता है। इनमें सर्वाधिक महत्व की रचना पुष्पदन्त कवि का महापुराण है जिसमें कृष्ण-जीवन का विशद चित्रण किया गया है; इसमें कृष्ण-भक्ति के निश्चित रूप का पता नहीं चलता। कृष्ण-जीवन से सम्बन्धित घटनाएँ निःसन्देह भागवत या हरिवंश पुराण के आधार पर ली गई हैं। गोपियों के साथ कृष्ण का विहार, (उत्तर पुराण पृ० ६४।६५) पूतना लीला (उ० पुराण ८) ओखल बन्धन, गोवर्धन-धारण (उ० पु० १६) कालिय-दमन आदि की घटनाएँ भागवत की कथा से पूर्ण साम्य रखती हैं। पुष्पदन्त ने कृष्ण के लिए जिन सम्बोधनों का प्रयोग किया है, उनमें गोपाल, मुरारि मधुसूदन, हरि, प्रभु आदि शब्द आते हैं। रास के वर्णन में पुष्पदन्त ने गोपियों की उत्सुकता, प्रेम-विह्वलता और असामान्य व्यवहारों का वैसा ही जिक्र किया है जैसा भागवत में है अथवा परवर्ती विद्यापति या सूरदास आदि में। कोई-कोई आधे विलोए दही को वैसे ही छोड़कर भागीं, किसी की मथानी टूट गई। कोई कहती है कि तुमने मथानी तोड़ दी, इसका दाम चुकाओ एक आलिंगन देकर। कहीं

---

[1] नाम माहात्म्य श्री ब्रजांक अगस्त सन् १९४० ब्रजभाषा' नामक लेख

गोपी की पाण्डुर रंग की चोली कृष्ण की छाया से काली हो जाती है, इस प्रकार धूलिधूसर कृष्ण उन गोपियों को क्रीडारस से वशीभूत कर लेते हैं।

> धूली धूसरेण वर मुक्क सरेण तिणा मुरारिणा
> लीला रस वसेण गोवालय नोवी हियय हारिणा
> मंदीरउ तोडिवि आवाट्टिउं, अद्धविरोखिउं दहिउं पलोट्टिउं
> कवि गोवी भोविन्दहु लग्गी, एण महारी मंथानि भग्गी
> एयहि मोल्लु देहु आलिंगणु, णं तो मा मेल्लहु मे प्रंगणु
> काहि वि गोविहि पंडरु चेलउं, हरि तणु तेंइ जायउं कालइउ
>
> (उत्तर पुराण, पृ० ६४)

भागवत से अत्यन्त प्रभावित होते हुए भी, पुष्पदंत की कथा मे कृष्ण भक्ति का स्फुट स्वरूप नहीं दिखाई पड़ता, फिर भी रासक्रीड़ा आदि के वर्णन यह तो प्रमाणित करते है कि कृष्ण के रास का महत्त्व १०वी शती के एक जैन कवि के निकट भी कम नहीं था। यह याद रखना चाहिए कि पुष्पदंत का यह वर्णन-गीत गोविन्द से दो सौ वर्ष पहले का है। बाद में भी कई जैन कवियों ने कृष्ण संबधी काव्य लिखे परन्तु कृष्ण को भगवान के रूप में चित्रित नहीं किया गया। वे एक महाप्राणवान पुरुष के रूप में ही चित्रित हुए। प्रद्युम्न चरित्र काव्यों मे तो उनकी कहीं-कहीं दुर्गति भी दिखाई गई है।

१२वी शताब्दी में हेमचन्द्र के द्वारा संकलित अपभ्रंश के दोहों में दो ऐसे दोहे हैं जिनमें कृष्ण संबंधी चर्चा है। एक मे तो स्पष्ट रूप से कृष्ण और राधा के प्रेम की चर्चा की गई है। मेरा ख्याल है कि ये दोहे एतत्सम्बन्धी किसी पूर्ण काव्य ग्रन्थ के अंश हैं। दोहे इस प्रकार है—

> हरि नच्चाविउ पंगणइ विम्हइ पाडिउ लोउ
> एम्बहि राह पओहरह जं भावइ तं होउ

हरि को प्रांगण में नचाने वाले तथा लोगों को विस्मय में डाल देने वाले राधा के पयोधरों को जो भावे सो हो। सम्भवतः यह किसी हास्य प्रगल्भा सखी के वचन राधा के प्रति कहे गए हैं। इस पद में राधा-कृष्ण के प्रेम का संकेत तो मिलता है, किन्तु इस प्रेम को भक्ति-संयुक्त मानने का कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। दूसरा दोहा अवश्य ही स्तुतिमूलक है—

> मइं भणियउं बलिराय तुहुँ केहैउ मग्गण एहु
> जहु तेहु न वि होइ वढ़ सइं नारायण एहु

इस पद्य में नारायण और बलि की कथा का संकेत मिलता है, इसमें भी हम

बहुत अंशों तक भक्ति के मूल भावों का निदर्शन नहीं पाते। फिर भी ये दोहे आरम्भिक ब्रजभाषा के अज्ञात कृष्णकाव्यों की सूचना तो देते ही हैं। इस तरह का न जाने कितना विपुल साहित्य रहा होगा जो दुर्भाग्यवश आज प्राप्त नहीं होता। प्रबन्धचिन्तामणि में भी एक दोहा ऐसा आता है जिसमें राजा बलि की कथा को लक्ष्य करके एक अन्योक्ति कही गई है—

अम्माणिओ संदेसडो तारअ कन्ह कहिज्ज
जग दालिद्दिहिं डुब्बिउ बलिबंधणह मुहिज्ज

मेरा संदेश उस तारक कृष्ण से कहना कि संसार दारिद्रय में डूब रहा है अब तो बलि को बन्धन-मुक्त कर दीजिए। इस दोहे का 'तारअ' शब्द महत्त्वपूर्ण है। उद्धारक या तारक विशेषण से कृष्ण के प्रति परमात्मा-बुद्धि का पता चलता है।

कृष्ण-भक्ति काव्य का वास्तविक रूप पिंगल ब्रजभाषा में तेरहवीं, चौदहवीं शती के आस-पास निर्मित होने लगा था। प्राकृत पैंगलम् का रचनाकाल १४वीं शती के आसपास उससे कुछ पहले माना जाता है। यह एक संकलन ग्रन्थ है जिसमें १४वीं शती तक के पिंगल ब्रजभाषा के काव्यों में छन्दों के उदाहरण छाँटे गए थे। इसमें कृष्णभक्ति सम्बन्धी कई पद्य संग्रहीत हैं। कृष्ण के अलावा शंकर, विष्णु आदि की स्तुति के भी कई पद दिखाई पड़ते हैं। एक पद में दशावतार का वर्णन भी मिलता है। इन पद्यों का विश्लेषण करने पर भक्ति के कई तत्त्वों का संधान मिलता है। प्रेम-भक्ति का बड़ा ही मधुर और मार्मिक चित्रण हुआ है। स्तुतिपरक पद्यों में भी आत्मनिवेदन तथा प्रणति का रूप स्पष्ट दिखाई पड़ता है। शिव सम्बन्धी स्तुति में शंकर के रूप का चित्रण देखिए—

जसु कर फणवइ वलय तरुणि वर तणुमंह विलसइ
णअण अनल गल गरल विमल ससहर सिर णिवसेइ
सुरसरि सिर मंह रहइ सयल जण दुरित दमण कर
हसि ससिहर हरउ दुरित वितरहु अतुल अभय वर
(१८०।१११)

रामसम्बन्धी स्तुति का एक पद :—

बप्पक उक्कि सिरे जिणि लिज्जिउ तेज्जिय रज्ज वणंत चले विष्णु
सोहर सुंदरि संगहि लग्गिय मार विराध कबंध तहाँ हणु
मारुइ मिल्लिय वालि विहंडिय रज्ज सुग्गीवह दिज्ज अकंटक
बंध समुद्द विणासिय रावण सो तुव राहव दिज्जउ निब्भय

स्तुतिपरक पद्यों में राम, शिव, या कृष्ण की वन्दना परमात्मा के रूप में की गई और वे दोनों पर कृपा करने वाले तथा अभय देने वाले इष्टदेव के रूप में चित्रि

किए गए हैं किन्तु सर्वाधिक महत्त्व के कृष्णसम्बन्धी वे पद्य हैं जिनमें कृष्ण को परमात्मा के रूप में मानते हुए भी गोपी या राधा के साथ उनके प्रेम का वर्णन किया गया है। ऐसे पदों में कवि ने बड़े कौशल से लौकिक प्रेम का पूरा रूप प्रस्तुत करते हुए भी उसमें चिन्तन सत्ता का आरोप किया है। सूरदास की कविता में गोपियों के सामान्य लौकिक प्रेम के धरातल से चिदोन्मुख प्रेम का जैसा उन्नत रूप उपस्थित किया गया है, वैसा ही चित्रण इन पदों में मिलता है। इनमें से कई पद्य जयदेव के गीतगोविन्द के श्लोकों से भाव-साम्य रखते हैं।[1]

नदी पार करते समय कृष्ण अपनी चंचलता के कारण नाव को हिला-डुला कर गोपी को भयभीत करना चाहते हैं। कृष्ण के ऐसे कार्यों के पीछे छिपे मन्तव्य को पहचान कर भय का बहाना बताती हुई प्रेम विह्वला गोपी कहती है—

अरे टे वाहहि काण्ह णाव छोड़ि डगमग कुगति ण देहि
तइ इत्थि णइहि संतार देइ जो चाहइ सो लेहि

(१२।८)

यह स्वतंत्र मुक्तक पद भी हो सकता है किन्तु सन्दर्भ को देखते हुए लगता है कि नौका-लीला-सम्बन्धी किसी बड़ी कविता का एक स्फुट पद्य है। एक दूसरे पद्य में कृष्ण के जीवन की विविध लीलाओं का संकेत करते हुए उनकी स्तुति की गई है। यह पद्य वैसे मूलतः स्तुतिपरक नहीं है। किन्तु एक पंक्ति में कृष्ण और राधा के प्रेम-सम्बन्धों पर भी प्रकाश पड़ता है। कृष्ण को नारायण के रूप में स्मरण करते हुए भी कवि ने उनके राधा-प्रेम का जो चित्र प्रस्तुत किया है उसमें प्रेम-भक्ति के भी तत्त्व दिखाई पड़ते हैं। मधुर भाव का यह भक्ति संकेत ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। राधा तत्त्व के क्रमिक विकास का अत्यन्त वैज्ञानिक और व्यापक अध्ययन प्रस्तुत करने वाले डॉ० शशिभूषण दासगुप्त ने लिखा है कि 'संस्कृत और प्राकृत वैष्णव कविता के बाद पहले पहल देश भाषा में ही राधा-कृष्ण की प्रेम-सम्बन्धी वैष्णव पदावली पन्द्रहवीं सदी के मैथिल कवि विद्यापति और बंगला के कवि चण्डीदास की रचनाओं में पाते हैं।[2] प्राकृत काव्य से डॉ० दासगुप्त का मतलब गाथा सप्तशती आदि में पाये जाने वाले उन शृङ्गारिक प्रसंगों से है जिसका सम्बन्ध वे राधाकृष्ण प्रेम से अनुमानित करते हैं।[3] उन्होंने इसी प्रसंग में प्राकृत

---

१. जयदेव के गीतगोविन्द से तीन-चार श्लोक पैंगलम् के कुछ पदों से अद्भुत साम्य रखते हैं। 'वेदानुद्धरते' वाला श्लोक 'जिण वेअ धरिज्जे, महियल लिट्टुजे, वाले पद से अक्षरशः मिलता है। उसी प्रकार 'जं फुल्लक फुलबण' वाला (प्राकृत पैंगलम्) पद भी एक श्लोक से पूर्णतः साम्य रखता है। इस विषय में विस्तार के साथ 'सुर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' शीर्षक प्रबन्ध में विचार किया गया है।

२. राधा का क्रमविकास, हिन्दी संस्करण सन् १८५६ काशी, पृ० २७६-७७।

३ देखिए, वहीं पुस्तक पृष्ठ १४८।

पैंगलम् की एक गाथा उद्धृत की है जिसके बारे में उन्होंने लिखा है कि 'परवर्ती काल में (गाथा सप्तशती से) संग्रहीत प्राकृत पिंगल नामक छंद के ग्रंथ में जो प्राकृत गाथाएँ उद्धृत मिलती है, उसके कितने ही श्लोकों और परवर्ती काल की वैष्णव कविता के वर्णन और स्वर मे समानता लक्षणीय है जैसे—

फुल्ला णीवा भम भमरा दिट्ठा मेहा जले सामला
णच्चे निज्जू पिय सहिया, आवे कंता कहु कहिया।[1]

(वर्णवृत्त ८१)

जाहिर है कि डॉ० दासगुप्त ने इस ग्रंथ को अत्यन्त शीघ्रता से देखा अन्यथा उन्हें परवर्ती वैष्णव पदावली से प्राकृत पैंगलम् के कुछ छन्दों की शैली का साम्य दिखाने के लिए उपर्युक्त प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी सामान्य वर्णन से संतोष न करना पड़ता। प्राकृत पैंगलम् में कृष्ण-राधा के प्रेम सम्बन्धी कई अत्यन्त उच्चकोटि की कवितायें संकलित है। एक छन्द ऊपर दे चुके हैं, दूसरा इस प्रकार है :—

जिणि कंस विणासिअ कित्ति पयासिअ
मुट्ठि अरिट्ठ विणास करे गिरि हत्थ धरे
जमलज्जुण भंजिय पय भर गंजिय
कालिय कुल संहार करे जस भुण भरे
चाणूर विहंडिअ, णिय कुल मंडिअ
राहा मुह महु पान करे जिमि भमर वरे
सो तुम्ह णरायण विप्प परायण
चितह चिंतिय देउ वरा, भयभीय हरा

(३२४।२०७)

स्पष्ट है कि इस पद में नारायण के रूप में कृष्ण को परम दैवत या परमात्मा बुद्धि से स्मरण किया गया है। ऐसे परमात्मा का राधा के मुख-मधु का भ्रमर की तरह पान करने का वर्णन इस बात का संकेत है कि १४वीं शताब्दी के पहले यानी विद्यापति और चण्डीदास के पूर्व देशी भाषाओं में मधुर भाव की भक्ति का कोई न कोई रूप अवश्य ही प्रचलित था। इस ग्रन्थ में पाये जाने वाले अन्य कृष्णस्तुतिपरक पद्यों को उद्धृत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

१—परिणअ ससिहर वअणं बिमल कमल णयणं
विहिअ असुर कुल दलणं पणयह सिरि महु महणं

(४२१।१०८

२—भुवण अणंदो तिहुअण कंदो
भवर सवण्णो स जअइ कण्हो

(३६५।१०९)

प्राकृत पैंगलम् में एक पद्य ऐसा भी प्रतीत होता है जिसमें शंकर और कृष्ण की साथ-साथ स्तुति की गई है। हालाँकि शिव और कृष्ण की युग्म-भाव की स्थिति का या सम-भाव की स्थिति का यह चित्रण नहीं है जैसा विद्यापति के एक पद में मिलता है, जिसमें शिव और कृष्ण को एक ही ईश के दो रूप कहा गया है, फिर भी एक ही श्लोक में दोनों देवताओं की उपासना का महत्त्व है।

जअइ जअइ हर वलइअ विसहर
तिलइअ सुन्दर चंद मुनि आणंद जन कंद
वसह गमन क तिसुल डमरू धर
णयणहि डाहु अंगण सिर गंग गौरि अधंग
जयइ जयइ हरि भुअ जुअ धरु गिरि
वहमुह कंस विणासा, पिय वासा सुन्दर हासा
वलि छलि महि हरु असुर विलय करु
मुणि जण मानस मुह भासा, उत्तम वंसा

(५६८।२१५)

नवीं शताब्दी में शैव और वैष्णव दोनों ही मतों में बहुत से तत्त्व एक दूसरे में घुल-मिल गए थे। यह सत्य है कि भारतीय इतिहास के उस काल में तथा उसके कुछ बाद तक शैवों और वैष्णवों में बहुत भयंकर कलह हुआ। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि '**समूचा उत्तर भारत प्रधान रूप में स्मार्त था, शिव के प्रति उसकी अखंड भक्ति बनी हुई थी, किन्तु उसमें अपूर्व सहनशीलता का विकास हुआ था और विष्णु को भी वह उतना ही महत्त्वपूर्ण देवता मानता था। शिव सिद्धिदाता थे, विष्णु शक्ति के आश्रय।**'[1] विद्वानों की धारणा है कि शैवों और वैष्णवों का कलह गोस्वामी तुलसीदास के काल तक किसी न किसी रूप में चलता रहा, इसीलिए उन्होंने शैव और वैष्णव मतों के समन्वय की बहुत कोशिश की। सेनवंशी विजयसेन ने प्रद्युम्नेश्वर का मंदिर बनवाया था जिसके एक लेख में शंकर और विष्णु की मूर्ति का बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है।

लक्ष्मीवल्लभ शैलजादयितयोरद्वैतलीलागृहं
प्रद्युम्नेश्वरशब्दलाञ्छनमधिष्ठानं नमस्कुर्महे

---

१ हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृष्ठ ३९

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि शैव और वैष्णव मतों में समन्वय का प्रयत्न सेनवंशीय राजाओं के काल में ही आरम्भ हो गया था। प्राकृत-पैंगलम् के पद्य में यद्यपि इस श्लोक में वर्णित शिव और विष्णु की मिश्र-मूर्ति का वर्णन नहीं है और न तो विद्यापति की तरह :

धन हरि धन हर धन तव कला
खन पीत वसन खनहिं बघछला

वाली मूलतः एक किन्तु प्रतिक्षण दोनो ही रूपों में दिखाई पड़ने वाली अलौकिक मूर्ति का वर्णन है; किन्तु एक ही पद में 'जयति शंकर' और 'जयति हरि' कहने वाले लेखक के मन में दोनों के प्रति सम्मान और आदर की भावना अवश्य थी ऐसा तो मानना ही पड़ेगा। जो लोग विद्यापति के शैव या वैष्णव होने पर विवाद किया करते हैं, उन्हें इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को दृष्टि में रखना चाहिए।

कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी काव्य का अगला विकास संत कवियों की रचनाओं में हुआ संत कवि प्रायः निर्गुण मत के माने जाते हैं इसीलिए उनकी सगुण भावना की कविताओं को भी निर्गुणिया वस्त्र पहनाया जाना हमने आवश्यक मान लिया है। परिणाम यह होता है कि सहज मानवीय अभिव्यक्तिपूर्ण कविताओं के भीतर भी रहस्य और गुह्य की प्रवृत्ति का अनावश्यक अन्वेषण आरम्भ हो जाता है। निर्गुण और सगुण दोनों बिल्कुल भिन्न धाराएँ मान ली जाती हैं वस्तुतः ये दोनों मूलतः एक ही प्रकार की साधनाएँ हैं। जैसा आचार्य शुक्ल जी ने लिखा है किस जहाँ तक 'ब्रह्म हमारे मन और इन्द्रियों के अनुभव में आ सकता है वहाँ तक हम उसे सगुण और व्यक्त कहते हैं, पर यहीं तक इसकी इयत्ता नहीं है। उसके आगे भी उसकी अनन्त सत्ता है इसके लिए हम कोई शब्द न पाकर निर्गुण, अव्यक्त आदि निषेधवाचक शब्दों का आश्रय लेते हैं।'[1] ब्रह्म की पूर्णता की अनुभूति सगुण मत वालों का भी ध्येय है, किन्तु व्यक्ति इस अनुभूति के लिए जिस साधन का प्रयोग करता है, वह सीमित है, ब्रह्म का दर्शन इसी क्षेत्र सीमित में होने पर सगुण की संज्ञा पाता है। सूरदासादि अष्टछाप के कवियों ने निर्गुण निराकार ब्रह्म में विश्वास करने वालों की बड़ी कड़ी आलोचना की है। कुछ लोग इस प्रकार के प्रमाणों के आधार पर दोनों मतों को एक दूसरे का द्रोही सिद्ध करना चाहते हैं। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि सूर आदि भक्त कवि ब्रह्मा की निराकार स्थिति को अस्वीकार नहीं करते थे, वे निराकार ब्रह्म की प्राप्ति के ज्ञान-मार्गी साधन को ठीक नहीं मानते थे, बस। श्रीमद्भागवत के एक श्लोक में बताया

१. भक्ति का विकास, सूरदास, विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा संपादित बनारस।

गया है कि आनन्दस्वरूप ब्रह्म के तीन रूप होते हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। ब्रह्म चिन्मय सत्ता है। जो भक्त ब्रह्म के इस विषय स्वरूप के साक्षात्कार का प्रयत्न करते हैं वे ब्रह्म के एक अंश को जानना चाहते हैं या जान पाते हैं, इस मत के अनुसार केवल ज्ञान स्वरूप ब्रह्म ज्ञाता और ज्ञेय के विभाग से रहित होता है। परमात्मा उसे कहते हैं जो सम्पूर्ण शक्ति का अधिष्ठाता है। इस रूप के उपासकों में शक्ति और शक्तिमान का भेद ज्ञात रहता है। किन्तु तीसरा रूप सर्वशक्ति विशिष्ट भगवान् का है, इसकी सम्पूर्ण शक्तियों का ज्ञान केवल सगुण भाव से भजन करने वाले भक्त को ही प्राप्त हो सकता है—

वदन्ति तत्तत्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते

इस प्रकार भगवान् के प्रेम की प्राप्ति हिन्दी के दोनों सम्प्रदायों, निर्गुण और सगुण मत वाले भक्तों का उद्देश्य रही। भक्त के जीवन की परम साधना है भगवान की लीला। भक्तों में अपनी उपासना-पद्धति के अनुसार इस लीला के रूप में भेद हो सकता है। पर सबका लक्ष्य यह लीला ही है। जो निर्गुण भाव से भजन करता है वह भी भगवान् की चिन्मय सत्ता में विलीन हो जाने की इच्छा नही रखता बल्कि अनन्त काल तक उसमे रमते रहने की कामना करता है। कबीरदास, दादूदयाल तथा निर्गुण-मतवादियों की नित्यलीला और सूरदास, नन्ददास आदि सगुण मतवादियों की नित्यलीला एक ही जाति की है।''[1] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सगुण और निर्गुण मतों की साम्य-सूचक कुछ और विशेषताओं का भी उल्लेख किया है। दोनों ही मतों मे भगवान् और भक्त को समान बताया गया है अर्थात् प्रेम के क्षेत्र में छोटे-बड़े का प्रश्न नहीं है। प्रेम की महिमा का वर्णन दोनों प्रकार के भक्तों ने समान रूप से किया है। प्रेमोदय के जो क्रम सगुणोपासक भक्तों ने निश्चित किये हैं वे सभी भक्तो मे समान रूप से समादृत हैं। अन्त में द्विवेदी जी ने लिखा है 'और भी बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनमें सगुण और निर्गुण मतवादी भक्त समान हैं। सभी भक्त अपनी दीनता पर जोर देते हैं आत्म-समर्पण में विश्वास रखते हैं और भगवान् की कृपा से ही मुक्ति मिल जाती है, इस बात पर सम्पूर्ण रूप से विश्वास करते है।''[2] विद्यापति के कई पदों में भी आत्मग्लानि, दीनता, तथा इष्टदेव के प्रति अनन्य प्रेम का भाव व्यक्त हुआ है।

सगुण और निर्गुण मतों के साम्य की यह किंचित् चर्चा इसलिए करनी पड़ी कि भ्रमवश ऐसा मान लिया गया है कि सूरदास तथा अन्य अष्टछापी कवियों के साहित्य में निर्गुण की जो विडम्बना की गई है वह इस बात का सबूत है कि ये

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० ८८ ८९।
२ वही पृ० ९४

कवि निर्गुण मत के कवियों से प्रभावित नहीं हुए और उनका भक्ति काव्य बीच के इन सन्त कवियों से सम्बन्धित न होकर जयदेव और विद्यापति से जोड़ा जाना चाहिए। मैं यह कदापि नहीं कहता कि जयदेव और विद्यापति का प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु सन्त कवियों ने सगुण मतवादी कृष्ण काव्य के निर्माण में जो महत्त्व-पूर्ण योग दिया है उसे कभी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इन कवियों की भक्ति सम्बन्धी कविताओं की पचीसों बातें सीधे निर्गुण मतवादी कवियों की परम्परा से प्राप्त हुई। नीचे मैं केवल कृष्णभक्तिसम्बन्धी कविताओं की ही चर्चा करना चाहता हूँ, दूसरे अन्य साम्यसूचक पक्षों पर काफी विचार होता रहा है।

नामदेव अपने कृष्ण-प्रेम का परिचय देते हुए कहते हैं कि 'कामी पुरुष कामिनी पियारी, ऐसी नामे प्रीति मुरारी।' इस प्रकार प्रेमास्पद को ऐसी अनन्य प्रीति करने वाले नामदेव ही कह सकते थे कि हे माधव मुझसे होड़ न लगाओ, यह स्वामी और जन का खेल है—

> बदहु किन होड़ माधव मोसिउ
> ठाकुर ते जन जन ते ठाकुर खेल परिउ है तो सिउ[1]

कविता हालाँकि निराकार उपासना से ही सम्बन्ध रखती है किन्तु भक्त के मन का यह अटूट विश्वास स्वामी के प्रति यह अनन्य भक्ति क्या हमें सूर की कही जाने वाली इन पंक्तियों की याद नहीं दिलाती ?

> बाहँ छुड़ाये जाते हो निबल जानि के मोहिं।
> हिरदय तें जब जाहुगे सबल बदौंगो तोहिं॥

प्रेम की अनन्तव्यापिनी पीड़ा से जहाँ चित्त आपूरित हो जाता है, वहीं वेदना की इतनी बड़ी पुकार सुनाई पड़ती है—

> मोकउ तू न विसारि तू न विसारि तू न बिसारै रमईया[2]

नामदेव के मन में जिस पुकार की विह्वलता है क्या वैसा ही भाव विद्यापति की निम्न पंक्तियों में नहीं दिखाई पड़ता—

> तोहे जनम पुनि तोहे समाइत
> सागरि लहरि समाना

भनइ विद्यापति सेष समनमय
तुअ बिनु गति नहिं आव
आदि अनादिक नाथ कहाओसि
अब तारन भार तोहरा

विद्यापति को जो लोग मात्र शृङ्गारिक कवि कहते हैं संभवतः ऐसे पदों पर ध्यान देना नहीं चाहते; किन्तु इन पदों का ऐतिहासिक महत्त्व है। विद्यापति के ये पद न केवल उस समय की भक्ति-पद्धति की एक खास विशेषता की सूचना देते हैं बल्कि इनसे यह मालूम होता है कि उनके स्तुतिपरक पद सगुण-निर्गुण दोनो प्रकार के भक्ति-काव्यों की परम्परा में हैं और उन्हें प्रभावित करने वाले हैं।

कबीर को अपने गोविन्द पर पूरा विश्वास है पर उन्हें पास जाने में डर लगता है। नाना प्रकार के मतवादों के चक्कर में पड़कर जीव कष्टों की गठरी ही बाँधता रह जाता है। धूप से उत्तप्त होकर किसी तरु-छाया में विश्वास करना चाहे तो तरु से ही ज्वाला निकलने लगती है, इन प्रपंचों को कबीर समझते हैं इसलिए वे विश्वास से कहते हैं, मैं तो तुझे छोड़कर और किसी की शरण मे नहीं जाना चाहता—

गोविन्दे तुम थैं डरपौं भारी
सरणाई आयो क्यूं गहिए यह कौन बात तुम्हारी
धूप दाझ तैं छांह तकाई मति तरवार सचु पाऊँ
तरवर मांहे ज्वाला निकसै तो क्या लेइ बुझाऊँ।
तारुण तरण तरण तारण तू और न दूजा जानौं
कहै कबीर सरनाई आयौं आन देव नहिं मानौं॥[1]

कबीर के पदों, साखियों तथा अन्य स्फुट रचनाओं से भगवान् के प्रति उनके अन्य प्रेम की बड़ी ही सहज और नैसर्गिक अभिव्यक्ति हुई है। मधुर भाव का बीजांकुर कबीर की रचनाओं में मिलता है। यह सत्य है कि ये रचनाएँ रहस्य की प्रवृत्ति से रँगी हुई हैं और इनमें निराकार परमात्मा और जीवात्मा के मिलन या वियोग के सुख-दुःख का चित्रण है किन्तु भाव की गहराई और प्रेम की व्यंजना का यह रूप सगुण मत के कवियों को अवश्य ही प्रभावित किए होगा क्योंकि उनकी रचनाओं में इसी भाव की समानान्तर पंक्तियाँ मिल जाती हैं।

नैंना अंतर आव तूं ज्यूं हौं नैन झपेउँ
ना हौं देखौं और कूं ना तुझ देखन देउँ
(कबीर)

इस प्रकार की पंक्तियाँ मीरा के एक पद में भी आती हैं प्रेम की वेदना में त्रस्त

जलहीन मीन की तरह यह आत्मा व्याकुल है। विरह का भुजंग इस शरीर को अपनी गुंजलक में लपेटे हैं, राम का वियोगी कभी जीवित नहीं रह सकता—

> बिरह भुवंगम तन बसै मंत्र न लागै कोइ
> राम वियोगी ना जिवै जिवै त बौरा होइ
> (मीरां)
>
> तुम बिनु व्याकुल केसवा नैन रहे जल पूरि
> अन्तरजामी छिप रहै तुम कत निवै दूरि
> आप अपरछन होइ रहै यह क्यों रैन बिहाइ
> दादू दरसन कारने तलफि तलफि जिय जाइ
> (दादू)
>
> तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान
> छूटि गए कैसे जन-जीवत ज्यों पानी बिनु प्रान
> (सूरदास)

रैदास मोह-पास में बाँधने वाले ईश्वर को चुनौती देते हुए कहते है कि तुम्हारे बन्धन से हम तुम्ही को याद करके छूट जायेंगे किन्तु माधव हमारे प्रेम-बन्धन से तुम कभी न छूट सकोगे—

> जउ हम बाँधे मोह फास हम प्रेम बंधिनि तुम बांधे
> अपने छूटन को जतन करहु हम छूटे तुम आराधे
> माधवे जानत हहु जैसी तैसी ! अब कहा करहुगे ऐसी ।।

रैदास उस अनन्त सौन्दर्य-मूर्ति पर निछावर हैं। यदि उनका प्रिय विशाल गिरिवर है तो वे उसके अन्तराल में निवास करने वाले मयूर हैं, यदि वह चाँद तो ये चकोर। रैदास कहते हैं कि माधव, यदि तुम प्रेम के इस बन्धन को तोड भी दो तो हम कैसे तोड़ सकते हैं, तुमसे तोड़कर और किससे जोड़ें—

> जउ तुव गिरिवर तउ हम मोरा, जउ तुव चंद तउ हम भये हैं चकोरा
>
> माधवे तुम तोरहु तउ हम नाहिं तोरहिं ।
> तुम सिउं तोरि कवन सिउं जोरहिं ।।

रैदास की इस प्रकार की कविताओं में प्रेम की जिस तरह अनुभूति और पीड़ा की विवृत्ति हुई है क्या वह परवर्ती काल में सूद की विरहिणी गोपियों की अनुभूतियों से मेल नहीं खाती ? सूर की गोपियाँ भी इस प्रकार की परिस्थिति मे यही कहती हैं :—

तिनका तोर करहु जनि हमसों एक वास की लाज निवाहियो
तुम बिनु प्रान कहा हम करिहैं यह अवलंब न सुपनेहु लहियो

कृष्ण भक्ति काव्य के विकास में संगीतकार कवियों ने भी कम योग नहीं दिया। संगीतज्ञ कवियों ने न केवल अपनी स्वर-साधना से भाषा को परिष्कार और मधुर अभिव्यंजना प्रदान की, उन्होंने न केवल अप्रतिम नाद-सौन्दर्य से कविता को अधिक दीर्घायु बनाया बल्कि अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा को आराध्य कृष्ण के चरणों में लुटा भी दिया। इसी कारण संगीतज्ञ कवियों के पद गेयता के लिए जितने लोकप्रिय हुए उतने ही उनमें निहित भक्ति के लिए भी। गोपाल नायक और बैजूबावरा के पदों में आत्म-निवेदन, गोपीप्रेम तथा भक्ति के विविध पक्षों का बड़ा ही विशद और मार्मिक चित्रण हुआ। गोपाल नायक की बहुत कम रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। अपने एक पद में वे रास का चित्रण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

कांधे कामरी गो अलाप के नाचे जमुना तीर नाचे जमुना तीर
पीछे रे पांव रे लेलि नाचि लोइ मांगवा।
भुअ आली मृदंग बांसुरी बजावैं गोपाल बैन बतरस ले अनंद
ले मुराद मालवा।

(राग कल्पद्रुम से)

बैजू की कविताएँ कृष्ण-लीला के प्रायः सभी पक्षों को दृष्टि में रखकर लिखी गई हैं। नटवर की रूप-मोहिनी, गोपी-प्रेम, विरह, रास, मान, मनुहार आदि सभी पक्षों पर लिखी गई इन कविताओं में कवित्व शक्ति का बहुत अच्छा प्रस्फुटन दिखाई पड़ता है। विरह के वर्णन में बैजू ने उद्दीपनों तथा अन्य कवि परिपाटी विहित उपकरणों का प्रयोग नहीं किया है, बड़ी सहज और निरलंकृत भाषा में उन्होंने प्रियवियोग की वेदना को व्यक्त किया है—

प्यारे बिनु भर आए दोउ नैन
जबते स्याम गवन कियो गोकुल तब तें नाहीं परत री चैन
लगे न भूख न प्यास न निंद्रा मुख आवत नहिं बैन
बैजू प्रभू कोई आन मिलावै वाकी बलिहारी दिवस रैन

इस प्रकार हमने देखा कि कृष्णभक्ति का साहित्य कई स्रोतों से विकसित होता हुआ हिन्दी वैष्णव कवियों को प्राप्त हुआ। विद्यापति तथा अन्य वैष्णव कवियों के भक्ति साहित्य का अध्ययन करने तथा उसके तत्त्वों की सही व्याख्या करने के इच्छुक लोगों को इस पृष्ठभूमि का परीक्षण करना चाहिए सगुण और निर्गुण

का इतना बड़ा विभेद जैसा कि आजकल माना जाता है, हमें इन कवियों के काव्य का सही मूल्यांकन करने में बाधा पहुँचाएगा। विद्यापति के काव्य के विषय में प्रायः यह शंकायें की जाती हैं कि यह रहस्यवादी भक्ति काव्य है, या केवल शृङ्गारप्रधान प्रेमकाव्य। भक्ति और शृङ्गार के विषय में भी हमारे मन में कुछ धारणाएँ बद्धमूल हो गई हैं। बहुत से लोग विद्यापति आदि के नख-शिख वर्णनों को देखकर इतने घबरा जाते हैं कि उन्हें इन कवियों की भक्ति भावना पर ही अविश्वास होने लगता है। प्रत्येक महाकवि अपनी परम्परा का परिणाम होता है। यह सच है कि जीवंत कवि पुरानी रूढ़ियों को तोड़कर नई भावधारा की सृष्टि करता है और पुराने प्रथा-प्रथिक वर्णनों की शृङ्खला का विच्छेद करके नये उपमान-मुहावरे, प्रतीकों का निर्माण करता है किन्तु कोई अपना परम्परा से एकदम विच्छिन्न कभी हो ही नहीं सकता। विद्यापति के काव्य को समझने के लिए तत्कालीन काव्य की मर्यादाओं को, नियमावलियों को तथा कविजनोचित उस परम्परा को समझा होगा जो उन्हें विरासत के रूप में मिली थी।

निर्गुण काव्य का सम्बन्ध जैनधर्मी कवियों से या सिद्धों से जोड़ा जाता है। इस प्रकार निर्गुण मतवादी प्राचीनता प्रमाणित करने का तो साधन प्राप्त हो जाता है। तो इसका आरम्भ १६वीं शताब्दी में मानना अनिवार्य हो जाता है। यह स्थिति कितनी काल्पनिक है, इसे हमने ऊपर देखा है। यदि अपभ्रंश में प्राप्त होने वाली रचनाओं का सही विवेचन किया जाये तो सगुण काव्य को १०वीं शताब्दी से ही आरंभिक मानना पड़ेगा। अपभ्रंश साहित्य की भक्तिपरक रचनाओं की मुख्य विशेषताएँ ये हैं—

(१) राधाकृष्ण सम्बन्धी पदों में भक्ति और शृङ्गार का समन्वय।
(२) स्तुतिपरक रचनाओं का बाहुल्य। इनमें कृष्ण और शिव की स्तुति समवेत रूप में की गई है।
(३) शृङ्गार का रूप बहुत मुखर है।
(४) निर्गुण मतवाद की सृष्टि करने वाली रचनाओं में भी आत्म-निवेदन, शरण-प्रणति तथा भक्त के अनन्य प्रेम की सूचना देनेवाली प्रवृत्तियाँ मिलती हैं।
(५) गोपाल नायक और बैजू बावरा जैसे संगीतज्ञ कवियों के काव्य में संगीत, प्रेम और भक्ति का समन्वय है जैसा विद्यापति के काव्य में दिखाई पड़ता है।

●

८ | शृंगार और भक्ति

भक्ति और शृङ्गार दोनों ही मध्यकालीन साहित्य की अत्यन्त प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। भक्त कवियों के शृङ्गारिक वर्णनों को लेकर आलोचकों ने बहुत निर्मम आक्षेप किये हैं। आचार्य शुक्ल जैसे अपेक्षाकृत उदार और सिद्ध आलोचक ने भी सूर के बारे में विचार देते हुए उनके शृङ्गारिक प्रेम के विषय में यही शिकायत की है। उन्होंने लिखा है कि 'समाज किधर जा रहा है इस बात की परवाह ये नहीं रखते थे। यहाँ तक कि अपने भगवत्प्रेम की पुष्टि के लिए जिस शृंगारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना से उन्होंने जनता को रसोन्मत्त किया उसका लौकिक स्थूल दृष्टि रखनेवाले विषयवासना पूर्ण जीवों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा, इसकी ओर इन्होंने ध्यान न दिया। जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को इन भक्तों ने अपनी गूढ़ातिगूढ़ चरम भक्ति का विषय बनाया उसको लेकर आगे के कवियों ने शृंगार की उन्मादकारिणी उक्तियों से हिन्दी काव्य को भर दिया।' शुक्ल जी के इस कथन से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली तो यह कि वे कृष्णभक्ति में शृंगार की अति वर्णना को समाज की दृष्टि से कल्याणकारी नहीं मानते, दूसरी यह कि रीतकाल के कामोद्दीपक चित्रणों की अतिशयता का कारण भक्त कवियों के शृंगारिक चित्रणों को ही मानते हैं। इस प्रकार के मत दूसरे कतिपय आलोचकों ने भी व्यक्त किये हैं। प्रश्न उठता है कि क्या हिन्दी साहित्य में, सूरदास के पहले शृंगारपूर्ण चित्रणों का अभाव है। क्या भक्त कवियों ने शृंगारिक चित्रण की शैली को आकस्मिक रूप से उद्‌भूत किया, क्या इस प्रकार के वर्णनों की कोई परिपाटी उनके पहले के साहित्य में नहीं थी। ऐसे प्रश्नों के उत्तर के लिए हमें मध्यकालीन संस्कृति, समाज और उसमें प्रचलित विश्वासों का पूर्ण विश्लेषण करना होगा। हमें यह देखना होगा कि शृंगार की तत्कालीन कल्पना क्या थी? शृंगार की मर्यादा क्या थी और उसके किस स्वरूप को समाज में स्वीकार किया गया। जयदेव जैसे कवि ने शृंगार और भक्ति को परस्पर समन्वित भावधारा के रूप में ग्रहण किया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि यदि 'हरि-स्मरण' में मन सरस हो और यदि विलास कला में कुतूहल हो तो जयदेव की मधुर कोमलकान्त पदावली को सुनो :

यदि हरि स्मरणे सरस मनो यदि कुतूहलम

वह कौन-सी सामाजिक परिस्थिति थी जो जयदेव जैसे विख्यात रससिद्ध कवि को यह निःसंकोच कहने को प्रेरित करती थी कि काम-कला और हरि-स्मरण उनकी पदावली में एकत्र सुलभ है। यह केवल जयदेव जैसे कवि के मन की ही बात नहीं है। काव्य तो व्यक्ति के मन की अभिव्यक्ति है। इसलिए उसमें निहित सत्य को हम वैयक्तिक धारणा भी कह सकते हैं। उस काल के धार्मिक ग्रन्थों में जो भक्ति के नियामक तत्वों का विश्लेषण करते हैं, शृंगार और भक्ति की इस समन्वयधर्मिता के बारे में विशद् रूप से विचार किया गया है। भक्ति की चरमोपलब्धि के लिए साधक को कई सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती हैं। भागवत के एक श्लोक में श्रद्धा तथा रति को भक्ति का क्रमिक सोपान बताया गया है—

सतां प्रसंगान्मम वीर्यसंविदो भवंति हृत्कर्णरसायनाः कथाः
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति

(भागवत ३।२०।२२)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने स्त्री पूजा और उसका वैष्णवरूप शीर्षक निबन्ध में इस विषय पर काफी विस्तार के साथ विचार किया है।[1] उन्होंने लिखा है कि भारतवर्ष में परकीया-प्रेम बहुत पुराने जमाने से एक खास सम्प्रदाय का धर्म-सा था। कहा जाता है कि ऋग्वेद (१०।१२६।२५) से इस परकीया प्रेम का समर्थन होता है कि ऋग्वेद (८।५।२७।२८) में उसका स्पष्ट वर्णन पाया जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् (२।१३।१) 'कांचन परिहरेत्' मन्त्रांश का अर्थ आचार्य शंकर ने इस प्रकार लिखा है—जो वामदेव सामन् को जानता है उसे मैथुन की विधि का कोई बन्धन नहीं है—उसका मत है कि किसी स्त्री को मत छोड़ो। अवश्य ही इस मतवाद को वैदिक युग में बहुत अच्छा नहीं समझा जाता होगा।[2] कथावस्तु जातक (२३।२) और मज्झिम निकाय (भाग १ पृष्ठ १५५) से भी सिद्ध होता है कि बुद्ध काल में भी यह प्रथा प्रचलित थी। भगवान् बुद्ध ने कई स्थलों पर इसकी निन्दा की है।[3]

बौद्ध धर्म के अन्तिम दिनों में वज्रयान सम्प्रदाय का बड़ा जोर था उसके प्रभाव से 'पंचमकारसेवन' का बहुत प्रचार हुआ। महासुख की प्राप्ति के लिए त्रिपुर-सुन्दरी को पराशक्ति के रूप में निरंतर साथ रखना आवश्यक माना जाने लगा। तंत्रवाद में रति और शृंगार की भावना को एक नया स्वरूप और आध्यात्मिकता का रंग मिला। वैष्णव धर्म में नारी पुरुष की पूरक दिव्य शक्ति

---

१. सूर साहित्य, संशोधित संस्करण १९५६, बम्बई, पृ० २०-६०।
२. वही, पृ० २३-२४।
३. दी कलकत्ता रिव्यू, जून १९२७, पृ० ३६२-३ तथा मनीन्द्रमोहन बोस क 'पोस्ट चैतन्य सहजिया कल्ट पृ० १०१

के रूप मे अवतरित हुई। उज्ज्वल नीलमणि में राधा को कृष्ण की ह्लादिनी शक्तिस्वरूपा बताया गया जिनके सहवास के बिना कृष्ण अपूर्ण रहते है।[1] चैतन्य देव ने परकीया-प्रेम को भक्ति का मुख्य साधन बताया। नारी-पुरुष के सामान्य प्रेम के विविध पक्षों का ज्यों का त्यों भक्ति के विविध पक्षों के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया। कामशास्त्र का भक्ति पर क्या प्रभाव पड़ा, इस पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं।

यह सैद्धान्तिक पक्ष है। विद्यापति, सूरदास तथा अन्य व्रजकवियों को इसमे वैचारिक प्रेरणा ही मिली। शृंगार के वर्णनों की व्यावहारिक प्रेरणा उन्हे गीतगोविन्द तथा प्राचीन भागवतादि संस्कृत ग्रंथों से तो मिली ही, किन्तु सीधा प्रभाव उनके ऊपर प्राचीन व्रजभाषा के काव्य का पड़ा इनमें संदेह नहीं। प्राचीन व्रज का मतलब यहाँ प्राकृत-अपभ्रंश की परम्परा से है।

ऐतिहासिक-शृंगार रचनाओं का आरम्भ छठवीं-सातवीं शताब्दी के संस्कृत वाङ्मय में दिखाई पड़ता है। ऐसा नहीं कि इस प्रकार की रचनाएँ पहले के साहित्य में प्राप्त नहीं होतीं। वैदिक साहित्य में भी इस प्रकार की रचनाओ का संकेत मिलता है किन्तु वहाँ मानव मन में दैवी शक्तियों का आतंक तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का प्रभाव उग्र रूप में वर्तमान है। संस्कृत काव्य देवताओं के स्तुति गान की वैदिक परम्परा की पृष्ठभूमि से विकसित हुआ इसलिए उसमे पौराणिकता और नैतिक रूढ़िवादिता की सर्वदा प्रधानता बनी रही। विद्वानों की धारणा है कि लौकिक शृंगारपरक काव्यों का आरम्भ प्राकृत काल से हुआ। खासतौर से चौथी-पाँचवीं शताब्दी में विभिन्न जातियों के मिश्रण और उत्तर-पश्चिम से आई हुई विदेशी जातियों की संस्कृति के संपर्क के कारण। हूणों और आभीरों के भारत आगमन के बाद मध्यदेशीय प्राकृत भाषा इनके सम्पर्क और प्रभाव से एक नये रूप में विकसित हुई और इनकी स्वच्छन्द शौर्य और रोमांस की प्रवृत्ति ने इस भाषा के साहित्य को भी प्रभावित किया। मध्यकालीन संस्कृति से निजंधरी कथाओं का सहारा लेकर रोमांस लिखने की परिपाटी जिसका परम विकास बाणभट्ट में दिखाई पड़ता है—शुद्ध रूप से भारतीय शैली नही कही जा सकती। अपभ्रंश की रचनाएँ तो इस मध्यकालीन संस्कृत रोमांस की पद्धति से भी भिन्न हैं क्योंकि इसमें आमुष्मिकता का आतंक बिल्कुल ही नहीं दिखाई पड़ता। हाल की गाथा-सतसई के वर्ण्य-विषय की नवीनता की ओर संकेत करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमियों की रसमयी क्रीड़ाएँ, उनका घात-प्रतिघात इस ग्रन्थ में अतिशय जीवित रूप में प्रस्फुटित हुआ है। अहीर और अहीरिनियों की प्रेमगाथाएँ, ग्रामवधूटियों की शृंगार-चेष्टाएँ, चक्की पीसती हुई या पौधों को सींचती हुई सुन्दरियों के मर्मस्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओं का भावोत्तेजन आदि बातें इतनी जीवित, इतनी

1 उज्ज्वल नीलमणि ——— ५।

सरस और इतनी हृदयस्पर्शी हैं कि पाठक बरबस इस सरल काव्य की ओर आकृष्ट हो जाता है। यहाँ वह एक अभिनव जगत में प्रवेश करता है जहाँ आध्यात्मिकता का झोला नहीं है। कुश और वेदिका का नाम नहीं सुनाई देता। स्वर्ग और अपवर्ग की परवाह नहीं की जाती, इतिहास और पुराण की दुहाई नहीं दी जाती।' द्विवेदी जी ने बड़े सूक्ष्म ढंग से मध्यकालीन शृंगार की इस नयी धारा और प्राचीन संस्कृत काव्यों की चेतना का अन्तर स्पष्ट किया है। हाल की गाथा सप्तशती को विद्वानों ने लोक-साहित्य की परम्परा का प्रभाव बताया है। वह लोक-साहित्य-परम्परा क्या थी, इसका निर्णय देना कठिन है, किंतु उसे लोक-साहित्य-परम्परा के अग्रिम विकास का विवरण अवश्य दिया जा सकता है क्योंकि वह अपभ्रंश में सुरक्षित है।

हाल की गाथा-सतसई में ही शृंगार के दोनों पक्षों का जो चित्रण प्रस्तुत किया गया है, वह इतना मार्मिक है कि परवर्ती काल के कवियों—विद्यापति, सूरदास आदि ने उन उक्तियों को बिल्कुल अपना बना लिया। इस तरह के दो एक उदाहरणों को देखने से इस काव्य की चेतना और परवर्ती काव्य को प्रभावित करने की शक्ति का पता चलता है।

परदेशी प्रिय लौटकर आता नहीं। नायिका उसके प्रेम की अतिशयता के कारण 'प्रिय आज ही गया है, आज ही गया है' ऐसा कहकर जो रेखा खींच देती है उनसे दीवार भर गई किन्तु वह आया नहीं—

अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति गण्डीए
पढ़म ब्बिअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहिं चित्तलियो (३।८)

विद्यापति की नायिका तो दिवस की रेखा खींचते-खींचते अपने नाखूनों को ही खो चुकी है, किन्तु श्याम मथुरा से लौटने का नाम नहीं लेते—

कत दिन माधव रहब मथुरापुर कवे घुरब विहि बाम
दिवस लिखि लिखि नखरे खोयाओल बिछुरल गोकुल नाम

विद्यापति का इसी भाव का एक दूसरा पद देखिये :—

कालिक अवधि करिअ पिय गेल
लिखइते कालि भीति भरि गेल
भले प्रभात कहत सबहीं
कह कह सजनि कालि कबहीं

हेमचन्द्र संकलित दोहों में भी एक में यही भाव व्यक्त किया गया है

ओ मइ विण्णा विअहृडा पवसेत्तेण
ताण गणन्तिएँ अंगुलिउ जज्जारिआउ नटेण

गाथा सप्तशती की एक दूसरी गाथा में नायिका अपने प्रिय के आगमन पर कहती है कि तुम्हारे आने पर सभी प्रकार के मंगल आयोजन करके तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ। नयनोत्पल से मैंने पथ प्रकीर्ण किया है और कुचों का कलश बनाकर हृदय के द्वार पर स्थापित कर दिया है—

रत्थापइण्णणा अणुप्पला तुमं सा पड़िच्छये एन्तम
दारणि हियेहिंदेहिं वि मंगलकलसेंहिव थणेहिं (२।४०)

सूर की गोपी कृष्ण के आने पर अपनी हृदय की कमल-कुटी में आसन ठीक करती है और मंगल कलश की तरह उसके स्तन चोली के बन्धन तोड़कर स्वयं ही प्रकट हो जाते हैं—

करत मोहिं कछुवै न बनी
हरि आये चितवत ही रही सखि जैसे चित्रधनी
अति आनन्द हरष आसन उस कमल कुटी अपनी
हृदय उमंगि कुच कलस प्रकट भये टूटी तरिक तनी
(सूरसागर १८८०)

विद्यापति की राधा कहती है कि प्रियतम, तुम्हारे आने पर मैं अपनी देह के प्रत्येक अंग से मांगलिक आयोजन का साज करूँगी। दोनों कुचों को कनक-कुंभ की तरह स्थापित करूँगी और आँखों में काजल लगाकर उन्हें अपशकुन निवारणार्थ रखे हुए काजल-चित्रिण दर्पण की तरह रखूँगी—

पिया जब आओब मझु गेहे
मंगल जतनु करब निज देहे
कनअ कुंभ करि कुच युग राखी
दरपन धरब काजर देइ आँखी

प्रिय से मिलने की उत्सुक नायिका अभिसार के लिए जाने से पहले इतनी प्रेम-विह्वल हो गई है कि वह निमीलिता सी अपने घर मे ही चहलकदमी कर रही है—

अज्ज मए गन्तव्यं घण अन्धारे वि तस्स सुहस्स
अज्जा निमीलिच्छी पअ परिवाडि घरे कुणइ (३।४९)

सूर की राधा की भी तो अभिसार की उत्सुकता के कारण यही हालत हो जाती है—

> आप उठी आँगन गई फिरि घर ही आई
> कबधौं मिलिहौं स्याम कौं गल रह्यो न जाई
> फिरि फिरि अजिरहिं भवनहिं तलवेली लागि
> सूर स्याम के रस भरी राधा अनुरागि
>
> (सूरसागर १८६६)

संक्रान्तिकालीन अपभ्रंश में लिखे हुए दोहों में मुंजराज और मृणालवती के प्रेम पर लिखे हुए दोहे अपनी रसमयता और सांकेतिका के लिए प्रसिद्ध हैं। आरम्भिक ब्रजभाषा में लिखे दोहे शृङ्गार काव्य के 'मुक्ताहल' हैं। इसमे सहज प्रेम और नैसर्गिक माधुर्य की एक पराकाष्ठा दिखाई पड़ती है—

> मुंज भणइ मुणालवइ जुव्वण गयुं न झूरि
> जो सक्कर सय सण्ड थिय सोवि स मीठी चूरि

शर्करा का सौंवाँ खण्ड भी क्या मिठास में कम होता है ? मुंज अपनी प्रौढा नायिका को हर प्रकार से आश्वस्त करना चाहता है।

हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में संकलित दोहों से प्रेम और शृङ्गार की अत्यन्त स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है। विरह की विमूढ़ वेदना को व्यक्त करने वाले एक-एक दोहे में परिवर्ती ब्रजभाषा के विरह वर्णनों का पूरा इतिहास भरा पड़ा है। प्रिय-विश्लेष-दुख से पीड़ित नायिका पी-पी पुकारनेवाले चातक से कहती है—रे निरीह चातक क्यों व्यर्थ 'पिउ पिउ' पुकार रहा है ? इतना रोने से क्या होगा ? तेरी जल से और मेरी वल्लभ से कभी आशा पूरी न होगी—

> बप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास
> तुह जलि महु पुणु वल्लहइ बिहुँ वि न पूरिअ आस

पपीहे के बार-बार पुकारने पर वेदना-विजड़ित चित्त से वह निराशा को स्वाभाविक मानती हुई, आक्रोश भी व्यक्त करती है; चिल्लाने से कुछ न होगा, विमल जल से सागर भरा है किन्तु अभागे को एक बूंद भी नहीं मिलती—

> बप्पीहा कइं बोल्लिएण निग्घिण बारहिं बार
> सायर भरिअइ विमल जल लहइ न एकइ धार

सूर की गोपियों के विरह-वर्णन को जिन्होंने पढ़ा है वे जानते है कि पपीहा के

प्रति प्रेम-आक्रोश, सहानुभूति के कितने शब्द गोपियों ने नाना प्रकार के करुणा-पूर्ण भावोच्छ्वास के साथ सुनाये हैं—

(१) सखी री चातक मोंहि जियावत
 जैसे हि रैनि रटत हों पिव-पिव तैसेहि वह पुनि गावत (३३३४)
(२) अजहु पिय पिय रजनि सुरति करि झूठों ही मुख माँगत वारि।
 (३३५)
(३) सब जग सुखी दुखी तू जल बिनु तउ न उर की बिथा विचारत।
 (३३३८)

मिलन या संयोग शृङ्गार में जड़ता या अचेतन की स्थिति का वर्णन किया जाता है। अपभ्रंश दोहे में एक नायिका कहती है कि अंग से अंग न मिले, अधरों से अधर न मिले, मैंने तो प्रिय के मुख-कमल को देखते ही रात बिता दी—

अंगहिं अंग न मिलिउ हलि अहरें अहर न पत्तु
पिउ जोअन्तिहे मुंह कमल एम्वइ सुरउ समत्तु

प्रिय के सौन्दर्य का ऐसा ही अप्रतिम चित्रण सूरदास की रचनाओं में भरा पड़ा है—

कमल नैन मुख बिन अवलोकें रहत न एक घरी
तब तें अंग छवि निरखत सो चख तें न टरी
(सूर० ६३८६)

इन दोहों में कुछ तो सच्चे शृङ्गार और प्रेम के दोहे हैं, कुछ शृङ्गारिक उक्तियों और उत्तेजन भाव के भी हैं जिनका अतिवादी विकास बाद में बिहारी आदि रीतिकालीन कवियों के काव्य में दिखाई पड़ता है। इनमें शृङ्गार का गम्भीर रूप नहीं दिखाई पड़ता, ऊहात्मक अथवा अत्यन्त सस्ती कोटि की कामुक और शृङ्गारिक चेष्टाओं की विवृत्ति दिखाई पड़ती है। रीतिकालीन कविता को सस्ते किस्म के शृङ्गार की प्रेरणा भी यहीं से मिली, इसे भक्तिकाल के शृङ्गार का ही विकास नहीं कहना चाहिए, वैसे सूर तथा अन्य भक्त कवियों ने शृङ्गार का कहीं-कहीं बड़ा उद्दाम और विक्षोभक चित्रण भी किया है जो मर्यादित नहीं है, ऐसे चित्रणों ने ही रीतिकालीन कविता को शृङ्गार की अश्लील कोटि तक पहुँचाने में मदद की। इसके लिए कुछ अंशों में सूर, विद्यापति आदि के रति और संभोग के शृङ्गारिक वर्णन भी उत्तरदायी हो सकते हैं। इस प्रकार अष्टछाप के भक्त कवि अथवा रीतिकालीन कवियों की घोर शृङ्गारिक चेष्टाओं

वाले काव्य की भी प्रेरणा प्राचीन व्रज के इन दोहों में वर्तमान थी—

बिट्टी ए मइ भणिय तुहुं मा कुरु वंकी दिट्ठ
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हिइय पइट्ठ

हे पुत्री मैंने तुमसे कहा था कि दृष्टि बाँकी मत कर। यह अनीदार भाले की तरह हृदय में पैठकर चोट करती है।

●

२ | जैन कवियों की शृंगार और प्रेमभावना

जैन काव्य धार्मिक माने जाते हैं। किन्तु जिन लोगों को यह देखना हो कि धार्मिक काव्यों में शृङ्गार का सम्मिश्रण कैसे होता है वे कृपाकर इन धार्मिक जैन काव्यों को देखें।

जैन-कवियों पर यह आरोप लगाया जाता है कि उनमें जीवन-विरक्ति बहुत अधिक मात्रा में है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने इसी की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि 'साधारणतया जैन साहित्य में जैन धर्म का ही शान्ति या वाता-वरण व्याप्त है, संत के हृदय के शृङ्गार कैसा ?' जैन काव्य में शान्ति या शम की प्रधानता है अवश्य किन्तु वह आरम्भ नही परिणति है। सम्भवत: पूरे जीवन को शम या विरक्ति का क्षेत्र बना देना प्रकृति का विरोध है। जैन कवि इसे अच्छी तरह जानता है इसलिए उनसे शम या बिरक्ति को उद्देश्य के रूप में मानते हुए भी सांसारिक वैभव, रूप, विलास और कामासक्ति का चित्रण भी पूरे स्वार्थ के साथ प्रस्तुत किया है। जीवन का भोग-पक्ष इतना निर्बल तथा सहज आक्राम्य नही होता। इसका आकर्षण दुर्निवार्य है, आशक्ति स्वाभाविक; इसीलिए साधना के कृपाण-पथ पर चलने वालों के लिए तो यह और भी भयंकर हो जाते है। भिक्षु वज्रयानी बन जाता है, शैव कापालिक। राहुल जी ने लिखा है कि 'इस युग मे तन्त्र-मन्त्र, भैरवी चक्र या गुप्त यौन स्वातन्त्र्य का बहुत जोर था। बौद्ध और ब्राह्मण दोनों ही इसमें होड़ लगाये हुए थे। भूत-प्रेत, जादू-मंतर और देवी-देवतावाद में जैन भी किसी से पीछे नहीं थे। रहा सवाल वाम-मार्ग का, शायद उसका उतना अ।" नहीं हुआ, लेकिन यह बिलकुल ही नहीं था, यह भी नहीं कहा जा सकता। आखिर चक्रेश्वरी देवी यहाँ भी विराजमान हुई और हमारे मुनि कवि भी निर्वाण-कामिनी के आलिंगन का खूब गीत गाने लगे।[२] सिद्ध साहित्य की अपेक्षा जैन साहित्य में रूप-सौन्दर्य का चित्रण कहीं ज्यादा बारीक और रंगीन हुआ है, क्योंकि जैन धर्म का संस्कार रूप को निर्वाण प्राप्ति के लिए सहायक नहीं मानता, रूप अदम्य आकर्षण की वस्तु होने के कारण निर्वाण में बाधक है इस [illegible] के कारण जैन कवियों ने शृङ्गार का बड़ा ही उद्दाम वासना पूर्ण और [illegible] चित्रण किया है जड़ पदार्थ के प्रति मनुष्य का आकर्षण

जितना घनिष्ठ होगा, उससे विरक्ति उतनी ही तीव्र। शमन शक्ति की महत्ता का अनुमान तो इन्द्रिय भोग-स्पृहा की ताकत से ही किया जा सकता है। नारी के शृङ्गारिक रूप, यौवन तथा तज्जन्य कामोत्तेजना आदि का चित्रण इसी कारण बहुत सूक्ष्मता से किया गया है।

मुनि-स्थूलभद्र पाटलिपुत्र में चौमासा बिताने के लिए रुक जाते हैं, इनके रूप और ब्रह्मचर्य से तेजोदीप्त शरीर को देखकर एक वेश्या आशक्त हो जाती है। अपने सौन्दर्य के अप्रतिम संभार से मुनि को वशीभूत करने के लिए तत्पर उस रमणी का रूप कवि इन शब्दों में साकार करता है :—

> कन्न जुयल जसु लहलहंत किर मयण हिंडोला
> चंचल चपल तरंग चंग जसु नयण कचोला
> सोहइ जासु कपोल पालि जरमु गालि मसूरा
> कोमल विमल सुकंठ जासु वाजइ सखतूरा

प्रकम्पित कर्ण युगल मानो कामदेव के हिंडोले थे, चंचल उर्मियों से आपूरित नयन कचोले, सुन्दर विषैले फल की तरह प्रफुल्लित कपोल-पालि, शंख की तरह सुडौल सुचिक्कण निर्मल कंठ……उसके उरोज शृङ्गार के स्तवक थे, मानो पुष्पधन्वा कामदेव ने विश्वविजय के लिए अमृत कुंभ की स्थापना की थी :—

> तुंग पयोहर उल्लसई सिंगार थवक्का
> कुसुम बाण निय अमिय कुंभ किर थापण मुक्का

कहीं कुच प्रिय आगमन के अवसर पर मंगल-कलश बनते हैं, कहीं विजय-प्रयाण के अवसर पर। नव यौवन से विहँसती हुई देह वाली, प्रथम प्रेम से उल्लसित रमणी अपने सुकुमार चरणों के आशिंजित पायल की रुनझुन से दिशाओं को चैतन्य करती हुई मुनि के पास पहुँची तो आकाश में कौतुक-प्रिय देवताओं की भीड़ लग गई। वेश्या ने अपने हाव-भाव से मुनि को वशीभूत करने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु मुनि का हृदय उस 'तप्त लोहे' की तरह था, उसकी बात से बिंध न सका। जिसने सिद्धि से परिणय कर लिया और संयम श्री के भोग में लीन है, उसे साधारण नारी के कटाक्ष कब डिगा सकते है :—

> मुनिवइ जंपइ वेस सिद्धि रमणी परिणेवा
> मनु कीनउ संयम सिरि सों भोग रमेवा

यह है जैन कवि की रूपासक्ति वह तिल तिल जुटाकर सौन्दर्य के

जिस ऐन्द्रजालिक माया-रूप का निर्माण करता है, उसी को एक ठेस से बिखरा देने में उसे कभी संकोच नहीं होता। प्रेम के प्रसंगों में ऋतुवर्णन का प्रयोग प्राय होता है। यह वर्णन उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उद्दीपनगत प्रकृति-चित्रण प्रायः प्रथा-प्रथित रूढ़ियों में आक्रान्त होता है। उपकरण प्रायः निश्चित हैं। उन्हीं के आधार पर प्रकृति को इतना आकर्षक और रुचिकर बनाता है कि वह निश्चित भाव को उद्दीप्त कर सके। ऐसी अवस्था में प्रायः वस्तुओं का नाम-परिगणना तो हो जाती है, किन्तु उद्दीपन का कार्य भी पूरा नहीं होता यानी वह प्रकृति-वर्णन सहृदय के मन को रंच मात्र भी नहीं छू पाता। जिन पद्मसूरि ने थूलिभद्द फागु में वर्षा का वर्णन किया है। यह वर्णन वस्तु-परिगणना पद्धति का ही है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु शब्दों का चयन कुछ इतना उपयुक्त है कि प्रकृति का एक सजीव चित्र खड़ा हो जाता है। ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग प्रकृति के कई उद्दाम उपकरणों को रूपाकार देने में सहायक हुए हैं :—

> झिरि झिरि झिरिमिर झिरमिर ए मेहा बरिसंत
> खलहल खलहल खलहल ए बादला बहंत
> झब झब झब झब झब ए बिजुलिय झंबकइ
> थरहर थरहर थरहर ए बिरहिणी मणु कंपइ ॥६॥
> महुर गंभीर सरेण मेह जिमि जिमि गाजन्ते
> पंच बाण निअ कुसुम बाण तिम तिम साजन्ते
> जिमि जिमि केतकि मनमहंत परिमल बिहसावइ
> तिमि कामिय चरण रगि निज रमणि मनावइ ॥७॥

उसी प्रकार नेमिनाथ चौपई में नेमि और राजमति के प्रेम का अत्यन्त स्वाभाविक और संवेद्य चित्रण किया गया है। पारिवारिक प्रेम की इस पवित्र वेदना मे किस सहृदय का मन द्रवीभूत नहीं हो जाता ? मधुमास के आगमन पर पवन के झकोरों से वृक्षों के जीर्ण पत्ते टूट कर गिर पड़ते हैं मानो राजल के दुख से वृक्ष भी रो पड़ते हों। चैत में जब नव वनस्पतियाँ अंकुरित हो जाती हैं चारों ओर कोयल की टहकार गूँजने लगती है। कामदेव अपने पुष्पधनु से राजल के हृदय को बेधने लगता है :—

> फागुन वागुनि पन्न पडन्त, राजल दुक्ख कि तरु रोयन्त
> चैतमास वणसइ पंगुरइ, वणि वणि कोयल टहुका करइ
> पंचबाण करि धनुष धरेइ बेझइ बाडी राजल देह
> कुइ सखि भाखेउ मास बसंत इणि खिल्लिजइ जइ हुत कंत

किन्तु माधवी क्रीडा के लिए लालायित राजल का पति नहीं आता ज्येष्ठ का

उत्तप्त पवन धू-धूकर चलने लगता है, नदियाँ सूख जाती है, चंपालता को पुष्पित देखकर नेह-पगी राजल बेहोश हो जाती है—

> जिट्ठ बिरह जिमि तप्पर सूर, क्षण बियोग सूखिउ नइ पूर
> पिक्खिउ फुल्लिउ चंपइ बिल्लि, राजल मूर्छी नेह गहिल्लि

जैन कवि पौराणिक चरित्रों में भी सामान्य जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की ही स्थापना करता है। उसके चरित्र अवतारी जीव नहीं होते इसीलिए उनके प्रेमादि के चित्रण देवत्व के आलक से कभी भी कृत्रिम नहीं हो पाते। वे एक ऐसे जीवात्मा का चित्रण प्रस्तुत करते हैं जो अपनी आंतरिक शक्तियों को वशीभूत करके परमेश्वर पद को प्राप्त करने के लिए निरन्तर सचेष्ट है। उसकी ऊर्ध्वमुखी चेतना आध्यात्मिक वातावरण में साँस लेती है, किन्तु पंक से उत्पन्न कमल की तरह उसकी जड़-सत्ता सासारिक वातावरण से अलग नहीं है। इसीलिए संसार के अप्रतिम सौन्दर्य को भी तिरस्कृत करके अपने साधना-मार्ग पर अटल रहने वाले मुनि के प्रति पाठक अपनी पूरी श्रद्धा दे पाता है। जैन शृङ्गार-वर्णन के इस विवरण से इतना स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक काव्यों में जिनका मुख्य उद्देश्य भक्ति का प्रचार था, शृङ्गार कभी उपेक्षित नही रहा, बल्कि इन वर्णनों से तो इसकी अतिशयता का भी पता चलता है।

नखशिख तथा रूप-चित्रण

रीतिकाल की शैली को यदि एकदम सकुचित अर्थ में कहना चाहें तो नख-शिख चित्रण और नायिक भेद की शैली कह सकते हैं। परवर्ती संत साहित्य मे ही इस प्रकार की शैली का प्रादुर्भाव हो गया था। एकदम रूढ़ अर्थ में उसे ऐसा न भी मानें तो भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि भवभूति, माघ, श्रीहर्ष आदि की कृतियों में नख-शिख वर्णन अथवा मानव रूप-चित्रण ज्यादा अलंकरण-प्रधान और विलक्षणता-बोधक होने लगा था। आचार्य शुक्ल ने नख-शिख वर्णनों की अतिवादी परिणति की निन्दा करते हुए, मनुष्य के सहज रूप के चित्रण की विशेषता बताते हुए कहा है कि 'आकृति चित्रण का अत्यन्त उत्कर्ष वहाँ समझना चाहिए जहाँ दो व्यक्तियों के अलग-अलग चित्रों में हम भेद कर सकें।'[1] शुक्ल जी ने इसी प्रसंग में रीतिकालीन कवियों की शैली को अत्यन्त निकृष्ट बताते हुए लिखा है कि "यहाँ हम रूप-चित्रण का कोई प्रयास नहीं पाते केवल विलक्षण-अगों की सौन्दर्य-भावना से उत्पन्न सुखानुभूति में अवश्य वृद्धि होती है, पर रूप निर्दिष्ट नहीं होता।'[2]

---

१. चिन्तामणि. भाग २. काशी २००२. पृ० ३८।
२ वही पृ० ३८

नखशिख-वर्णन विद्यापति या सूर तथा उसके अन्य समसामयिक ब्रज-भाषा कवियों में मिलता है। कहीं-कहीं तो इस चित्रण में वस्तुतः रूढ़ियों के प्रयोग की इयत्ता हो जाती है। सूरदास के 'अद्‌भुत एक अनुपम बाग'—वाले प्रसिद्ध नख-शिख-चित्रण को लक्ष्य करके शुक्ल जी ने लिखा था कि 'इस स्वभाव सिद्ध (तुलसी के) अद्‌भुत व्यापार के सामने कमल पर कदली, कदली पर कुंद, शंख पर चन्द्रमा आदि की प्रौढ़ोक्ति सिद्ध रूपकातिशयोक्ति की कागजी दृश्य क्या चीज हैं?'[1] हमें यहाँ पर विचार करना है कि विद्यापति, सूरदास आदि की कविताओं में जो इस प्रकार की 'कवि प्रौढ़ोक्ति, रूपकातिशयोक्ति' की अधिकता दिखाई पड़ती है, उसका कारण क्या है? मैंने ऊपर निवेदन किया है कि संस्कृत के परवर्ती काव्यों मे भी इस प्रकार के अलंकरण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। किन्तु नख-शिख वर्णन की इस शैली का विकास—इस अतिशयकतावादी शैली का—परवर्ती जैन अपभ्रंश काव्यों तथा आरम्भिक ब्रजभाषा की रचनाओं मे भी दिखाई पड़ता है। थूलिभद्दफागु में वेश्या के रूप-वर्णन में यद्यपि शैली रूढ़ है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु लेखक ने उसे 'विलक्षणता' प्रदर्शन के लिए नहीं अपनाया है। यौवन-सम्पन्न उरोजों की उपमा वसन्त के पुष्पित फूलों के स्तबक से देना एक प्रकार का अलंकरण ही कहा जायेगा, किन्तु यह अलंकरण रूप-चित्रण मे बाधक नहीं है, बल्कि उसे और भी अधिक उद्‌भासित करने के लिये प्रयुक्त हुआ है। पुष्पदंत ने नारी सौन्दर्य का जो चित्रण किया है वह अभूतपूर्व है। पुष्पदंत के चित्रण शुक्ल जी द्वारा प्रतिष्ठापित मानदंड के अनुकूल है, उन्होंने न केवल दो नारियों के रूप में अन्तर को स्पष्ट अंकित किया है बल्कि भिन्न-भिन्न प्रदेशों की नारियों के रूप, स्वभाव, तथा व्यवहारों का ऐसा सूक्ष्म वर्णन किया ह जैसा पूर्ववर्ती काव्यों में कम मिलेगा। हिन्दी-काव्यधारा के पृष्ठ २०० पर दिये गये पद्यांश में नारी-सौन्दर्य का चित्रण देखा जा सकता है। हेमचन्द्र-संकलित अपभ्रंश दोहों में भी इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं। स्फुट मुक्तक होने के कारण इनमें सर्वाङ्गीणता नही दिखाई पडती, किन्तु सूक्ष्मता का स्पर्श तो है ही। जैसे नेत्रों के वर्णन देखिए—

जिवं जिवं वंकिअ लोअहण निरु सामलि सिक्खेइ
तिव तिव कम्मह् निअय सर खर पत्थर तिक्खेइ

ज्यों-ज्यो गोरी अपनी बाँकी आँखों की भंगिमा सिखाती है, वैसे ही वैसे मानो कामदेव अपने वाणों को पत्थर पर तीखा करता जाता है।

नख-शिख वर्णन का और अधिक प्राधान्य परवर्ती रचनाओं में दिखाई पड़ता है। प्राकृत पैंगलम् की ब्रजभाषा रचनाओं में ऐसे वर्णन विरल नहीं हैं जो

---

१ देखिए शुक्ल जी का तुलसीदास की भावुकता शीर्षक निबन्ध

किसी काव्यों के नखशिख चित्रण के प्रसंग से छांटे गए हैं।

रासो काव्यों में वर्णित नख-शिख शैली का प्रभाव सूर आदि पर कम न पड़ा। 'सन्देश रासक' में नायिका के रूप का चित्रण रूढ़ शैली का ही है, किन्तु उसमें उपमानों के चयन में कवि की अन्तर्दृष्टि और सूझ का पता चलता है। पथिक से विदेशस्थित पति को सन्देश भेजते समय उसके रूप की क्षण-क्षण परिवर्तित दशा का कवि ने स्थान-स्थान पर बड़ा मार्मिक चित्रण किया है—

छायंती कह कहव सलज्जिवर णिय करहीं
कणक कलस झंपंती णं इन्दीवरहीं
तो आसम पहुत्त सगग्गिर गिरखयणी
कविउ सद्द सविलासु करुण दीहर नयनी

(संदेश रासक २६)

इस विवरण को थोड़ा विस्तार से देना आवश्यक हो गया था क्योंकि लोग प्राय: ऐसा समझते हैं कि भक्ति काव्यों में शृङ्गार का कोई स्थान नहीं। जो लोग भक्ति और शृङ्गार का इतना बड़ा विभेद लेकर विद्यापति के काव्य का अध्ययन करते हैं, उन्हें वे घोर शृङ्गारिक प्रतीत होते हैं और वे हैं भी; किन्तु शृङ्गारिक होने के कारण ही उनकी कविताओं में भक्ति भाव का अभाव नहीं प्रकाशित होता। दूसरा प्रश्न है नख-शिख का वर्णन। नख-शिख का वर्णन उपर्युक्त विवेचन क्या इस बात का प्रमाण नहीं है कि यह परिपाटी मध्यकालीन काव्य की सर्वमान्य और सर्वत्रगृहीत प्रणाली है। इसके प्रभाव से संस्कृत, प्राकृत और भाषा का कोई कवि नहीं बचा। यहाँ तक कि शम और विराग जिन कवियों का उद्देश्य रहा है, वे भी नख-शिख सौन्दर्य का वर्णन परम्परा-विहित परिपाटी के अन्दर ही करते थे। जैन कवियों तक ने नख-शिख वर्णन को इसी ढंग से अपनाया। विद्यापति ने नख-शिख वर्णन पर कामशास्त्र, सामुद्रिक आदि का भी प्रभाव कम न पड़ा। वैसे सम्पूर्ण नख-शिख वर्णन की पूरी परिपाटी चाहे वह जैन, बौद्ध या हिन्दू किसी भी कवि द्वारा अपनाई गई हो, कामशास्त्र और सामुद्रिक शास्त्र के नारी लक्षणों से बहुत प्रभावित रही है। विद्यापति ने यदि इस परम्परा को अपनाया तो यह कोई अपराध नहीं है। न तो इसके आधार पर उन्हें शृङ्गारिक कह कर टाला ही जा सकता है। नख-शिख वर्णन कदर्थना की वस्तु नहीं है, बुरी है नख-शिख वर्णन की निरुद्देश्य या रूपलोभपूर्ण आसक्ति।

१० | राधा : पार्थिव प्रतिमा पराशक्ति के रूप में

मध्यकालीन साहित्य को यदि किसी एक शब्द में अभिव्यक्त करना हो तो निःसंकोच भाव से कहा जा सकता कि वह शब्द है राधा। राधा मध्यकालीन साहित्य की प्रेरणाशक्ति है, अधिष्ठात्री है और साथ ही वह नारी की एक ऐसी मांसल मूर्ति है जिसके शरीर के हर अणु में कच्ची मिट्टी की गन्ध और आत्मा के प्रत्येक चेतन-परमाणु में दिव्य-प्रेम की अलौकिक छटा। छठवीं शताब्दी से १७वीं तक का सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय इस अनुपम नारी-रत्न की छाया व्यतिकर-सौन्दर्य-सृष्टि से अनुप्राणित हुआ है।

राधा शब्द का सबसे पहला प्रयोग कब हुआ, यह प्रश्न प्रायः साहित्य के जिज्ञासु-अनुसंधायकों के चित्त को उद्वेलित करता रहा है। राधा किसी नारी का नाम नहीं है, यह नारी-जीवन की सम्पूर्ण-गरिमा, तेजोद्दीप्तता, समर्पण, प्रेम की अनन्यता तथा सम्पूर्ण सौन्दर्य, शील और प्रज्ञा के घन-विग्रह का अभिधान है। राधा भारतीय प्रेम-साधना की परिणति का नाम है। इस साधना का आरम्भ वैदिक साहित्य में ही दिखाई पड़ने लगता है, जब ऋषि ने प्रकृति को आद्याशक्ति के रूप में अपनी प्रथम श्रद्धांजलि अर्पित की। अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में शक्ति के पृथ्वी रूप की जो वन्दना है वह विश्वजननी पृथ्वी के प्रति मनुष्य की प्रणति का प्रथम उच्छ्वास नहीं तो क्या है? डॉ० शशिभूषण गुप्त ने श्रीराधा का क्रम विकास स्पष्ट करते हुए बताया है कि "वेद में वर्णित पृथ्वी की इस देवी-मूर्ति के साथ परवर्ती काल की विष्णु की भू-शक्ति की योजना-स्मरण की जाती है। श्रुतियों में हमें शक्ति का लक्षणीय उल्लेख मिलता है। केनोपनिषद में जहाँ ब्रह्मशक्ति ही असल शक्ति है—वह शक्ति जो अग्नि, वायु, इन्द्र आदि सभी देवताओं के अन्दर क्रियमाण है—देवताओं को यही तत्त्व दिखाने के लिए साक्षात् ब्रह्मविद्या बहुशोभमाना हैमवती उमा के रूप में आकाश में आविर्भूत हुई।"[१]

उपनिषदों में शक्ति के रूप और सौन्दर्य को स्पष्ट करने वाले बहुत से प्रसंग दिखाई पड़ते हैं, जिसमें शक्ति अजा, लोहित शुक्ल कृष्णवर्णा, आत्मानुरूपा, बहुप्रजा आदि रूपों में अभिनन्दित की गई है।[२] आद्याशक्ति या देवी का सबसे

पूर्ण या महिमामंडित रूप मार्कण्डेय पुराण में दिखाई पड़ता है। इस चित्रण मे सौन्दर्य, शील और शक्ति तीनों का ही चरम उत्कर्ष एकत्र सन्निहित होकर उपस्थित हुआ है। देवी यहाँ न केवल शुभ्र प्रज्ञारूप और दिव्य है बल्कि वह मंगल सौन्दर्य, राजस् गुणों से युक्त है। हाव-भाव तथा अन्य-नारी सुलभ प्रक्षोभक अलंकरणों से सज्जित भी है। देवी-सौन्दर्य के चित्रण में कामशास्त्रीय लक्षण देखे जा सकते हैं, वह पराशक्ति के रूप में सहस्रों उदीयमान सूर्यों की क्रान्ति को धारण करने वाली, लाल रेशमी वस्त्र में आवृत, लाल चन्दन से लिप्त पयोधरों वाली, कमल के समान नेत्रों की क्रान्ति को धारण करने वाली है—

ओम् उद्यद्भानसहस्रकान्तिमरुणक्षौमां शिरोमालिका
रक्तालिप्तपयोधरां जपवटीं विद्यमभीतिं वरम्
हस्ताब्जैर्दधतीं त्रिनेत्रविलसद्वक्त्रारविन्दश्रियम्
देवीं बद्धहिमांशुरत्नमुकुटां वन्देऽरविन्दस्थिताम्

साथ ही मातंगी के रूप में वही देवी श्यामल अंगों पर रक्त वस्त्र और अरुण कंचुकी धारण करने वाले मुकुलित कमल की माला पहने हुई रत्नपीठ पर बैठी हुई पिंजर बद्ध शुक के मीठे शब्दों को सुनती हुई, वीणा-वादन करती हुई, हाथ के शंख पात्र में आसव लिए हुए सजल नेत्रों वाली भी दिखाई पड़ती है—

ओम् ध्यायेयं रत्नपीठे शुककलपठितं शृण्वती श्यामलांगी
न्यस्तैकाङ्घ्रि सरोजे शशिशकलधरां वल्लकी वादयन्तीम्
कल्हाराबद्धमालां नियमितविलसच्चोलिकां रक्तवस्त्रां
मातंगी शंखपात्रां मधुरमधुमदां चित्रकोद्भासिभालाम्

शक्ति के उपर्युक्त दोनों रूपों को देखने से भलीभाँति प्रकट हो जाता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से श्री-शोभा वर्णन के प्रसंग में देवी रूप दोनों पक्षों का समवेत चित्रण होता रहा है। मांसल-सौन्दर्य और अलस नेत्रों की कांति का वर्णन ही नहीं, देवी को 'शंखपात्रा और 'शुककलपठितं शृण्वंती' भी कहा गया है। ये अभिप्राय या अलंकरण की रूढ़ियाँ मध्यकालीन काव्य में नायिका के वर्णन में बहुत बार प्रयुक्त हुई हैं।

डॉ० दासगुप्त का यह निष्कर्ष उचित है कि 'तन्त्र पुराणादि का शैव-दर्शन में जहाँ शक्ति तत्त्व का विवेचन भली-भाँति प्रारम्भ हुआ है, वहाँ देखते हैं कि शक्तिवाद ने वैष्णव-धर्म और दर्शन में भी घुसना शुरू किया है और हमारा विश्वास है कि वैष्णव-धर्म और दर्शन में घुसा हुआ वह शक्तिवाद ही

मे पूर्ण विकसित राधावाद में परिणत हुआ।[1]

श्रीमद्भागवत् कृष्णचरित का कोश-ग्रन्थ है और साथ ही परवर्ती कृष्णलीला सम्बन्धी कविताओं का उपजीव्य-स्रोत; किन्तु राधा कृष्ण-प्रिया के रूप में इस ग्रन्थ में भी दिखाई नहीं पडती; गोपियों का वर्णन है, रास के अत्यन्त मादक रूप का बहुत ही सूक्ष्म चित्रण हुआ है, किन्तु कृष्ण की अनन्य प्रिया के रूप मे यहाँ कहीं भी राधा दिखाई नही पड़ती। भागवत मे रास क्रीड़ा के प्रसंग मे एक स्थान पर यह वर्णन अवश्य आता है कि कृष्ण अपनी प्रियतमा गोपी को लेकर अन्तर्धान हो गए, तदनन्तर उनके वियोग में व्याकुलिता गोपियों ने उस सौभाग्यवती गोपी को लक्ष्य करके किंचित ईर्ष्यावश कहा था—

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः

(१०।२०।२४)

अर्थात् इसी ने भगवान् हरि की सही आराधना की है। क्योंकि हमें छोड़कर गोविन्द इसी के प्रेम में पगे हुए हैं। 'अनयाराधित:' शब्द को लेकर विद्वानो ने राधा नाम के संधान का प्रयास किया और बताया कि 'आराधना' में ही राधा-नाम का आविर्भाव हुआ। परवर्ती पुराणों में राधा का नाम अवश्य आता है। पद्मपुराण, मत्स्यपुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण आदि में राधा के विषय में उल्लेख प्राप्त होते हैं। गौड़ीय वैष्णव आचार्य रूप-गोस्वामी ने अपने ग्रन्थ 'उज्ज्वल नीलमणि' में राधा प्रकरण के अन्तर्गत यह बतलाया है कि गोपालोत्तरतापना मे राधा गान्धर्वी नाम से प्रसिद्ध हैं तथा ऋक्परिशिष्ट में राधा माधव के साथ उदित है।[2]

गोपालोत्तरतापन्यां यद् गान्धर्वीति विश्रुता
राधेत्यृक्परिशिष्टे माधवेन सहोदिता

राधाविषयक अन्य प्राचीन उल्लेखों का सन्धान करते हुए डा० शशिभूषणदास गुप्त ने दक्षिण के वैष्णव भक्त आलवारों के भजनों मे आने वाली नायिका 'नाप्पिन्नाइ' पर भी विचार किया है। नाप्पिन्नाइ एक फूल का नाम है। नाप्पि-न्नाइ राधा की प्रियतमा और लक्ष्मी का अवतार बताया गया है। नाप्पि-न्नाइ राधा की तरह ही गजगामिनी है, गौरी है, सौन्दर्य की प्रतिमा है। नाप्पि-न्नाइ ही गोपियों में प्रधान और कृष्ण की प्रियतमा है। इस पौराणिक कल्पना को इन्होंने (आलवारों ने) स्थानीय उपाख्यानों में मिलाकर थोड़ा-बहुत बदल

---

१. राधा का क्रम-विकास, पृष्ठ १२।
२. गोविन्दाचार्य कृत—डिवाइन विजडम आव द्रविड सेन्ट्स।

दिया।' आलवार भक्तों के तिथिकाल के विषय में काफी विवाद है, फिर भी इतना तो माना ही जाता है कि इनका आविर्भाव पाँचवीं शताब्दी से नवी के बीच में हुआ था।[१] इस दृष्टि मे नाप्पिन्नाइ के रूप में कृष्ण की एक प्रियतमा गोपी का विवरण और वह भी राधा से मिलता-जुलता, काफी महत्त्व का है; इसमें सन्देह नहीं।

गाथा-सप्तशती मध्यकाल की स्वच्छन्द प्रेमविषयक कविताओं का रत्नकोश है। कहते हैं एक बार सरस्वती की कृपा से राजा हाल के सभी नागरिक एक दिन के लिए कवि हो गए और इन अनगिनत लोगों के कण्ठ के अजस्र धारा की तरह कविता फूट पडी। इसमें से सर्वोत्तम चुनकर राजा हाल ने गाथा-सप्तशती का निर्माण किया। 'कादम्बरीकार वाणभट्ट ने इस जनश्रुति की ओर संकेत किया है। गाथा-सप्तशती में बहुत से ऐसे पद हैं जिनमें शृङ्गार, रति तथा प्रकृति (खास तौर से उद्दीपन के रूप में) के मनोरम चित्र भरे पडे हैं। मैंने पीछे इस प्रकार के कुछ पद्यों के तुलनात्मक प्रसंग और उसका सूर और विद्यापति के पदो पर प्रभाव दिखाया है। इनमें से कुछ पद्य और राधा के प्रेम-विषयक भी प्रतीत होते हैं। एक गाथा में तो राधा शब्द का स्पष्ट प्रयोग भी हुआ है। कोई गोपबाल कहता है कि हे कृष्ण तुम अपने मुख-मारुत से राधा के मुँह पर लगे हुए गोरज का अपनयन करके इन वल्लभियों के तथा अन्यों के गौरव का अपहरण कर रहे हो—

मुहमारुहेण तं कण्ह गोरअं वाहिआएँ अवणेन्तो
एताण वलवीणं अण्णाणं बि गोरअं हरसि

यहाँ 'गोरअं' में यमक के आधार पर अच्छा चमत्कार भी प्रस्तुत हो जाता है। गोरअं का एक अर्थ गोरज और दूसरा गौरव है।

प्राकृत-अपभ्रंश काव्य में आने वाले राधासम्बन्धी अन्य प्रसंगों पर पीछे विचार किया जा चुका है। पुष्पदन्त के उत्तरपुराण का रास प्रसंग प्राकृत-पैंगलम की नौका लीला का दोहा, हेम प्राकृत-व्याकरण के राधा-सम्बन्धी दोहों पर हम पीछे लिख चुके हैं (दे० भक्ति काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि)।

राधा के विषय में भट्टनारायण के वेणीसंहार, त्रिविक्रम भट्ट के नलचम्पू, माघकृत शिशुपाल बध, सोमदेव के यशस्तिलक चम्पू तथा कतिपय अन्य काव्य ग्रंथों में प्रसंगानुकूल चर्चाएँ दिखाई पड़ती हैं। राधाकृष्ण प्रेम का सर्वाधिक मृदुल और मादक वर्णन जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में प्रस्तुत किया। जयदेव के गीत-गोविन्द में पहली बार एक सामान्य मानवी अपने सम्पूर्ण मांसल पार्थिव शरीर-सौन्दर्य-संभार के साथ भगवान् की प्रियतमा के रूप में देवी शक्ति का आधार-स्थल बनकर आई। जयदेव ने 'हरिस्मरण' और 'कामकला कुतूहल' को

१ श्रीराधा का क्रम विकास पृ० ११६।

एकत्र समन्वित कर दिया। ऐसा नहीं कि जयदेव के पहले इस प्रकार का प्रयत्न नहीं हुआ था। भक्ति काव्य के सांस्कृतिक पृष्टभूमि के पुनर्परीक्षण के सिलसिले मे मैंने बार-बार निवेदन किया है कि भक्त कवियों को काव्य की जो परम्परा मिली उसमें भक्ति और रति का ऐसा पार्थक्य नहीं था। प्राकृत और अपभ्रंश के आमुष्मिकता-परक प्रेम काव्य जन-चित्त को पूर्णतः अभिभूत किये हुए थे भक्त कवियों के लिए भी माध्यम थे, उन्होंने उसी प्रेम काव्य के माध्यम को अपनाया। जड़ोन्मुख प्रेम को चिदुन्मुख बनाने के संकल्प के साथ ही उनका यह कर्त्तव्य था कि ये मांसल सांसारिक प्रेम को एक दिव्यता प्रदान करें। जयदेव ने यह कार्य सम्पन्न किया। जैसे उनके काव्य में भौतिक प्रेम का स्वर ही ज्यादा मुखर दिखाई पड़ता है।

जयदेव की राधा सांसारिक मानवी की तरह ही प्रेम-विह्वला, मानिनी, प्रेमिका, केलि और रति-सुख की विदग्धा तथा अपने प्रियतम के गले मे कंठहार की तरह निरन्तर आलिंगन मे मुग्ध मानने वाली बालिका है। कन्दर्प-ज्वर से पीड़ित क्षणिक विरह में भी जल-विहीन मीन की तरह तड़फड़ाने वाली राधिका सखी के मुख से कृष्ण और अन्य गोपियों की रति क्रीड़ाओं का वर्णन सुनकर ईर्ष्या से कातर हो उठती है। सखी इस संताप में और वृद्धि करती हुई जब प्रकृति के उस रूप की चर्चा करती है जो अपने वासंती उद्दाम सौंदर्य से युवतियो के हृदय को पीड़ा से मथ देता है, तो एक क्षण के लिए राधा का चित्त चंचल हो उठता है। वह लाल किंशुक फूलों को युवक-युवतियों के हृदय को विदीर्ण करने वाले कामदेव के रक्त लिप्त नख की तरह दिखाई पड़ते हैं तथा नागकेसर के श्वेतपटल को जो मदन महीपति के कनक-दण्ड की छवि धारण किये हुए है देखती रह जाती है---

> मृदमदसौरभरभस वशंवदनदलमाललमाले
> युवजनहृदय-विदारण-मनसिजनखरुचि-किंशुकजाले
> मदनमहीपति कनकदंड-रुचि केसर-कुसुम-विकासे
> मिलित-शिलीमुख-पाटलपटलकृतस्मरतूण विलासे

वह अभिसार-पराभव के इस दुःख को सँभाल नहीं पाती और उलटे पैरों वापस लौट जाती है, किन्तु कृष्ण की भुवनमोहिनी छवि को वह कैसे भुला दे? वह अहैतु प्रेम-कातर मन से कृष्ण के चन्द्राकार-मयूरपक्ष, चंचल-नेत्र, कपोलो पर आन्दोलित कर्णावतंस तथा इन्द्रधनु-अनुरंजित सान्द्र मेघ के सदृश उस रूप को कैसे अलग कर दे? वह बार-बार अपने हृदय को समझाती है। क्या हुआ यदि कृष्ण बहु वल्लभ हैं? क्या हुआ यदि वे हमारे प्रेम की चिंता नहीं करते? 'यही राधिका के हृदय की दुर्बलता है। इस दुर्बलता के कारण की उसका प्रेम इतना वेगवान् हो सका है। इसी कातरता की आँच में तप कर वह सोना निखर

पड़ा।' राधा के इस विरह दुःख का हाल गोपी कृष्ण को सुनाती है। वह साफ कहती है कि माधव आपकी प्राप्ति दुर्लभ है फिर वह आपकी कल्पना करके विलाप करती है, हँसती है, विचार करती है—जैसे आप उसकी आँखों के सामने खड़े हों, वह आपके ध्यान में लय हो चुकी है। वह तो आपके चरणों में पड़ी हुई यह सोचती है कि आपके बिना सुधावर्षी चन्द्र भी उसके शरीर में दाह उत्पन्न करता है—

> ध्यानलयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमतीव दुरापम्
> विलपति हसति विषीदति रोदिति चंचति मोचति तापम्
> प्रतिपदमिदमपि निगदति माधव तव चरणे पतिताहम्
> त्वयि विमुखे मयि सपदि सुधानिधिरपि तनुते तनुदाहम्

जयदेव कवि ने राधा की इस विरह व्यथा का अत्यन्त व्यापक चित्रण किया है। इस चित्रण में प्रायः प्रकृति के सभी सौंदर्योत्पादक तथा मनोरम दृश्य उद्दीपन की तरह प्रस्तुत किये गये हैं। राधा एक सामान्य मानवी की तरह अपनी सम्भोगेच्छा के वेग को रोक नहीं पाती—और पूर्व-सम्मिलन के क्षणों को सोच-सोचकर आँसू गिराती रहती है उसकी यह सहज मानव-धर्मिता ही उसके चित्त की पीड़ा को गाढ़ रूप में प्रकट कर सकी है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'जयदेव की विलासिनी राधा और कितव कृष्ण की विलास-कला वस्तुतः आधी भी नहीं रहेगा यदि राधिका को एकान्त प्रेम-निर्झर भक्त के रूप में न देखा जाय। भगवान् की प्राप्ति के लिए जयदेव की राधा इतनी व्याकुल है कि वे सभी कारण को सांसारिक रमणियों की विरक्ति के साधन हैं, उन्हें (राधा को) प्रेम के मार्ग से विचलित नहीं कर सकते। क्षण भर के विलम्ब में भी जो चित्र उत्कण्ठा के बोझ से फट पड़ता है। उसकी सुदूर प्रवास के वियोग की व्यवस्था कल्पना से भी परे है। इसीलिए कहते हैं कि इस मृणालतन्तु को जयदेव ने प्रखर ग्रीष्म के ताप में रखकर अच्छा ही किया-अच्छा ही किया।'

राधा की यह मूर्ति जो वेदकाल के पृथ्वीरूप में स्फुटित होकर नाना पुराणों के देवी रूप, लक्ष्मी श्री रूप तथा तंत्रों में वर्णित देवी रूपों से पुष्ट होती हुई मध्यकालीन प्रेमप्रधान काव्यों में प्राणप्रतिष्ठा प्राप्त करके जयदेव के काव्य की राधा के रूप में उपस्थित हुई—विद्यापति को इसी प्रकार प्राप्त हुई जैसे किसी परिवार के व्यक्ति को पूर्वजों की सम्पत्ति अपनी सम्पूर्ण गरिमा, अन्धविश्वास, गन्दगी, शुभ्रता के समवेत गुण-दोषों के साथ प्राप्त होती है। विद्यापति ने राधा की इस प्रतिमा को अपने तरह से देखा, सोचा, समझा और उन्होंने अपनी सम्पूर्ण साधना और शक्ति के संयोग से इसे अभिनव रूप प्रदान किया।

---

१ मध्यकालीन धर्मसाधना हज[illegible] द्विवेदी पृ १५१

विद्यापति की राधा

विद्यापति की राधा के रूप, चरित्र और शील में कुछ ऐसा है जो केवल विद्यापति ही प्रस्तुत कर सकते थे। राधा उनके सम्पूर्ण मानस-सौन्दर्य का घन-विग्रह है, इस मूर्ति के निर्माण में कवि ने अपना सारा निजत्व, हृदय का सम्पूर्ण भाव-संभार अर्पित कर दिया है।

बालिका के रूप में राधा के चित्त का प्रस्फुटन कवि के लिए आकर्षण की वस्तु नहीं। विद्यापति की राधिका के जीवन का प्रथम क्षण उस समय आरम्भ हुआ जब कृष्ण ने एक ऐसी अपरूप बालिका देखी जो यौवन के आकस्मिक आगमन पर कुतूहलचकित होकर अपने अंगों का उभार देखते हुए विविध प्रकार के आनन्द में विभोर हो जाती है—

सैसव जौवन दुहु मिलि गेल
स्रवन क पथ दुहु लोचन लेल
निरजन्न उरज हेरइ कत बेरि
हंसइ जे अपन पयोधर हेरि

यौवन की बालसुलभ अल्हड़ चेष्टायें ठिठक कर रह गईं, हँसने, चलने, बोलने और साधारण व्यवहार में भी भिन्नता आ गई—

प्रकट हास अब गोपित भेल
दरण प्रकट फिर उन्हुके नेल
चरण चपल गति लोचन पाव
लोचन के धीरज पद तले जाव
नव कवि सेखर कि कहित पार
भिन-भिन राज भिन बेवहार

यौवन का यह प्रथम चरण-निक्षेप बाला के चित्त को एक विचित्र भावभंगी से भर देता है। क्षण-क्षण पर नेत्र चक्षु-कोरक का अनुसरण करते हैं। क्षण-क्षण पर असंयत वस्त्र धूल में लोटकर शरीर को धूलि-धूसरित कर देते हैं। क्षण-क्षण उसके मधुर हास से दाँतों की [illegible] पंक्तियाँ चमक उठती है। क्षण-क्षण लज्जा के कारण वह होठों पर वस्त्र रख लेती है। क्षण-क्षण चौंककर धीरे-धीरे चलने लगती है। हृदय के मुकुल को देखकर उन पर लज्जा से वस्त्र डालती है, कभी वस्त्र डालना भूल जाती है। उसके शरीर में शैशव और यौवन दोनों एकत्र मिल गए हैं, कौन कम है कौन अधिक, यह निर्णय करना भी कठिन हो जाता है—

खने खने नयन कोन अनुसरई
खने खने वसन धूलि तनु भरई

खने खने दसन छटा छुट हास
खने खने अधर आगे गहु वास
चउंकि चले खने खने चले मन्दु
मन्मथ पाठ पहिल अनुबन्ध
हिरदय मुकुल हेरि हेरि थोर
खने आंचर देइ खने होए भोर
बाला सैसव तारुन भेंट
लखए न पारिय जेठ कनेठ

इन्हीं दिनों जब राधा अपने यौवन के दुरतिक्रम बोझ को सँभालने में असमर्थ ब्रज की खोरियों में घूम रही थीं, कि अचानक कृष्ण पर दृष्टि पड़ गई। राधा और कृष्ण का यह प्रथम मिलन कवि की अनुपम निधि है। दो तरुण हृदयों के इस मिलन पर दोनों के हृदय के मन्थन, कुतूहल, रूपासक्ति और प्रेम-विह्वलता का विद्यापति ने अत्यन्त विशद चित्रण किया है।

राधा के रूप को कृष्ण विजड़ित-चित्त से देखते रह गए, किन्तु एक क्षण का यह मिलन पीड़ा का नया संसार दे गया। मेघमाला की सान्द्र नीलिमा मे जैसे तड़ित-लता एक क्षण के लिए झिलमिला कर छिप जाए, राधा के रूप की वह झलक हृदय को बर्छी की तरह चीरती चली गई। वे उसे अच्छी तरह देख भी न सके :

सजनी भल कए पेखल न भेलि
मेघमाल सयँ तड़ित लता जनि
हिरदय सेल दई गेलि

चचल पवन के झकोरे से वस्त्र गिर गया। अचानक राधा की सुचिक्कण देह-यष्टि दिखाई पड़ गयी। केशपास से घिरी हुई वह देह-यष्टि लगा जैसे नये श्याम जलधर के नीचे बिजली की रेखा चल रही है। धनि के इस गमन को देख कर मेरा चित्त प्रेम-रंग में डूब गया—लगा कि जैसे सोने की लता निरवलम्ब भाव से पृथ्वी पर विचरण कर रही है—

सखन परसु खसु अम्बर रे
देखल धनि देह
नव जलधर तर संचर रे
जनि बिजुरी देह
आज देखलि धनि जाइति रे
मोहि रग

कनक लता जनि संचर रे
महि निर अवलम्ब

राधा के रूप की पराकाष्ठा है। उसका सब कुछ मधुर है। मधुर रस की अधि-ष्ठात्री देवी की तरह भक्तों के चित्त को उद्वेलित करने वाली राधा की यह मूर्ति कृष्ण के चित्त को प्रेम-वैचित्र्य के नाना भावों से मथ देती है। राधा ने कृष्ण को सामने खड़ा देखकर सिर झुकाकर मुँह फेर लिया। उनके मन में यह सौन्दर्य-मूर्ति ऐसी अड़ गई है कि—

मन मोर चंचल लोचन किल भेल
ओनहि अनइत जाई
आड़ वदन कए मधुर हास दए
सुन्दरि रहु सिर नाई

ऐन्द्रजालिक के कुसुम शायक की तरह मायाविनी की वह छवि भुलाये नहीं भूलती। उसके चरणों का जावक मेरे मन को पावक की तरह दग्ध कर रहा है—

गेलि कामिनी गजहु गामिनि, विहसि पलटि निहारि
इन्द्रजाल कुसुम सायक, कुहकि भेल वर नारि
पुनहि दरसन जीव जुडाएब, टूटत विहरक ओर
चरन जावक हृदय पावक, दहत सब अंग मोर

कृष्ण की अनुपम छवि को देखकर राधा भी कुछ कम आकृष्ट न हुई। उसे तो सब कुछ जैसे स्वप्नवत मालूम हो रहा था। वह अपनी सखि से जब कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन करने लगी तो उसे विश्वास भी नहीं हुआ कि ऐसा रूप कहीं सम्भव भी हो सकता है—

ए सखि पेखलि एक अपरूप
सुनइति मानब सपन सरूप।

उस अपूर्व सौन्दर्य को एक निमिष तक ही तो वह देख सकी थी। किन्तु वह एक क्षण का दर्शन-सुख उसके मन-मृग के मर्म को क्रूर व्याध के विषम शर की तरह बेध गया। कदम्ब वृक्षों से आच्छादित यमुना के तट पर घनमाला की तरह सुन्दर उस रूप को देखने के लिए वह व्याकुल हो उठी। किन्तु लाज के मारे पूरा देख भी न सकी उलट-पलट कर देखते समय वह गिर पड़ी उसके पैर काँटों से लहू-लुहान हो गये

कि लगि कौतुक देखलौं सखि निमिष लोचक आध
मोर मन मृग परम बेधल विषम बान बेआध
तीर तरंगिनी कदम्ब कानन निकट जमुना घाट
उलटि हेरइत उलट परलौं चरन चीरल काँट

अपनी प्रेमदशा की इतनी सरल और मासूमियतभरी व्यंजना शायद ही कोई कर पाये। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सूर की बालिका राधा की सहज स्वाभाविकता और भोलेपन की प्रशंसा करते हुए कहा कि 'वास्तव में सूरदास की राधिका शुरू से आखिर तक सरल बालिका है। उसके प्रेम में चण्डीदास की राधा की तरह पद-पद पर सास-ननद का डर भी नहीं है और विद्यापति की किशोरी राधिका की भाँति हास मे रुदन और रुदन में हास की चातुरी भी नहीं है।'[1] ऊपर के पद से विद्यापति की राधा के सरल चित्त के जिस भाव की व्यंजना होती है, उसमें पीड़ा की स्वीकृति और अपनी बिडम्बना की विवृति ही ज्यादा है, कुछ चातुरी नहीं। वह अपनी अल्हड़ता में भी उस क्षणिक मिलन के बाद कितनी व्याकुल और गम्भीर है। उलट-उलट कर पीछे देखते समय उनके पैर काँटों से छिल गए, इस भाव को बिना संकोच के वह व्यक्त कर देती है। रही चातुरी सो तो सूरदास की राधा में भी कम नहीं है, बल्कि सखियों को बार-बार धोखा देकर कृष्ण को सम्पूर्ण अपना बना लेने की चालबाजियाँ वहाँ कहीं ज्यादा मात्रा में दिखाई देती हैं। कृष्ण मिलन के अवसर पर हार गिर जाने पर अपनी माँ से जितनी चातुरीपूर्ण बातें सूर की राधा ने की, उतनी औरों को आती भी नहीं होगी। और फिर ऐतिहासिक दृष्टि से भी देखें तो सूरदास की राधा विद्यापति की राधा से कहीं अधिक विदग्ध होनी चाहिए।

प्रथम मिलन का वह अनुराग क्षणिक विरह की अवस्था को भी सँभाल नहीं पाता। राधा एक ओर भारतीय गृहस्थ कन्या की तरह पारिवारिक मर्यादा की सीमाओं में अपने को बाँधती है, दूसरी ओर मुरली की मादक संकेत-सूचक ध्वनि उसके चित्त को व्याकुल कर देती है। इस विचित्र दुःख का कहीं अन्त नहीं, वंशी के उच्छ्वास विष की तरह प्राणों को अचेत बना देते हैं। आँखें चाहकर भी कृष्ण को नहीं देखती, कहीं और देखना पड़ता है वह घर में भी धीरे पैरों से चलती है, बार-बार भगवान् से प्रार्थना करती है कि उसकी लज्जा की रक्षा करें।

कि कहब हे सखि इह दुख ओर
बाँसि निसास गरल तनु भोर
छिधपुल पुलक परिपूरए देह
नयन न हेरि हेरए जनु केह

1 धर्म साधना पृ० १६४

लहु लहु चरण चलिए गृह माझ
आज दइव विहि राखल लाज

रूप वर्णन से उत्पन्न यह आकर्षण निरन्तर सहवास सुख के लिए बेचैन करने लगा। प्रिय के पास रहने, उसकी बातें सुनने तथा उसके प्रत्येक आचार-व्यवहार पर दृष्टि रखने की आकांक्षा अछोर रूप लेने लगी। राधा पारिवारिक मर्यादा की चहारदीवारी के भीतर अपनी बेवसी पर आठ-आठ आँसू बहाती। छल से भी कृष्ण को एक बार और देखने की साध से वह चंचल हो उठी। क्षणिक विरह की इस अपार पीड़ा में वह मदन को सम्बोधित करके कहती है कि रास्ते में आते-जाते ऐसा कौन नहीं है जो कृष्ण को नहीं देखता पर हमारा एक बार का देखना ही इतना बड़ा अपराध हो गया कि तू अपने कठोर पंचवाण से हमें निरंतर घायल कर रहा है—

पुर बाहर पथ करत गतागत
के नहिं हेरत कान
तोहर कुसुम सर कतहुँ न संचर
हमर हृदय पंच बान

और तब शुरू होता है दोनों तरफ से दूतियों का आगमन। दूती कामशास्त्र में कन्या-विश्रंभण व्यापार में सहायता देने वाली बताई गयी है। जयदेव या विद्यापति दोनों ने ही दूती को इसी रूप में ग्रहण किया है। ग्रियर्सन या कुमारस्वामी जैसे लोग दूती को गुरु या उपदेशक के रूप में मानते हैं। क्योंकि उनकी दृष्टि से दूती दोनों प्रेमियों को जो ईश्वर और आत्मा के रूप में हैं, मिलाने के लिए सचेष्ट है। किन्तु दूती का प्रतीक बहुत स्पष्ट नहीं है। मैंने पहले ही निवेदन किया है कि रहस्यवादी साधना का प्रभाव विद्यापति पर नहीं था।

दूतियाँ राधा और कृष्ण दोनों की वैचित्र्यावस्था का दारुण वर्णन एक दूसरे को सुनाती हैं। एक तरफ राधा के अभाव में कृष्ण कालिन्दी के किनारे धूल में गिर पड़े हैं। भुजंगिनी के दंश से पीड़ित अचेत कृष्ण तब तक होश में नहीं आ सकते जब तक दूसरे दंश की लहर उस विष को दूर नहीं कर देती। विरह-पीड़ा को नागिन के दंश की लहर बताना काफी महत्त्वपूर्ण है: परवर्ती काल में भक्त के मन में उठने वाली विरह-पीर की तुलना कई स्थानों पर नागिनी-दंश से की गई है—

जब धरि चकित विलोकि विपिन तह
पलटि आओल मुख मोर
तब धरि मदनमोहन तरु कानन
रुदइ बीरब पुनि छोरि

फुनु फिरि सोई नयन जदि हेरबि
पाओब चेतन नाह
भुजंगिनि दंसि पुनहि जदि दंसए
तबहि समय बिस जाह

दूसरी तरफ राधा कृष्ण की याद करके रात-दिन रोती रहती है। वह रात-दिन जागकर कृष्ण का ही नाम जपा करती है। अर्धरात्रि के समय विगलित-लज्जा राधा रोने लगती है। सखियाँ ज्यों-ज्यों उसे प्रबोधित करती है विरह का ताप उतना ही असीम होकर सहृदय को पीड़ित करता है—

निस दिन जागि जपय तुअ नाम
थर थर काँपि पड़ए सोइ ठाम
जामिनि आध अधिक जब होइ
विगलित लाज उठाए तब रोइ
सखि जन जत परबोधय जाय
तापिनि ताप ततहि तत ताय

स्वप्न में भी राधा कृष्ण को नहीं भूलती। प्रीति के अथाह जोर से उसका चित्त जर्जर हो गया। सखियों के बीच अपनी पाण्डुर कमल मुख को हाथो मे छिपाकर बैठती है। नयन से अविरल अश्रु प्रवाह जारी है, उसका अन्त ही नही आता। वह कुहू-शशि की तरह क्षीण हो गई है—

माधव कि कहब से विपरीत
जणु भेल जरजर भामिनि अन्तर
चिर बाढ़ल तसु प्रीत
निरस कमल मुख कर अवलम्बइ
सखि माझ बइसइ गोइ
नयन क नीर धीर नहिं बांधइ
पंक कमल मँहि रोइ
मरम क बोल बयन नहिं बोलइ
तनु भेल कुहू ससि छीना
अवनि उपर भनि उठए न पारइ
धएल भुजा धरि दीना

राधा-कृष्ण का प्रेम महाभाव की दशा को प्राप्त होने के लिए सचेष्ट है। महाभाव उस दशा का नाम है जिसमें प्रेम दृढ होकर स्नेह मान प्रणय राग

अनुराग और भाव के रूप में प्रकट होता है जैसे इक्षु-बीज बोने के बाद क्रम से खाड, गुड़, चीनी, सिता (मिश्री) और सितोपला में बदलता है। उसी तरह रति रस से प्रेम, प्रेम से राग, राग से अनुराग आदि की उत्पत्ति होकर महाभाव उत्पन्न होता है—

प्रेम क्रमे बाड़ि हय स्नेह मान प्रणय
राग अनुराग भाव महाभाव हय
जैसे बीज इक्षुरस गुड़खण्डसार
सर्करा सिता मिछरि शुद्ध मिसरि आर
इहा तैछे क्रमे निर्मल क्रमे बाड़े स्वाद
रति प्रेमादि तैछे बाड़ए अस्वाद

(चैतन्य चरितामृत)

प्रेम जब अन्तिम अवस्था को प्राप्त होता है तब उसे 'चिद्दीपदीपन' अवस्था कहते है अर्थात् वह प्रेमविषयोपलब्धि का प्रकाशक होता है। स्नेह जब उत्कृष्टता प्राप्ति के द्वारा अभिनव माधुर्य की सृष्टि करता है और स्वयं अदाक्षिण्य धारण करता है। तब उसे मान कहते हैं। मान अगर विश्रंमण या श्रम-राहित्य को प्राप्त होता है तो उसे प्रणय कहते है। प्रणयोत्कर्ष के कारण अधिक दुःख भी सुखवत् मालूम हो तो उसे राग कहते हैं। जो राग नित्य नूतन मालूम हो उसे अनुराग की संज्ञा मिलती है। अनुराग अगर 'यावदाश्रयवृति' होकर स्व-संवेद्य दशा को प्राप्त होकर प्रकट हो तो उसे भाव कहते हैं।

विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपनी 'उज्ज्वल नीलमणि-किरण'[१] में लिखा है कि जहाँ कृष्ण से प्राप्त सुख में क्षण भर के लिए भी असहिष्णुतादि होती है वही रूढ़

---

१ आरुह्य परमां काष्ठां प्रेम ! चिद्दीपदीपनः।
हृदय द्रावयन्नेष स्नेह इत्यभिधीयते ॥
स्नेहस्तूत्कृष्टतावाप्त्या माधुर्यमान यन्नवम्।
यो धारयत्यदाक्षिण्यं स मान इति कीर्त्यते ॥
मानो दधानो विस्रम्भ प्रणय प्रोच्यते बुधैः ॥
दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते।
यत नु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कीर्त्यते ॥
सदानुभूतमपि यः दुर्यान्नवनवं प्रियम्।
रागो भयन्नवनवः सोऽनुरागो इतीर्यते ॥
अनुरागः स्वसंवेद्यदशां प्राप्य प्रकाशितः।
यावदाश्रयवृतिश्चेत् भाव इत्यभिधीयते ॥

महाभाव है। करोड़ ब्रह्माण्डगत समस्त सुख भी जिसके सुख का लेशमात्र भी नहीं होता, सारे बिच्छुओं-सर्पों के दंशन भी जिस दुःख के लेश-मात्र का अनुभव नहीं करा सकते, कृष्ण के मिलन-विरह का यह सुख और दुःख जिस दशा में प्राप्त होता है उस दशा को ही 'अधिरूढ़ महाभाव कहते' हैं।

राधा का प्रेम इसी अधिरूढ़ महाभाव की दशा को प्राप्त था। वह कृष्ण के वियोग में तड़फड़ा कर गिर पड़ती थी और घण्टों मुख नीचे किये आँसू गारा करती थी। वह लम्बी साँसे लेती, पृथ्वी पर लोटती, उसकी दशा को कोई समझ नहीं पाता।

लोटइ धरनि धरनि धर सोइ
खने खने साँस खने खन रोइ
खने खने मुरछइ कंठ परान
इथि परकी गति दैब से जान
हे हरि पेखलौ से बर नारि
न जीवइ बिनु कर परस तोहारि

और तब इस विरह के बाद स्नेह प्रणय का रूप ग्रहण करता है। वर्षों की साधना फलवती हुई। दुःख के बाद सुख के दिन आए। राधा-कृष्ण के मिलन की रात में गोपियों ने गाया—

सुन्दरि चललिहु पहु घर ना
चहु दिसि सखी सब कर धन ना
जाइतहि लागु परम डर ना
जइसे ससि काँप राहु डर ना
जाइतहि हार टुटिए गेल ना
भूखन वसन मलिन भेल ना
रोए रोए काजर बहाए देल ना
अदर्चहि सिंदूर मेटाए देल ना
भनइ विद्यापति गाओल ना
दुख सहि सहि सुख पाओल ना

राधा को प्रिय मिलन का यह सुख आकस्मिक रूप से प्राप्त नहीं हुआ। उसे इसके लिए अपना सब कुछ लुटा देना पड़ा। उसने निरन्तर अश्रु-प्रवाह से अपनी आँखों का काजर धो डाला, नाना प्रकार के दुःखों को सहन करने के बाद यह सुख प्राप्त हुआ राधा ने अपने सम्पूर्ण हृदय को द्रवित द्राक्षा की तरह कृष्ण को अर्पित कर दिया इसी कारण वह कृष्ण की भी अधीश्वरी

बन गई तो इसमें क्या आश्चर्य। राधा कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति है—अर्थात् संपूर्ण संसार कृष्ण से आह्लादित होता है, वे ही कृष्ण राधा से आह्लादित होते हैं। उमापतिधर ने राधा के ईर्ष्यास्पद सौभाग्य का वर्णन करते हुए ठीक ही लिखा है[1]—

> भ्रूवल्लीवलनैः कयापि नयनोन्मेषैं कयापि स्मित—
> ज्योत्स्ना विच्छुरितैः कयापि निभृतं सम्भावितस्याध्वनि,
> गर्वोद्भेदकृता वहेल ललितश्री भाजिराधनाने
> सातंका नु नयं जयन्ति पतितः कंसद्विषो दृष्टयः

मार्ग में किसी गोपी के द्वारा भ्रूलता संचालन से, किसी के द्वारा खिले हुए नेत्रों से, किसी के मुखचन्द्र की चन्द्रिकोपम स्मिति से किसी की गुप्त चेष्टाओं से, सम्मानित कृष्ण के गर्व भरे नेत्र जब राधा के मुख पर पड़े तो वे भय और आशंका से अनायास अनुनयपूर्ण हो गये। इसीलिए विद्यापति ने कहा :

> बड़ कौसलि तुब राधे
> किनल कन्हाई लोचन आधे

पर यह सौभाग्य राधा को अनायास और बिना कष्ट के ही मिला। राधा का प्रेम विद्यापति के ही शब्दों में वह कुन्दन है जो दुःसह आँच में तप-तपकर निरन्तर चमकीला होता गया। इसलिए इस कष्टप्राप्य मिलन के समय उसके हृदय का उल्लास भय-मिश्रित आशंका से पूरित है। कवि ने इस उल्लास को स्पष्ट करने के लिए जिस प्रकार के शब्द, छन्द और भाषा का प्रयोग किया है, वह पूर्णतः उपयुक्त और सार्थक है। प्रथम मिलन के अवसर पर राधा के चित्त में उठने वाले भय का कवि ने वैसा ही वर्णन किया है जैसा कामशास्त्र में प्रथम मिलन के अवसर पर नवोढा के चित्त में उठने वाली आशंकाओं का वर्णन किया गया है। किन्तु विद्यापति का वर्णन उक्त परिपाटी का अन्धानुकरण नहीं करता। उनके वर्णन में अपनी एक अलग मौलिकता सर्वत्र दिखाई पड़ती है। प्रिय समागम के अवसर पर राधा कृष्ण के स्पर्श से कमलपत्र पर संस्थुलित जल-बूँद की तरह काँप उठी, विद्यापति कहते हैं कि अग्नि जलाती है; पर अग्नि की आवश्यकता किसे नहीं होती—

> जइसे डगमग नलिनि क नीर
> तइसे डगमग धनि क सरीर

[1] श्री पद्मावली में संकलित

भन विद्यापति सुन कविराज
आग जारि पुनु आगि क राज

निचली पंक्ति अपभ्रंश के एक दोहे से बहुत साम्य रखती है। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण से एक अपभ्रंश दोहे में यही भाव व्यक्त किया गया है। प्रेमिका अपनी सखी से कहती है कि यद्यपि प्रिय अप्रियकारक है तो भी उसे आज मेरे पास ले आ, आग से घर जलता है, तो भी उस आग का काम रहता है—

विप्पिअ-आरउ जइवि पिउ तो वि तं आणहि अज्जु
अग्गिण दड्ढा जइवि घरु तो तें अग्गि कज्जु

विद्यापति इस मिलन की विविध व्यवस्थाओं का सविस्तार वर्णन करने लगते हैं। मैंने पहले ही निवेदन किया है कि ऐसे अवसरों पर उनका कवि कामशास्त्री का बाना भी धारण कर लेता है, वे काम का पाठ सिखाना शुरू कर देते हैं। किन्तु ऐसे प्रसंगों को ही उनका एकमात्र कृतित्व मानकर इन्हीं के आधारों पर उनकी सम्पूर्ण साधना पर निर्णय दे देना जल्दीबाजी होगी।

प्रथम मिलन के अनुभावों का विशद वर्णन भी प्राचीन परिपाटी से ही चलता है। किन्तु एक बात अवश्य महत्त्व की है। वह यह कि कृष्णमिलन के अनुभवों को सखियों द्वारा बार-बार पूछे जाने पर राधा जिस शालीनता और शिष्टता से उन्हें उत्तर देती है, वह प्रशंसनीय है। विद्यापति की तथाकथित विदग्धा राधा कहीं भी मुखर नहीं प्रतीत होती और न तो बार-बार एक बात ही पूछे जाने पर स्वाभिमानी की तरह उनका तिरस्कार ही करती है। इतना ही नहीं कृष्ण-समागम के अनुभव के विषय में उसका उत्तर इतना मासूमियत भरा और मर्यादा-संकुल है कि वह उसके व्यक्तित्व के विषय में सहज आकर्षण और मृदुता उत्पन्न करता है। वह अपनी सखी से स्वभाव-सहज मार्दव के साथ कहती है कि मैं वह अनुभव तुझसे क्या कहूँ, उन्होंने हँसकर जब मेरा आलिंगन किया तो मुझे लगा कि अब मेरे हृदय में प्रेम का पौधा जो अकुरित था आज फूलों से लद गया है। उन्होंने ज्यों ही नीवी-बंध हटाया, तुम्हारी, कसम, मुझे कुछ नहीं मालूम कि फिर क्या हुआ।

हँसि हँसि पहु आलिंगन देल
मनमथ अंकुर कुसुमित भेल
जब निवि बन्ध खसाओल कान
तोहर सपथ हम किछु जदि जान

इसी भाव का एक प्रसिद्ध संस्कृत श्लोक में संकलित है कोई

सौभाग्यवती नायिका अपनी सखी से कहती है कि हे सखि, तू धन्य है जो प्रिय के सगम के अवसर की विश्वासयुक्त सैकड़ों मीठी बातें सुनाती है पर मैं तो शपथ पूर्वक कहती हूँ कि प्रिय जब अपने हाथों से मेरी नीवी का स्पर्श करता है तो मुझे कुछ नहीं मालूम कि फिर क्या होता है—

> धन्यासि या कथयसि प्रियसंगमे पि
> विश्रब्ध चाटुकशतानि रत न्तरेषु
> नीवी प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
> सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि
>
> (चतुर्थ उल्लास, श्लोक ६१)

मैं यह नहीं कहता कि विद्यापति ने रति के तमाम वर्णनों में इस शालीनता का निर्वाह ही किया है। उनके ऐसे वर्णनों में कई स्थल ऐसे भी है जहाँ स्थूलता आ गई है। रति प्रसंगों के बहुत भद्दे वर्णन भी दिखाई पड़ते हैं; किन्तु विद्यापति के वर्णनों में कुरुचि उत्पन्न करने वाले प्रसंग कम से कम मिलेंगे, वैसे हनुमान-चालीसा का पाठ करने वालों के लिए यदि हर शृङ्गारिक वर्णन ही अश्लील लगे तो इसकी दवा भी क्या है।

मिलन से एक ओर निरन्तर सहवास की उद्दाम लालसा जाग्रत होती है दूसरी ओर प्रिय को अपना बना लेने की इच्छा-पूर्ति के कारण एक विशेष प्रकार का आत्मविश्वास और प्रिय के प्रति अगाध प्रणय की भावना का उदय भी होता है। ऐसी परिस्थितियों में सखियों के कौतुक एक खास प्रकार के रस का संचार करते हैं। सखियाँ बार-बार इस परिवर्तन का कारण जानना चाहती हैं, वह पूछती हैं कि तुमने कृष्ण को अपने वश में कैसे कर लिया ? विद्यापति की राधा बहुत साफ शब्दों में अन्तरंग सखियों से अपनी काम-कला-विदग्धता का बखान करती है। वह कृष्ण को गँवार और अनभिज्ञ बताती है। कहती है—

> जे किछु कभु नहि कला रस जान
> नीर खीर दुहु करए समान
> तन्हि सों कहाँ पिरीत रसाल
> वानर कंठ कि मोतिय माल
> भनइ विद्यापति इह रस जान
> वानर मुँह कि सोभए पान

ऐसे मौकों पर विद्यापति का कामशास्त्री बहुत प्रबुद्ध नजर आता है और वे सारी दुनिया को काम-कला-रसायन बाँटने के लिए आतुर दिखाई पड़ते हैं। ऐसे ढग से बातें करते हैं गोया उनके जैसा काम-कला पारखी कोई दूसरा मिलेगा नहीं

इसी से कभी-कभी बहुत हल्के ढंग की बातें भी करते हैं। छेड़खानी, कौतुक वाग्वैदग्ध्य सम्बन्धी कविताएँ इसी मनोवृत्ति की सूचक है। जैसे—

अम्बर बदन झपावह गोरी
राज सुनइ छिअ चाँद क चोरी

प्रथम समागम के अनन्तर उत्पन्न विश्रंभण ने राधा के चित्त में अभिसार और छद्म-मिलन की प्रेरणा जगाई, विद्यापति को कौतुक का नया रास्ता मिला, उन्होने अभिसार के प्रसंगों में अपनी चतुराई लुटाकर रख दी। अभिसार के प्रसंग मे विद्यापति ने रूढ़ियो की शरण अवश्य ली, किन्तु उनके माध्यम से उन्होंने चमत्कार उत्पन्न करने का ही प्रयत्न नहीं किया। अलंकार प्रयोग किया अवश्य किंतु उसका उद्देश्य महत्त्वपूर्ण रहा। उन्होंने रास्तों की बाधाओं और कष्टों का वर्णन करके प्रेम को परीक्षित किया, उसके शुद्ध होने का प्रमाण उपस्थित किया। उदाहरण के लिए निचले पद में अलंकरण की प्रधानता दिखाई पड़ती है; किन्तु जरा गहराई से देखने पर मालूम होगा कि कवि उद्देश्य अलंकरण नहीं; कुछ और ही है—

माधव धनि आएल कत भाँति
प्रेम हेम परखाओल कसौटी
भादव कुहु तिथि राति
गगन गरज घन ताहि न गन मन
कुलिस न कर मुख शंका
तिमिर अंजन जल धार धोए जानि
ते 'उपजाअलि संका
भाग भुजग सिर कर अभिनय कर
झापल फनि मनि दीप
जानि सकल धन जे दइ चुम्बन
ते तुअ मिलन समीप
नारि रतन धनि नागर ब्रजमनि
रस गुन पहिरल हार
गोविन्द चरन मन कह कविरंजन
सफल भेल अभिसार

गीतिगोविन्द की राधा भी 'जलधरकल्प अनल्प तिमिर' को कृष्ण समझकर बार-बार आलिंगन करती है और चुम्बन देती है

भिलष्यति चुम्बति जलधर कल्पम्
हरिदपगत इति तिमिरमनल्पम्

अभिसार, प्रेम-कौतुक और प्रणय के नाना व्यापारों का यह वातावरण विद्यापति के सजीव वर्णनों से निरन्तर उल्लासपूर्ण और विकासशील दिखाई पड़ता है। मान का वैष्णव साहित्य में बड़ा महत्त्व बताया गया है। मान का दो उद्देश्य रहता है। पहला तो यह कि मान के माध्यम से प्रेमी या भक्त के मन की अनन्यता का पता चलता है। प्रेमिका यह कभी सहन नहीं कर सकती कि उसका प्रिय किसी और की ओर उन्मुख हो। इस धारणा से उसके प्रेम की एकाग्रता का पता चलता है, दूसरी ओर यह मान भक्त या प्रेमी के हृदय के संकोच या स्वाभाविक क्षुद्रता का भी परिचायक है। मान के समय में नाना प्रकार के कटु-तिक्त अनुभवों को प्राप्त कर लेने के बाद प्रेमी के हृदय में विशालता या उदारता का भाव जागता है। वह सोचता है कि उसका प्रिय सैकड़ों लोगों के प्रेम का आलम्बन बन सकता है, उससे जितना प्राप्त होता है, वही बहुत है. इस प्रकार की भावना के कारण एक ओर जहाँ प्रेमी के चित्त का परिष्कार होता है, वहीं दूसरी ओर वह प्रेम के वास्तविक अर्थ को—अपार्थिव स्वरूप को समझने में भी समर्थ होता है। विद्यापति ने मान के विविध परिस्थितियों का बड़ा सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है। कृष्ण को नाना प्रकार की नायिकाओं से रमण करने वाला बताया गया है। उनके इस चंचल स्वभाव पर व्यंग्य करती हुई राधा कहती है—

लोचन अरुन बुझल बड़ भेद
रयनि उजागर गरुअ निवेद
ततहि जाहू हरि न करह लाथ
रयन्हि गमाओल जन्हिके साथ
कुच कुंकुम माखल हिय तोर
जनि अनुराग रांग कर गोर

लाल नेत्रों ने अपने मन का सारा रहस्य खोलकर रख दिया है। रात्रि-जागरण का यह भेद छिपा नहीं रहा। वहीं जाइये जिसके साथ रात बिताई है। पर-नारी के कुचों पर लगा अंगराग तुम्हारे हृदय को अनुराग से उज्ज्वल बना रहा है। कृष्ण सफाई देने की कोशिश करते है; सर सत्य के बन्धन एक क्षण के लिए उनके अधरों को बाँध लेते है, मगर वे भी कोई नौसिखुआ थे नहीं, बोले—

सुन सुन सुन्दर कर अवधान
बिनु अपराध कहसि काहे आन

पुजलौं पसुपति जामिनि जागि
गगन विलम्ब भेलि तेहि लागि
लागल मृगमद कुंकुम दाग
उचरह मंत्र अधर नहिं राग
रजनि उजागर लोचन घोर
ताहि लाग तोहे बोलसि चोर

राधा इतनी भोली तो थी नहीं कि इस बकवास को सही मान लेती, सो मान वैसे ही चलता रहा, विद्यापति ने कई पद इस मनुहार और मान की स्थिति का संभा-लने के लिए खर्च कर दिये। तब एक दिन कृष्ण ने इस मान को भंग करने के लिए विचित्र कौतुक किया। मुकुट उतार कर अपने घुँघराले बालों में सीमन्त बनाया, बालों को गूँथ कर वेणी बना ली। चन्दन की जगह सिन्दूर लगाया, आँखों को काजल से आँज लिया, कुण्डल की जगह कर्णफूल धारण किया, कलाई, में सोने की चूड़ियाँ पहन लीं, चरणों को जावक से लाल कर लिया, कदम्ब के फूलों को छिपाकर ऊपर से कंचुकी पहन ली, लाल साड़ी पहनकर, औरतों की तरह से पहले बायाँ पैर रखकर त्रिया-लक्षण का परिचय देते हुए, राधा के पास से वीणा बजाते हुए निकले—

राइ क निकट बजाओलि सुन्दरि
सुनइत भल गेइ साधा
ए नव यौवनि नविन विदेसिन
आओ पुकारइ राधा
नाम गाम कह कुल अवलम्बन
ब्रज आगम किये काजा।
सुखमइ नाम मथुरापुर जदुकुल
गुनीजन पीड़इ राजा
धनिकह तुअ गुन रीझ प्रसन्न भेल
माँगह मानस जोय
मनोरथ कर्म जाँचति जदि सुन्दरि
मान रतन देह मोय

और तब वचनबद्ध राधा उस नवीन विदेसिन की ओर से चाहकर भी मुँह मोड़ न सकी और प्रिय आलिंगन की अजस्र धारा में मान के पाषाण गल कर बहने लगे। विद्यापति के कृष्ण भी कम मान नहीं करते, उनके मान की परुषता तो राधा के हृदय को नाना प्रकार की स्मृतियों से दग्ध कर देती है। वह इतना कातर हो जाती है कि प्रिय के मान में अपने को ही दोषी समझती है। वह कहती है

कि क्या मैं साँझ का एकाकी तारा हूँ या भादो का चन्द्रमा—इन दोनो मे किसके समान मेरा मुख हो गया है जिसे कलंकित समझकर प्रभु इधर देखते ही नही—

की हम साँझ क एकसर तारा
भादव चौथि क ससि
इथि दुहु माझ कयन मोर आनन
जे पहु हेरसि न हंसि

उपेक्षित हृदय की इस आत्मग्लानि को स्पष्ट करने के लिए विद्यापति ने जो प्रतीक प्रस्तुत किए हैं वे रूढ़ और प्रचलित नहीं हैं। इनके पीछे लोक-चित्त के सस्कार छिपे हैं, इसी कारण ग्लानि की यह व्यंजना पूर्ण प्रपणीय और अत्यन्त मार्मिक हो सकी है। किन्तु मान मान ही था, वह टूटा और विद्यापति ने अपना काम-कला का अवशिष्ट उपदेश बडे अवसर पर सुनाना शुरू कर दिया। रति की विभिन्न अवस्था में कामोशास्त्र के बताये हुए कामोत्पादक, उपचार, नखक्षत, दन्तक्षत तथा जाने कितनी मुद्रायें विद्यापति ने सचित्र प्रस्तुत कर दीं। उल्लास का यह वातावरण, मांसल सौन्दर्य के उपभोग का यह इन्द्रिय व्यापार, दैहिक स्पर्श सुख के तरलायित प्रसंग, एक-एक अंग के स्थूल और विवृत विवरण केवल इन्द्रिय-लिप्सा के परिचायक हो जाते, यदि इनके अंत में विरहोत्पन्न आकस्मिक विश्लेष-दुःख की इतनी बडी अतीन्द्रिय पीड़ा को जगाने में समर्थ न होता। विद्यापति का प्रबुद्ध पाठक उनके इन स्थूल रीत व्यापारों को भी क्षमा न कर पाता यदि वे साध्य बनकर आते, किन्तु यह अवस्था प्रेम के एक पक्ष का परिचय देती है, उसकी पूर्णता का नहीं, इस मिलन-सुख के अन्तराल में विरह की इतनी तीव्र व्यथा सोई है, इसे देखते हुए पाठक इन प्रसंगों की अतिवादिता भी क्षम्य मान लेता है।

विरह के चित्रण में विद्यापति बेजोड़ हैं। उनका विरह उपहासास्पद नही हुआ है। सूर की तरह विरह की उसाँसों का आधिक्य भी नहीं है। इसका मूल कारण है विद्यापति द्वारा मिलन सुख की स्थूल विवृति। यह आश्चर्य की बात नही है। मिलन के सुख का वे इतना गाढ़ा चित्रण इसलिए करते है कि वे विरह की काली रात्रि को अधिक स्पष्ट उभारना चाहते है। अर्थात् उनके मिलन संयोग के चित्रों की सघनता और रंगसाजी उनके विरह के पक्ष को ज्यादा स्पष्ट करने मे सहायक हुई है।

मोहन मथुरा चले गये। जिस कितव के छल को सौभाग्य समझ कर राधा अपने को अहिवार्ता समझती थी; उसी ने उससे मुँह मोड़ लिया, मोहन के गये एक पूरा दिन बीत गया

गतौ यामौ गतौ यामौ गता
यामा गतं दिनम्
हा हन्त किं करिष्यामि न पश्यामि
हरेर्मुखम् ।

एक पहर बीता, दोपहर बीता, तीसरा पहर भी बीत गया, रात गई, दिन गया; पर कृष्ण नहीं आये और तब राधा को लगा कि इस बार का विश्लेष क्षणिक याम नहीं है...नियति की क्रूर भृकुटि तन चुकी है...कल आयेंगे ऐसा कह कर तो प्रिय गया था, पर कल की रेखा खींचते-खींचते भीतर भर गई, आखिर वह कब आवेगा—

कालिक अवधि करिअ पिअ गेल
लिखइते कालि भीति भरि गेल
भले प्रभात कहत सबही
कह कह सजनि कालि कबही

राधा के लिए एक दिन का बिछोह भी दुःसह था।

कृष्ण क्या गए राधा का सर्वस्व ही चला गया। सपने में उसने देखा कि उसके हाथ से पारस मणि छूट गई, वह दूसरे के धन से धनवती हुई थी, जिसका धन था उसके पास चला गया। गोकुल जिस चाँद के लिए हमेशा चकोर की भाँति देखता था उसी चन्द्रमा की चोरी हो गई—

सूतह छलहुँ अपने गृह रे
निन्दइ गेलउँ सपनाई
कर सौं छुटल परस मनि रे
कोन गेल अपनाई
गोकुल चान चकोरल रे
चोरी गेल चन्दा
बिछुड़ि चललि दुहु जोड़ी रे
जीव दइ गेल धन्दा

बिरह की इस अनलंकृत व्यंजना के लिए विद्यापति ने बड़े कौशल से लोकगीतों की धुन का अनुसरण किया है। गीति-काव्य वाले निबन्ध में मैंने बताया है कि इस प्रकार के इकहरे और अत्यन्त तीव्र भावों की व्यंजना शब्दों के माध्यम से नहीं हो पाती, इन्हें व्यक्त करने के लिए अत्यन्त सीधे शब्दों और अकृत्रिम प्रतीकों का प्रयोग होता है। खास तौर से लोकगीतों की धुन ही इतनी करुणोत्पादक

ोनी है कि वह विरह की सान्द्रता और सघनता को भली-भाँति व्यक्त कर देती है। उदाहरण के लिए नीचे का गीत देखिए—

लोचन धाए फेनायल
हरि नहि आयल रे
सिव सिव जिबओ न जाए
आस अरुझायल रे
मन करे उड़ि जाइअ
जहाँ हरि आइअ रे
प्रेम पारसमनि जानि
आनि उर आइअ रे

अथवा—

सखि मोर पिया
अबहु न आओल कुलिस हिया।

विरह के वर्णन में विद्यापति ने बारहमासा और षट्-ऋतु वर्णन की पद्धति को भी अपनाया है। षट्-ऋतु वर्णन प्रायः संयोग शृङ्गार में ही प्रयुक्त होता था, विरह वर्णन में बारहमासा का प्रयोग होता था, किन्तु बाद में इस भेद को मिटा दिया गया और षट्-ऋतु वर्णन का प्रयोग विरह में भी होने लगा। हमने अगले अध्याय में 'प्रकृति-परिवेश' के अन्तर्गत इस प्रसंग पर विस्तार से विचार किया है।

विरह-वर्णन में सबसे महत्त्वपूर्ण होते हैं विविध संचारियों के वर्णन। सचारी भावों के वर्णन प्रायः कवि लोग उनकी निश्चित संख्या को दृष्टि में रखकर एक ही पद में उनका प्रसंगानुकूल कथन कर देते है। ऐसी स्थिति में सचारियों का वर्णन कभी भी मार्मिक और हृदयस्पर्शी नहीं हो पाता। विद्यापति विप्रलभ शृङ्गार के संचारी भावों के वर्णन में दक्ष हैं—

सखि हे कतहु न देख मधाई
काँप शरीर धीर नहि मानस
अवधि नियर भेलि आई
मृगमद चानन परिमल कुंकुम
के गेल सीतल चदा
पिया विसलेस अनल सों लखिये
विपति चिन्हिए भल मंदा
भनइ विद्यापति सुनु वर जौवति
चित जनु झंखह आजे
पिय विसलेस कलेस मेटाएत
बालम विलसि समाजे

मैंने अभी निवेदन किया कि विद्यापति के विरह में अतीन्द्रिय पीड़ा ही नहीं है यानी ऐसा नहीं कि उनको राधा कृष्ण मिलन के आंगिक सुखों को कभी नही सोचती, सोचती है जैसे—

सरसिज विनु सर सर विनु सरसिज
की सरसिज विनु सूरे
जौवन विनु तन मन विनु जौवन
की जौवन पिय दूरे

इतना होने पर भी, राधा के मन में केवल आंगिक सुख की स्पृहा ही, इतने गहन विरह का कारण नहीं बनती, कुछ और है जो राधा के मन को मथ रहा है—

तेल विन्दु जैसे पानि पसारिअ
ऐसन मोर अनुराग
सिकता जल जे छनहिं सुखए
तैसन मोर सुहाग

सारी प्रकृति में विपत्ति के बाद सुख का आगमन होता है। निष्पत्र वृक्ष नवल पत्तों से सुशोभित हो रहे हैं लेकिन विरहिणी के आँखों में एक बार जो बरसात आई तो फिर जाने का नाम ही नहीं लेती—

विपत अपत तर पाओल रे
पुनु नव नव पात
विरहिन नयन दिहल विहि रे
अविरल बरसात

राधा कुसुमित कानन को देखकर एक क्षण दोनों आँखें बन्द करके खड़ी रह जाती है, कोकिल की आवाज और भौरों की गुंजार को सुनते ही दोनों कान बन्द कर लेती है। उसकी अवस्था का क्या कहना। रूढ़ उद्दीपनों के माध्यम से भी विद्यापति ने विरह कृशगात्री का एक सकरुण चित्र उपस्थित किया है—

चानन भेल विषम सर रे
भूषन भेल भारी
सपनहु हरि नहिं आयल रे
गोकुल गिरिधारी
एकसरि ठाढ़ि कदम तर रे

पथ हेरति मुरारी
हरि बिनु हृदय दगध भेल रे
झामर फेल सारी

राधा की इस अपूर्व विरह दशा को विद्यापति भी सँभालने में असमर्थ हैं। लगता है उन्होंने विरह के आरम्भिक पद मात्र काव्य-रूढ़ि-निर्वाह के लिये लिखे थे; किन्तु तभी उनके हृदय को किसी परिस्थिति ने सहज विरह-पीड़ा से भर दिया और तब विरहिणी राधा के रूप में जिस तरह-पीड़ा की धारा वह चली, वह विद्यापति के हाथ से छूट गयी। कवि ने लिखा है कि मैं राधा का कभी प्रबोधन नहीं कर सकता, मदन सर-धारा में बहती हुई यह लड़की हमारे बचाये नहीं बच सकती—

माधव कत परबोधब राधा
हा हरि हा हरि कहतहिं बेरि बेरि
अब जिउ करब समाधा
धरनि धरिये धमि जतनहिं बइसइ
पुनहिं उठाएं नहिं पारा
सहजहिं बिरहिनि जग मँह तापिनि
बौरि मदन सर धारा
अरुन नयन नोर तीतल कलेवर
बिलुलित दीघल केसा
मन्दिर बाहर करइत संसय
सहचरि गनतहिं सेसा

राधा के विरह में सचमुच विद्यापति अपना हृदय निकाल कर ही रख दिया है। यह विरह पीड़ा इतनी अनन्तव्यापिनी और इतनी शुभेच्छा-पूर्ण है कि इसकी बराबरी का कोई और वर्णन कठिनाई से प्राप्त होगा। राधा कृष्ण के लिए अपनी इस अवस्था में भी हजारों शुभेच्छाएँ भेजती हैं, वे जहाँ भी रहें सुख से रहें, हमारा दुःख तो हमारे कर्मों का फल है। विद्यापति में विरहवर्णन की दूसरी विशेषता के विषय में भी मैं आरम्भ में ही लिख चुका हैं। यानी आशावादिता। वे इस प्रकार के कष्टों में पड़ी हुई विरहिणी को सान्त्वना देते वक्त जिस प्रकार उसे प्रिय-मिलन का विश्वास दिलाते हैं, वह एकदम उनकी अपनी चीज है। विरहिणी राधा का दुःख शाश्वत है क्योंकि विद्यापति काल्पनिक मिलन के मिथ्योपचार से इस दुःख को हृदय से उतारना नहीं चाहते। उनके लिए यह दुःख संसार की अमूल्य निधि है, इसे यों ही खो देना उन्हें स्वीकार नहीं। राधा अपने प्रिय की याद करते-करते 'भृंगीगति' को प्राप्त हो गई, वह स्वयं माधव हो गई है वह अपने गुणों पर लुब्ध है, अपने ही विरह ने

उसने अपना ही शरीर जर्जर कर डाला। राधा के लिए राधा ने सब कुछ न्योछावर कर दिया। विद्यापति कहते हैं कि जब वह प्रेम की विभोर दशा में होती है तब तो अपने को कृष्ण समझकर राधा-राधा रटती है, परन्तु जब उसे होश आता है तो फिर कृष्ण-कृष्ण की रट से प्राणों को व्यग्र कर देती है। द्विधा-अग्नि से पीड़ित राधा की यह कंचन-मूर्ति विद्यापति के आंसुओं से अभिषिक्त हुई है—

> अनुखन माधव माधव सुमरइत
> सुन्दरि भेलि मधाई
> ओ निज भाव सुभावहि बिसरल
> अपने गुन लुबुधाई
> माधव अपरुप तोहर सनेह
> अपने विरह अपन तनु जरजर
> जीवइति भेल सदेह
> भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि
> छल छल लोचन पानि
> अनुखन राधा राधा रटइत
> आधा आधा वानि
> राधा सय जब पुनतहि माधव
> माधव सयं जब राधा
> दारुन प्रेम तबहि नहिं टूटत
> बाढ़त विरहक बाधा
> दुहु दिसि दारुन दहन जैसे दगधइ
> आकुल कीट परान
> ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि
> कवि विद्यापति भान

इस तरह की ममतामयी, प्रणत प्रेमानुरागिनी राधा से अलग होकर कृष्ण भी कम दुःखी नहीं हुए। राधा के वियोग में कृष्ण भी विगलित होकर निरन्तर आंसू बहाते रहे :

> एरे राधे जानि न जाम, तोरे विरहे विमुख कान्ह
> तोरि चिन्ता तोरिये नाम तोरिये कहनी कहे सब ठाम
> आम्भेर की कह सिनेह तोर सुमरि-सुमरि नयन भर नीर

राधा के प्रेम का यह प्रतिदान भी बहुत है। यदि कृष्ण एक बार भूलकर भी यह स्वीकार कर लें कि वे राधा के प्रेम को भुला नहीं सके, तो राधा अपने जीवन को कृतार्थ समझेगी। सूर की राधा के कृष्ण उससे फिर मिले। प्रभास क्षेत्र में दोनों का मिलन हुआ। कृष्ण ने मथुरा जाने के बाद ही उद्धव को दूत बनाकर सन्देश भी भेजा :

ऊधो मोंहि ब्रज बिसरत नाहीं

केशव भट्ट के कृष्ण ने तो राधा से अनुनय भी की "जब आप अपने स्वजनों की गिनती करें, उस समय एक क्षण के लिए मुझे भी याद करके उनमें मेरे नाम की भी एक रेखा खींच देना :

आस्तां तावत् वचन रचना भाजनत्वं विदूरे
दूरे चास्ता तव तनुपरीरम्भ सम्भावनापि
भूयो भूयः प्रणतिभिरिदः किन्तु याचे विधेया
स्मारं स्मार स्वजन गणने कापि रेखा ममापि

रत्नाकर' के कृष्ण यमुना में बहे जाते हुए गोपी कंठ से गिरे हुए मुझाए कमल को छाती से लगा कर रोते रहे। मिथिला के एक संस्कृत कवि के कृष्ण ने तो यहाँ तक कह दिया कि राधे यदि किसी निर्जन वन अथवा पथिक रहित मार्ग मिल गया तो मैं निःसंकोच अपने हृदय की पीड़ा को आँसुओं में बहाकर संसार को अपने शोक से प्लावित कर दूँगा—

यदि निभृतमरण्यं प्रान्तरं बाप्यपान्थं
कथमपि चिरकालं पुण्यपाकेन लप्स्ये
अविरल गलदस्रैर्घरध्वानामिश्रैः
शशिमुखि तव शोकैः प्लावयिष्ये जगन्ति

परन्तु विद्यापति के कृष्ण ने न तो सन्देश भेजा न तो खुद कभी मिले। विद्यापति अपनी राधा की पीड़ा से व्याकुलित होकर उसे आश्वासन देते रहे, शीघ्र ही प्रिय के मिलने के आशापूर्ण समाचारों से वे राधा के शोकाभिभूत चित्त को प्रबोधते रहे; पर वे प्रवंचना के इस भार को खुद संभाल न सके और विद्यापति की राधा शोक के अथाह सागर में निमज्जित हो गई। विद्यापति ने राधा की जिस सजीव मूर्ति को तिल-तिल करके सँवारा था; अपरूप सौन्दर्य के जिस उपादान को उन्होंने रच-रच कर सारी हार्दिक ममता के साथ खड़ा किया था, उसी को उन्होंने अपने ही हाथों शोक समुद्र मे विसर्जित कर दिया

मैं नहीं जानता कि किसी दूसरे कवि ने अपनी नायिका को एक साथ इतना मांसल, इतनी विदग्ध, इतनी सरल, सुन्दर, नारीत्वपूर्ण कामिनी, सारे विक्षोभ-कारी सौन्दर्य-उपकरणों की मूर्ति, इतने स्पष्ट हृदय-वाली दूध की तरह चंचल, और स्वस्थ, पृथ्वी की गन्ध की तरह मुग्ध करने वाली, विद्युत् की तरह चंचल, धरती की तरह क्षमाशील, ग्रामीणा की तरह निश्छल, और साथ ही कीर्ति की तरह आकर्षण, शुभ्रा-ज्योति की तरह शान्तिदायिनी, विरह पीड़ित, शची की तरह पवित्र, और पार्वती की तरह साधनारत बनाया होगा।

११ | विद्यापति के कृष्ण

कृष्ण के विषय में विद्वानों ने अनेक प्रकार की शंकाएँ उठाई हैं और उनका विविध प्रकार से समाधान किया गया है; किन्तु कोई सर्वमान्य निष्कर्ष नहीं निकाला जा सका है। उनके विषय में मुख्य रूप से ये समस्यायें उठाई जाती हैं—

१. कृष्ण सांसारिक मानव नहीं देवता थे। उनकी स्थिति केवल मानसिक है। कुछ लोग उन्हें साम्प्रदायिक देवता, कुछ वनदेवता तथा अन्य लोग सौर देवता मानते हैं।

२. अनेक विद्वानों के मतानुसार कृष्ण नामक अनेक व्यक्ति थे जिनके चरित्रों का समन्वय होकर एक कृष्ण का चरित्र बन गया है।

३. कुछ विद्वानों के मतानुसार कृष्ण व्यक्तिवाचक नाम नहीं है, उपाधि-सूचक है। वास्तविक नाम वासुदेव है।

४. बालकृष्ण अभीरों के देवता हैं।

५. बालकृष्ण के आख्यान पर ईसा के चरित्र का प्रभाव है।

६. कृष्ण के आविर्भाव काल के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है।

कृष्ण (आंगिरस) का सबसे प्राचीन उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है।[१] वहाँ वे अपने पौत्र विष्णापु को जीवनदान करने के लिए अश्विनीकुमारों की स्तुति करते हैं। उक्त संहिता में ही कृष्ण नामक एक असुरकामी आख्यान मिलता है जो इन्द्र द्वारा पराजित हुआ था।[२] आगे चलकर कृष्ण आंगिरस का उल्लेख कौशीतकि ब्राह्मण में मिलता है।[३] छान्दोग्योपनिषद में देवकी पुत्र कृष्ण का उल्लेख मिलता है जिन्हें घोर आंगिरस का शिष्य कहा गया है। वहाँ आंगिरस ने यज्ञ की नवीन व्याख्या की है और तप, दान, अहिंसादि को उसकी दक्षिणा बताई है। ऋग्वैदिक आंगिरस कृष्ण तथा कृष्णासुर में कोई सम्बन्ध-सूत्र ज्ञात नहीं होता, किन्तु शेष स्थली पर 'आंगिरस' शब्द की उपस्थिति ध्यान आकृष्ट करता है। फिर भी इन स्थलों पर उल्लिखित कृष्ण की एकता के संबंध में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता।

छान्दोग्य उपनिषद के ज्ञान-पिपासु देवकी पुत्र कृष्ण का सम्बन्ध वार्ष्णेय

---

१. १।११६।७, २३;८।८५।१—९;८।८६।१—५

२. १।१०१

३ ३० ९

कृष्ण से जोड़ा जा सकता है, क्योंकि दोनों ही देवकी के पुत्र हैं दोनों ही ज्ञानी भी। प्रथम, यज्ञ की नवीन व्याख्या से सन्तुष्ट हो जाते हैं तथा द्वितीय गीता का उपदेश देते हैं। किन्तु इस विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। गार्व, ग्रियर्सन, हेमचन्द्र तथा राय चौधरी आदि विद्वान् छान्दोग्य उपनिषद् महाभारत और पुराणों के कृष्ण को एक ही मानते हैं, जब कि श्री ए० डी० पुसालकर आदि विद्वान् छान्दोग्य उपनिषद्, महाभारत और पुराणों के कृष्ण को एक ही मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं।[1]

अनेक विद्वान् महाभारत तथा पुराणों के कृष्ण को एक नहीं मानते, क्योंकि महाभारत में गोप कृष्ण के चरित्र का सन्दर्भ नहीं मिलता और प्राचीन पुराणों में कृष्ण तथा पांडवों के सम्बन्ध का उल्लेख है। इस प्रकार कृष्ण की एकता तथा अनेकता को लेकर विद्वानों ने बड़ा ऊहापोह किया है।

बौद्ध साहित्य में कृष्ण का उल्लेख दो स्थानों पर मिलता है—घत जातक तथा महा उमग्ग जातक में। घत जातक की कथा को कुछ सीमा तक भागवत पुराण की कृष्ण कथा का लौकिक अथवा विकृत रूप कहा जा सकता है तथा महा उमग्ग जातक के कृष्ण रूपासक्त होकर चांडाल कन्या जम्बावती से विवाह करते हैं।

जैन परम्परा में कृष्ण की गणना तिरसठ शलाका पुरुषों में की गई है। उनकी मान्यता के अनुसार वे नवें वासुदेव हैं। ब्राह्मण तथा जैन कृष्ण कथा का स्थूल रूप तो प्रायः समान ही है, किन्तु दोनों के सूक्ष्म विवरण मे बड़ा भेद है।

मथुरा, पहाड़पुर (बंगाल), मंडोर, सूरतगढ़ (राजस्थान), तथा बादामी (दक्षिणी भारत) में कृष्ण जन्म से सम्बद्ध अनेक प्राचीन पुरातात्विक प्रमाण मिलते हैं। मथुरा में कृष्ण जन्म से सम्बद्ध एक शिलापट्ट प्राप्त है जिसमें वसुदेव कृष्ण को सूप में सुलाकर यमुना पार कर रहे हैं। इस पट्ट का निर्माण-काल ईसा की पहली शती माना जाता है। दूसरे शिलापट्ट में कालियदमन का दृश्य अंकित है तथा तीसरे में गोवर्धन धारण का। इनका निर्माण-काल क्रमशः पाँचवीं और छठीं शती अनुमित है। पहाड़पुर की मूर्तियों में धेनुक-वध, यमलार्जुन-उद्धार तथा मुष्टिक और चाणूर के साथ मल्ल युद्ध के दृश्य दिखाये गए हैं। एक मूर्ति में कृष्ण किसी गोपी के साथ खड़े हैं। संभवतः यह राधा है। इन मूर्त्तियो का निर्माण काल छठीं शती ईस्वी माना जाता है। कदाचित् यह राधा का प्राचीन-तम मूर्तिगत प्रमाण है। मंडोर तथा सूरतगढ़ में भी अनेक गोकुल लीलाओं के उत्कीर्ण चित्र तथा मूर्तियाँ मिली हैं। इनका समय चौथी-पाँचवीं शती ईस्वी माना जाता है। बादामी के पहाड़ी दुर्ग पर कृष्ण-जन्म, पूतना वध, शकट भंजन, कंस-वध आदि के दृश्य गुफाओं में उत्कीर्ण हैं। इनका निर्माण छठीं-सातवीं शती

---

१. लक्ष्मी शंकर गुप्त—कृष्ण कथा की परम्परा और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में उसका स्वरूप अनुच्छेद १४

ईस्वी माना जाता है।[1]

सम्पूर्ण कृष्ण-साहित्य में गोपीकृष्ण का शृङ्गारिक सम्बन्ध बड़ा महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण साहित्य के विशाल प्रासाद की आधारभूत सामग्री प्रायः यही है।

गोपीकृष्ण का यत्किंचित् भी शृङ्गारिक सम्बन्ध महाभारत में अप्राप्य है। सभापर्व में शिशुपाल कृष्ण के ऊपर अनेक प्रकार के लांछन लगाता है किंतु गोपियों के साथ उनके अनैतिक सम्बन्ध की वह कहीं भी चर्चा नहीं करता। महाभारत के अनेक संस्करणों में यह पाया जाता है कि चीरहरण के प्रसंग में द्रौपदी कृष्ण को 'गोपीजन, वल्लभ' कहकर पुकारती है। और इस आधार पर महाभारत में भी गोपी-कृष्ण के शृङ्गारिक सम्बन्ध का बीज ढूंढ़ा जाता है। किन्तु पूना के प्रामाणिक संस्करण द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि उक्त स्थल प्रक्षिप्त है। अतएव महाभारत से गोपी-कृष्ण का शृङ्गारिक संबंध कथमपि सिद्ध नहीं होता। ऐसा लगता है कि गोपी-कृष्ण का शृङ्गारिक संबंध शृङ्गार-अतृप्त परवर्ती मस्तिष्क की अथवा भक्ति के क्षेत्र में विकसित माधुर्य साधना की उपज है। आभीरों के देवता की शृङ्गारिक कथाएँ लोक में प्रचलित रही होंगी तथा उनका चरित्र में समावेश हो गया होगा। सर भंडारकर का कथन है कि आभीर जाति प्रारम्भ में घुमक्कड़ थी और इनके समाज में नैतिक बंधन पर्याप्त शिथिल थे।[2] ऐसी जाति के देवता के चरित्र में शृङ्गारिया के समावेश की संभावना अधिक है। यदि आभीरो के किसी ऐसे देवता और उसके शृङ्गारिक चरित्र का प्रभाव न भी माना जाय तो भी यह संभव है कि स्वयं कृष्ण के चरित्र में ही शृङ्गारिकता के बीच बिन्दु विद्यमान रहे हों, जो कालान्तर में नाना कल्पनाओं से जुड़कर निरन्तर विकसित होते गए।

साहित्य में गोपी-कृष्ण के शृङ्गारिक सम्बन्ध का उल्लेख सर्वप्रथम अश्वघोष के 'बुद्ध चरित्र'[3] में मिलता है जिसका रचना काल ईसा की पहली शती माना जाता है। प्रथम शती ईस्वी में संकलित 'गाथा-सप्तशती' में राधा-कृष्ण तथा गोपियों के शृङ्गार से संबंधित अनेक गाथाएँ मिलती हैं।[4] दक्षिण के आलवार भक्तों के साहित्य में गोपी-कृष्ण के प्रेम प्रसंग के अनेक गीत मिलते हैं। इनमे नाप्पिन्नाय नामक एक गोपी का मुख्य रूप से वर्णन है जिसे लक्ष्मी का अवतार माना गया है। यह गोपी राधा का ही दक्षिणी रूपान्तर ज्ञात होती है। समय के साथ-साथ गोपी-कृष्ण की शृङ्गारिक लीलाओं की दिनोंदिन वृद्धि ही होती जाती है। हरिवंशपुराण का हल्लीसक नृत्य, विष्णु और ब्रह्मपुराण में रासलीला का रूप धारण करता है। वहाँ किसी ऐन्द्रिक संबंध का अनुमान नहीं लगता,

---

१ आर्केलाजिकल मेम्वायर; १८२८-२९ ई० तथा आर्केलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९०५-६, २६-२७ तथा २८-२९ ई०।

२. 'वैष्णविज्म शैविज्म तथा अन्य धर्म' अनुच्छेद ३७ की अंतिम कंडिका।

३ ४।१४

४ १ २९ २ १२ १४ ५।४७

किन्तु भागवत पुराण में रतिक्रीड़ा का स्पष्ट उल्लेख हुआ है और ब्रह्मवैवर्त पुराण में गोपी-कृष्ण की रतिक्रीड़ाएँ मर्यादा का निरन्तर उल्लंघन करती प्रतीत होती हैं। गर्ग-संहिता से भी विलास कला की अनेक लीलाओं का बड़ा विस्तृत चित्रण किया गया है।

पुराण साहित्य के अतिरिक्त परवर्ती संस्कृत साहित्य में भी गोपी-कृष्ण की उद्दाम शृङ्गार केलि बढ़ती ही गई। उनके चरित में लालित्य एवं माधुर्य के साथ-देवत्व का भी विकास होता गया। हाल की गाथा-सप्तशती में गोपी-कृष्ण की मधुर लीलाओं में भक्ति की झलक नहीं मिलती, किन्तु बारहवीं शती तक उनके देव रूप की प्रतिष्ठा बहुत दृढ हो गई। इसका प्रमाण है लीला शुक का 'कृष्ण कर्णामृत', ईश्वरपुरी का 'श्रीकृष्ण लीलामृत' और जयदेव का 'गीतगोविन्द' आदि।

बारहवीं शती तक कृष्ण काव्यों की रचना प्राय: मुक्तकों में हुई। कालातर मे कृष्ण चरित्र को लेकर प्रबंध काव्यों की रचना होने लगी। हरि लीला (बोप-देव) यादवाभ्युदय (वेदांत देशिक), व्रजविहारी (श्रीधर, स्वामी), गोपलीला (रामचन्द्र भट्ट), हरिचरित काव्य (चतुर्भुज), मुरारि विजय नाटक (कृष्ण भट्ट) आदि ऐसे ही प्रबन्ध काव्य हैं।

कृष्ण के विषय में यह ऐतिहासिक सामग्री जो भी रूप उपस्थित करे, इतना सत्य है कि दसवीं शताब्दी तक कृष्ण न केवल विष्णु के अवतार के रूप में प्रति-ष्ठित हो चुके थे बलिक उनके व्यक्तित्व में आनन्द और माधुर्य के दो विशिष्ट गुण इस तरह समन्वित हो गए कि वे कृष्ण भक्ति की प्रेममार्गी अनेक साधनाओ के आराध्य के रूप में स्वीकृत कर लिए गए। वस्तुत: ऐतिहासिक सामग्री कृष्ण के व्यक्तित्व को स्पष्ट करने में उतनी सहायक नहीं होती जितनी उनके मध्यकालीन कवियों द्वारा निर्मित भास्कर रूप को आच्छादित करने में।

वैष्णव कवि कभी भी कृष्ण को ऐतिहासिक पुरुष मानकर नही चलता। वह उन्हें ईश्वर का साक्षात् रूप और प्रेमघन विग्रह मानता है। परिणामत: उसकी भक्ति में काव्य तत्त्व के साथ ही साथ प्रणति और समर्पण का भाव भी सम्मिलित रहता है। उसके लिए कृष्ण शृङ्गारिक चेष्टाएँ एक अद्भुत आध्या-त्मिक अर्थ से ओत-प्रोत दिखलाई पड़ती हैं। जब कि इतिहासकार कृष्ण और गीता के कृष्ण दोनों को दो विरोधी चीजें समझकर व्यर्थ का वितंडवाद खड़ा करता है। कृष्ण ने स्वयं ही रूढ़िवादी नैतिक परम्परा को जो मानव चित्त के नैसर्गिक प्रेमभाव को अपनी क्रूर चट्टानों से अवरुद्ध कर दिये थी, तोड़ने की कोशिश की। उन्होंने अपने को धर्म की अविरोधी कामशक्ति कह कर इसी बात की पुष्टि की थी—

"धर्माविरुद्ध कामोऽस्मि भरतर्षभ"

कृष्ण वस्तुतः निषेध के नहीं अनुराग के देवता थे। उनका व्यक्तित्व समाज की रूढ़ियों को तोड़ने और मानव चित्त को नैसर्गिक शक्तियों के

विकास के लिए निरन्तर प्रयत्नशील कर्मों का आधार था। इसीलिए कृष्ण के चरित्र को जब भी बने बनाए रूढ़िग्रस्त साँचों या दृष्टिकोणों से देखने की कोशिश की गई, असफलता ही हाथ लगी।

कृष्ण भक्ति की जो धारा कालान्तर में माधुर्य रस से ओतप्रोत होकर वल्लभ, राधावल्लभ तथा चैतन्य और निम्बार्क सम्प्रदायों में निरन्तर प्रवाहित होती रही, उसका आदि स्रोत भाषा काव्य में सर्वप्रथम विद्यापति की पदावली से निःसृत हुआ। विद्यापति के ऊपर अपने समसामयिक दरबारी जीवन; ह्रासशील संस्कृति और शृङ्गारिक वातावरण का प्रभाव कम नहीं पड़ा, किन्तु उनके समर्थ व्यक्तित्व ने इस पतनोन्मुख वासना की धारा को राधाकृष्ण प्रेम के चित्रण के माध्यम से परिवर्तित करने का प्रयत्न भी कम नहीं किया। विद्यापति के कृष्ण को हम सही अर्थों में तभी समझ सकते हैं, जब कृष्ण के विषय में प्रचलित माधुर्य विषयक साधनाओं का सही रूप समझ सके। कृष्ण और काम वे दोनों ही एक ही तत्त्व के दो पहलू हैं। लौकिक अथवा प्राकृत मदन, मदन है तथा अलौकिक और अप्राकृत मदन को श्रीकृष्ण कहा जाता है। इसी कारण कृष्ण साधना में कृष्ण मन्त्रों की मूल शक्ति कामबीज कही जाती है। कृष्ण गायत्री और काम गायत्री में कोई अन्तर नहीं है। शिव के दाहक तृतीय नेत्र से भस्मीभूत काम अनंग होकर और भी अधिक प्रभावशाली तथा साधक चित्त के लिए विकारोत्पादक सिद्ध हुआ। यह मदन कृष्ण के पुत्र के रूप में परिवर्तित होकर अर्थात् माधुर्य के द्वारा परिष्कृत होकर प्रद्युम्न के रूप में वैष्णव व्यूह चतुष्टय का अंग बना। विद्यापति के कृष्ण पर विचार करते समय काव्य दृष्टि के अलावा उपर्युक्त आध्यात्मिक और दार्शनिक दृष्टि पर भी निरन्तर ध्यान रखना चाहिए।

कृष्ण साधना में बहुत पहले से काम पूजा का समावेश दिखाई पड़ता है। गोपाल पूर्वतापनीयोपनिषद् में जिस गोपाल यंत्र का उल्लेख है उसमें काम-गायत्री और काम मालामंत्र को बहुत ही महत्त्व दिया गया है। गोपाल यंत्र की मध्यस्थ कर्णिका पर कामबीज, अष्ट दलों पर तीन-तीन अक्षरों के क्रम से चौबीस अक्षरों वाली काम गायत्री, अर्थात् "कामदेवाय विद्महे पुष्प बाणाय धीमहि तन्नोऽनंगः प्रचोदयात्" मंत्र के लिखने का विधान बताया गया है। पुनः प्रत्येक दल पर छह अक्षरों के क्रम से काममाला मंत्र "नमः काम देवाय सर्वजन-प्रियाय, सर्वजन संमोहनाय ज्वल ज्वल प्रज्ज्वल सर्वजनस्य हृदयं ममवशं कुरु कुरु स्वाहा" के लिखने की रीति बताई गई है। इन बातों से स्पष्ट हो जाता है कि कृष्णोपासक कवि के लिए काम, साधना में बाधक तत्त्व के रूप में नहीं, साधक शक्ति के रूप में मान्य था। विद्यापति ने इसीलिए अनेक बार काम पूजा का बार-बार उल्लेख किया है। यह प्रकारान्तर से कृष्ण पूजा के विधान का ही संकेत है—

(१) बाम चम्पक काम पूजल।

(२) कइसे कें हम मयन अराधब
होइति बड़ि रति साति रे ।
(३) कत विघन जितल अनुरागिनि
साधलि मनमथ तंत ।।

यही मन्मथ तंत्र है ।

विद्यापति ने जगत विजेता नृपति कामदेव की प्रशंसा में उसके ऐश्वर्य और शक्ति संमोहन का भी कई बार उल्लेख किया है—

(१) तथहु मनोहर बाजन बाजए
जनि जागे मनसिज भूप रे
(२) भये गुरु काम सिखाएब पाठ
(३) सुभ दिन आज राजपन मनमथ
(४) मदन महारथ बाजन बाज
(५) कोकिल बोलये साहर भार
मदन पाओल जग नव अधिकार
(६) दुहुंतन काँपइ मदन उछलि रे
(७) कुसुम सर रंग संसार सारा ।

यह काम निरन्तर मंगलमय है, इसका स्पर्श जड़ और चेतन को नई स्फूर्ति, शक्ति और प्रेरणा से भर जाता है । मदन निरन्तर सौन्दर्य के संसार में तल्लीन दिखाई पड़ता है—

(१) अपरूप रूप मनोभाव मंगल
(२) मदन मोति लये पूजल इन्दु
(३) केसर कुसुम करु सिन्दुरदान
जओतुक पावल मानिनी मान
खेलए कौतुक नव पंचबान
विद्यापति कवि दृढ़ करि भान ।
(४) अनंग मंगल भेलि कामिनि करथु केलि ।।

इस लौकिक मदन को निरन्तर कृष्ण के रूप, रसरंग, प्रेम और माधुर्य से पराजित दिखाकर विद्यापति ने उनके अप्राकृत मदनत्व को प्रतिष्ठित किया है ।

(१) तब धर मदन मोहन तरु कानन
सुटइ धीरज पुनि छोरि

(२) मदन सिंहासन करल अरोहन
मोहन रसिक सुजान ।
(३) दुहु रूप लावनि मनमथ मोहनि निरखि नयन भुलि जाय ।
(४) रति रन मदन परामव मानल
जय जय डिम डिम बाजे ।

इस प्रकार कवि विद्यापति ने मदन प्रसंग की व्यापक आयोजना करके उसे राधाकृष्ण प्रेम में विसर्जित करने का पूरा प्रयत्न किया है ।

विद्यापति के कृष्ण सौन्दर्य के अप्रतिम भाण्डार हैं । उनकी ऐन्द्रजालिक शोभा ने सम्पूर्ण व्रज को विह्वलित कर रखा है । उनकी त्रिभंगी छटा, यमुना के तीर कदम्ब वृक्ष के नीचे खड़ा होकर भुवनमोहन सौन्दर्य से सबको बरबस अपनी ओर खींचने वाली मुद्रायें गोपियों के हृदय को नाना प्रकार के वैचित्य-कारी भावों से उन्मथित कर देती हैं । कृष्ण के इस रूप को राधा अपार्थिव, अलौकिक और इतना नैसर्गिक मानती है कि उन्हे लगता है कि कहीं यह सचमुच सपना ही न हो—

ए सखि पेखल एक अपरूप ।
सुनइत मानबि सपन सरूप ।

यह रूप उनकी सारी चेतना को हर लेता है । वे इस अपरूप रूप को सांसारिक मर्यादाओं के बन्धन के कारण एक निमिष सिर्फ आधे लोचनों से ही देख पाती है कि उनका मन-मृग व्याध के विषम बाण से बद्ध होकर हत-चेत शून्य सा हो जाता है ।

की लागि कौतुक देखलौं सखि
निमिष लोचन आध ।
मोर मन-मृग मरम बेधल
विषम बान बेआध ।।

नील-तरंगिनी यमुना के तट पर कदम्ब-कानन के बीच खड़े कृष्ण को देखने की लालसा रोके रुक न सकी, और उलट-पुलट कर देखने की प्रक्रिया में चरण काँटों से बिद्ध हो गए । ऐसा था ऐन्द्रजालिक रूप, जिसने प्रथम दर्शन में ही राधा के चित्त को प्रेम वैचित्य से भर दिया । विद्यापति इस दर्शन को क्या मानते हैं ? क्या केवल सांसारिक रूप का दर्शन मात्र, अथवा किसी पुण्य का उदय ?—

सुकृती सुफल सुनहु सुन्दरि
विद्यापति भन सार ।

कंस दलन गुपाल सुन्दर
मिलल नन्द कुमार ।

कृष्ण की शोभा और उनकी मुख छवि तो हृदय को अपहृत कर ही चुकी थी, उनके अमृत वचनों ने तो पीड़ा की सीमा ही तोड़ दी । ये मधुर शब्द कानो मे पड़कर चित्त को जाने कितना अशान्त बनाएँगे, इस डर से प्रथम सम्भाषण के समय राधा कान बन्द कर लेती है—

माधव बोलल मधुरी बानी
से सुनि मुँदु मोयँ कान ।
ताहि अवसर ठाम बाम भेल,
मरि धनू पंचबान ॥

राधा को डर लगता है कि आज श्याम सुन्दर इस रास्ते से आएँगे, किन्तु वे अपने आँचल में आरती नहीं सजा पायेंगी । वे दौडकर उनके सामने खड़ी भी नहीं हो पायेंगी । क्योंकि आधा पद रखते ही नागर जन-समाज टेढ़ी भौंह करके देखने लगेगा । इसलिए वे कृष्ण के पास पहुँचने के लिये गरुड़ से पंख और इन्द्र से हजार आँखें पाने की प्रार्थना करती हैं ।

कृष्ण की ये सारी विशेषताएँ उनके मन, चित्त और प्राणों को बिना मूल्य खरीद चुकी थीं और उस दिन जब पहली बार उन्होंने बाँसुरी में राधा का नाम ले लेकर पुकारा तब तो राधा ने अपना सब कुछ प्रेम के दाँव पर ही रख दिया—

एक दिन हेरि हेरि हँसि हँसि जाय ।
अरु दिन नाम धए मुरलि बजाय ॥

किन्तु सबको अपने ऐन्द्रजालिक सौन्दर्य से आकुल-व्याकुल करने वाला स्वयं भी अछूता न रहा । भुवन-मोहन कृष्ण राधा की मोहिनी से व्याकुल होकर यमुना तट पर विभ्रमित घूमते रहे । कभी "पूरा देख भी नहीं पाए" की अतल निराशा, कभी कनकलता के समान पृथ्वी पर चलती हुई राधा की सुकोमल देह यष्टिका हल्का निरावृत आकर्षण, कृष्ण को अर्थात् अप्राकृत मदन को मदन के कुहुक बाणी से बेधने लगा—

गेलि कामिनी गजहु गामिनि,
बिहँसि पलटि निहारि ।
इन्द्रजाल कुसुम सायक,
कुहुकि भेल बरनारि

राधा के रूप से आकृष्ट कृष्ण उन्मत्त के समान वन-वन घूमते रहे। वे प्रत्येक क्षण मुरली में राधा का नाम लेकर पुकारते और उनकी प्रतीक्षा में निरन्तर पथ पर आँखें बिछाए बाट जोहते रहते—

> नन्दक नन्दन कदम्बक तरु-तरु
> धिरे धिरे मुरलि बजाव।
> समय संकेत-निकेतन बइसल
> बेरि बेरि बोलि पठाव॥
> सामरि, तोरा लागि
> अनुखन विकल मुरारि।
> जमुनाक तिर उपवन उदवेगल
> फिर फिर ततहि निहारि॥
> गोरस बेचए अबइत जाइत
> जनि जनि पुछ बनमारि॥

वैष्णव कवि के लिए इष्टदेव के रूप का चित्रण सिर्फ काव्यात्मक उपलब्धि ही नहीं रखता, बल्कि वह उसकी भावोपासना का सीधा आलम्बन भी हो जाता है, वस्तुतः कृष्ण के भुवनमोहन रूप से राधा का ही नहीं, विद्यापति का मन भी बिद्ध हुआ था, इसी कारण उनका एकमात्र नायक का रूप वर्णन न होकर उपासक का आराध्य भी बन गया है। राधा का वर्णन विद्यापति ने वैष्णव परं-परा के अनुसार आह्लादिनी महाशक्ति के रूप में किया है। परिणामतः कृष्ण की व्याकुलता को एक सामान्य व्यक्ति की कामुक विक्षिप्तता नहीं समझना चाहिए, वैसे यह सत्य है कि विद्यापति की दृष्टि मांसल रूप पर ज्यादा टिकती थी और वे राधाकृष्ण के प्रेम के विभिन्न प्रसंगों की उद्भावना करते समय अपने समय की शृङ्गार-वर्णन संबंधी रूढ़ परिपाटियों का भी निर्वाह करते थे। राधा कृष्ण के प्रेम में इसी कारण मध्यकाल की रूढ़ परिपाटी सर्वत्र दिखलाई पड़ती है। अर्थात् कवि क्रमशः प्रथम दर्शन, स्वप्न दर्शन तथा अनुरागोदय का वर्णन करने के पश्चात् दूती प्रसंग की भी अवतारणा करता है। मंडन, सखी-शिक्षा, उपालम्भ, परिहास आदि के भी अवसर आते हैं। साथ ही संभोग का विस्तृत वर्णन, मान, मान तोड़ने के विभिन्न प्रसंग और पुनः विस्तृत रति क्रीड़ाएँ। विप्रलम्भ की सभी दशाओं का यहाँ समावेश भी मिलेगा, यानी अभिलाषा, चिंता, स्मृति गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उत्कंठा, उन्माद, विपर्यास, व्याधि, जड़ता आदि का भी उन्होंने पुरस्सर वर्णन किया है। इन सभी प्रसंगों में कृष्ण का चरित्र किस रूप में विकसित हुआ है इस पर हम आगे विचार करेंगे।

विद्यापति के कृष्ण न केवल राधा के परमप्रिय प्रेमास्पद हैं बल्कि स्वयं प्रेम की व्यथा को प्रत्येक क्षण भोगने वाले प्रेमी भी हैं यद्यपि उनका प्रेम राधा के

प्रेम की तुलना में बहुत निश्छल, गंभीर और मासूम नहीं प्रतीत होता। फिर भी विद्यापति ने प्रेमी कृष्ण के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन किया है। वे अपना प्रेम-निवेदन दूती के माध्यम से राधा के पास भेजते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि विद्यापति की राधा परकीया ही हैं, इसलिए दूती-प्रसंग की अवतारणा प्रेम के गम्भीर वेदनात्मक स्वरूप को अतिशयोक्ति पूर्ण भी बना देती है। इसी प्रत्यवाय को दूर करने के लिए सूरदास आदि कृष्ण भक्तों ने राधा की स्वकीया के रूप में बदल दिया। जो भी हो विद्यापति ने राधा के रूप से विद्ध कृष्ण की कारुणिक अवस्था का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। दूती कहती है कि वे यमुना के तट पर बैठे हुए निरन्तर 'राइ', 'राइ' रटते, आँखों से अश्रु बहाया करते हैं। वे सभी प्रकार की केलि क्रीड़ाएँ छोड़कर अहर्निश भ्रमित चित्त विक्षिप्त की तरह ताकते हैं। उनका शरीर सर्पिणी के दंश से पीड़ित व्यक्ति के समान निरन्तर तड़पता रहता है। वे बार-बार कहते हैं—

पुनि फिरि सोइ नयन जदि हेरबि
पाओब चेतन नाह।
भुजगिनि दंस पुनहिं जदि दंसए
तबहि समय विष जाह॥

दूसरी ओर राधा की दूती उनके हृदय की दारुण पीड़ा का वर्णन कृष्ण तक पहुँचाती है। प्रेम विश्रब्ध होता है, गिरधारी की नटखट लीलाएँ यहाँ से शुरू होती हैं। वे कुंज भवन से निकलते कभी झटके से आँचल पकड़ लेते हैं। कभी नाना प्रकार के बहाने बनाकर राधा को रोकने की कोशिश करते हैं। विद्यापति ने इस प्रसंग में नौका लीला के दो पद दिए हैं जिनसे कृष्ण के हास-परिहास और नोक-झोंक का रूप सामने आता है।

विद्यापति ने राधा कृष्ण के प्रथम मिलन के पूर्व सखी-शिक्षा के माध्यम से कामशास्त्र में वर्णित उस पुरानी परिपाटी का निर्वाह किया है, जिसमें प्रथम समागम की आशंका से भयभीत नवोढा नायिका के विश्रंभण व्यापार सिखाए जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन प्रसंगों के चित्रण में विद्यापति आवश्यकता से अधिक रस लेते प्रतीत होते हैं, किन्तु सखी-शिक्षा और रतिक्रिया वाले प्रसगो के अलावा कुछ ऐसे भी अंश अवश्य हैं जिनमें कवि स्थूल वासनात्मक धरातल से ऊपर उठकर चिन्मय मिलन के क्षणों को भी बाँधने में सफल हुआ है। इन प्रसगो में कृष्ण का व्यक्तित्व केवल एक विदग्ध नायक की भाँति ही नहीं, प्रेम की रसानुभूति से प्रभावित व्यक्ति के रूप मे भी चित्रित हुआ है विद्यापति कृष्ण के चित्रण मे रूप भी धारण कर लेते हैं जैसे

पुनः आती हैं अभिसार की रातें, किन्तु वे चित्रण जितना राधा के प्रेम की दुर्निवारता का वर्णन करते हैं उतना कृष्ण के समुज्ज्वल प्रेम की अनन्यता का नहीं, वस्तुतः वे इन स्थलों पर एक धृष्ट नायक के रूप में चित्रित किए गए हैं।

राधा का मान अवश्य ही कृष्ण के हृदय की पीड़ा समुत्सुकता, आतुरता, प्रिया को मानने की विविध चेष्टाओं को सामने ले जाता है। यद्यपि यहाँ भी परंपरानुसार उन्हें छलिया रूप में ही चित्रित किया गया है, वे किसी पर नारी के साथ काफी रात्रि बिताकर जगी हुई लाल आँखों, सिर पर लगे जावक के चिह्नों और अधरों पर लगी लाली के साथ जब राधा के सामने आते हैं तो मान स्वाभाविक हो जाता है। ऐसे स्थलो पर कृष्ण के चातुर्य का वर्णन उनके व्यक्तित्व मे कोई वृद्धि नही करता। वे जब शिव-पूजा में रात्रि बिताने के कारण लाल हुई आँखों, तथा पूजा की रोरी से लाल भाल और अधर की बात करते हैं तो यह नायक की चतुराई तो प्रकट करती है, प्रेमी के चित्त की अनन्यता का परिचय नही देती मान तोड़ने के लिए उन्हें दो-तीन लीलाएँ भी करनी पड़ती हैं जिनसे निश्चय ही राधा के प्रति उनके चित्त का गौरव-भाव प्रकट होता है। वे योगी का वेष धारण करके 'मान रतन देइ मोय' की भीख माँगते हैं, उस समय मान की अवस्था में भी विरह से विदग्ध, विक्षिप्त राधा की जटिला वधू की मंगल कामना से प्रेरित होकर जोगी को पहचान नही कर पाती और जब दूसरी बार कृष्ण "देव देयासिनि' (तंत्र मंत्र जानने वाली स्त्री) के वेष में तथाकथित भूत-बाधा से परेशान राधा को निरोग बनाने के लिए जटिला के घर पहुँचते हैं, तो एकांत मिलन तो हो पाता है, पर मान नही टूटता। परिणामतः वीणा-वादिनी 'जनी' के रूप मे तीसरा प्रयत्न करते हैं। इस बार चातुर्य नहीं, प्रेम की पीड़ा ज्यादा उभरकर सामने आती है। दर्द की व्यथा से गूँजती हुई वीणा की आवाज सुनकर राधा स्त्री-रूप-धारी कृष्ण को पास बुलाती हैं—

राइ क निक बजाओल सुन्दरि
सुनइत भइ गेल साधा।
ए नव यौवनि नविन बिदेसिनि
आओ पुकारइ राधा॥

जो कार्य प्रदर्शनात्मक चातुर्य नहीं कर सका, वही निभ्रान्त वीणा के मधुर स्वरों ने कर दिया। राधा प्रेम से गद्‌गद होकर बोली, ऐसी ही व्यथापूर्ण रागिनी मेरा कान्हा भी बजाता है। और तब ?

धनि कह तुअ गुन रीझि प्रसन्न भेल
माँगह मानस जोय।
मनोरथ हम आँचलि बहि सुन्दरि

मान रतन देह मोय ।।
हँस मुख मोड़ि पीठि देइ बइसल
कान्ह कएल धनि कोइ ।
टूटल मान बढ़ल कत कौतुक
भूपति के करु ओइ ।।

और इसके बाद आता है पुन: विश्रब्ध प्रेमियों की लीला विलास, जिसमे कहीं कोई संकोच नहीं, सीमा नहीं, मर्यादा नहीं । प्राकृत मदन अपने पूरे दल-बल के साथ बसन्त ऋतु की मदभरी रातों में अप्राकृत मदन पर आक्रमण करता है और नवनव लाँबिया पल्लवों से समुल्लसित, नव वृन्दावन के नव तट पर, नवल बसन्त के नवल मलयानिल में जहाँ नव फूलों के नव पराग से मतवाले मधुप गुंजार कर रहे थे, नवल रसाल-मुकुल-मधु-मत्त कोकिल गान कर रहे थे, नव रस से निमज्जित नवल कानन में नवयौवना गोपियों के मंडल में घिरे नवल किशोर अपनी "नवल वरनागरि" राधा के साथ नवरस संयुक्त राम में तल्लीन हो गए । यही था वह स्थल जहाँ प्राकृत मदन की सारी चेष्टाएँ व्यर्थ हो गई, और बर्षों से प्रज्वलित प्रेम की आग अमृत की धारा से बुझ गई । रसिक रस-राज का संयोग इन चरम बिन्दु पर पहुँच कर अपार विरह में बदल गया । कृष्ण गोकुल से मथुरा चले गए ।

विद्यापति का विरह-वर्णन कृष्ण के चरित्र पर कोई प्रकाश नहीं डालता । विरह के माध्यम से राधा के प्रेम की अनन्यता, उदारता, नि:स्वार्थ समर्पण-शीलता तथा गंभीरता ही स्पष्ट हुई है । हाँ, यह सही है कि विद्यापति ने कृष्ण को भी इस विरह ज्वाला से अछूता नही रहने दिया है । वस्तुत: कृष्ण के हृदय की प्रतिक्रिया का चित्रण करके उन्होंने अपने नायक को कामकला प्रवीण, धृष्ट, चतुर नागर मात्र ही नहीं रहने दिया है । इसलिए जब कृष्ण ब्रज की यादें करके अपने भीतर के दु:ख को निश्छल ढंग से व्यक्त करते हैं, तो वे एक महत्वपूर्ण प्रेम को, एकांगी क्रिया-व्यापार, अथच रसाभास की स्थिति में परिणत होने से बचा लेते हैं ।

विद्यापति ने विरह वर्णन में भ्रमर गीत का कोई स्थान नहीं रखा है । एकाध पदो मे ऊधो शब्द का यों ही प्रयोग हो जाता है । इस कारण कृष्ण को उपालंभ देने के वे सभी प्रसंग जो परवर्ती कृष्ण भक्ति काव्य में बहुत विस्तार से चित्रित हुए हैं, यहाँ छूट जाते है । इसका विद्यापति के कृष्ण के व्यक्तित्व पर अच्छा ही प्रभाव पड़ता है, क्योंकि वे यहाँ कितव, छलिया, स्वार्थी, रसलोभी भ्रमर वृत्ति के चंचल स्वभाव वाले व्यक्तित्वों से विभूषित नही हो पाते । विद्या-पति ने कृष्ण के चरित्र की एक और भी दृष्टि से उभारने का प्रयत्न किया है । कृष्ण को ब्रज की स्मृति में उन्मन और उदास तथा राधा के अनन्य प्रेम का स्मरण करके करते हुए दिखाकर उनके व्यक्तित्व को निश्चय ही ऊँचा उठाया है

उनको अपना राज्य-ऐश्वर्य तथा दूसरी रमणियों के साथ सम्बन्ध अत्यन्त दुःखद प्रतीत होने लगता है और वे इन स्थितियों में विरक्त के समान जीवन व्यतीत करते हैं—

से बुनि रात दिवस नहिं भाषए
. ताहि रहल मन लागी
आनि रमनि सयँ राज सम्पद मोर्यें
आधिए जइसे बिरागी ॥

वे यमुना के तीर पर हुई रासलीला को याद करके चमत्कृत चित्त होकर अत्यन्त उदास हो जाते हैं और बार-बार अपनी वैभवपूर्ण राजधानी, अपनी नई नागरिकाओं के साथ समुपस्थिति विलास की सारी सम्पदा को राधा के बिना बाधा के समान मानते हैं—

सजनी कोन सरि जीबए कान।
राहि रहल दुर हम मथुरापुर
एतहु सहए परान ॥
अइसन नगर अइसन नव नागरि
अइसन सम्पद मोर।
राधा बिनु सब बाधा मानिए
नयनन तेजिए नोर ॥

कृष्ण की यह दशा कवि विद्यापति को भी यह कहने के लिए विवश कर देती है—

कह कबि सेखर अनुभवि जनलौं
बड़क बड़ई पिरीति ॥

विद्यापति ने अन्त में कृष्ण के चरित्र को और भी अधिक ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया है, जब वे उन्हें पुनः अपनी विरहिणी प्रेमिकाओं से मिलने के लिए ब्रज वापस ले आते हैं। यह दुरन्त, दुखदायी, दुर्निवार विरह अन्त में मिलन मे बदल जाता है। राधा की अतल स्पर्शिनी व्यथा, जिसको दाहक ज्वाला से सम्पूर्ण वृन्दाविपिन सूख गया था, पुनः पल्लवित और पुष्पित हो उठा। दोनों के लिए दुर्लभ, दोनों का दर्शन अपनी अजस्र धारा में विरह जनित सभी दुःखों को बहा ले गया। दोनों एक दूसरे के सामने बैठकर घण्टों एक दूसरे का मुँह देखते रह गए

चिर दिन से बिहि मेल अनुकूल रे।
दुहु मुख हेरइत दुहु से आकुल रे।।

यह मिलन प्रेम की सात्विक पराकाष्ठा को उस समय छूता है जब प्रेमी और प्रेमिका दोनों साथ हैं। लम्बे अन्तराल के विरह की सारी व्यथाएँ भूलकर एक-दूसरे के व्यवहार पर बिना किसी प्रकार का आरोप लगाए हुए, बिना कोई उपालंभ दिये हुए, एक-दूसरे के उदारतापूर्ण गुणों की चर्चा करते हुए एक दूसरे को देखते रहे—

नयन नयन दुहु बयन बयान
दुहु गुन दुहगुन दुहुजन गान।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्यापति नें कृष्ण-जीवन का अत्यन्त सीमित क्षेत्र लेकर भी उनके रूप, आकर्षण व्यवहार, शील और प्रेम प्रतिदान की विभिन्न स्थितियों का चित्रण करके एक ऐसे नायक का निर्माण किया है जो सहज ही पाठक के मानसिक जगत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेता है। विद्यापति ने कृष्ण जीवन की उन लीलाओं का जो असुरों के विध्वंस और सज्जनों के परित्राण के लिए घटित हुई, वर्णन नहीं किया है। इस कारण कृष्ण के ऐश्वर्यमय, शौर्यपूर्ण लोकरक्षक व्यक्तित्व का प्रस्फुटन नहीं हो पाता। उन्होंने परवर्ती सूरदास आदि की तरह उनके अतिशय चित्ताकर्षक बालरूप और बाललीलाओं का भी वर्णन किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति ने प्रेमी कृष्ण को ही अपना लक्ष्य बनाकर पूर्णकाम लीलावतार के जीवन के एक अंश मात्र को चित्रित किया। यह भी सही है कि उनका यह चित्रण कई स्थलों पर तत्कालीन रूढ़ परिपाटी के कारण कृष्ण की कामविदग्धता को ज्यादा उभारता है, किन्तु समूचे स्थूल रति-प्रसंगों और काम कला के विस्तृत वर्णनों के बीच भी कृष्ण का एक ऐसा चरित्र अवश्य उभारता है, जिसमें मानसिक अनुराग, उच्च कोटि का आनन्दमय मदन-विलास तथा अपनी अभिन्न प्रेमिका के प्रति निरन्तर वदान्य, कृतज्ञ, वंशवद, आस्थापूर्ण और सदानुरक्त बने रहने की संकल्पज सदिच्छा सदैव विद्यमान रहती है। विद्यापति के कृष्ण की यह सहज मानवीय अनुरक्ति उन्हें उस स्थान पर बिठा देती है कि वे चैतन्य से लेकर मीरा, सूर और बाद के अनेकानेक कवियों के लिए प्रेमसाधना के अचिन्त्य प्रणतपाल, चितरंजक आराध्य के रूप में प्रेरणाप्रद अभय-वरद मुद्रा वाले प्रियातिप्रिय परमदैवत बन गये। वैष्णव कीर्तन में विद्यापति के श्रृङ्गारिक पदों के अलौरिक तन्मयता के साथ गाये जाने के पीछे यही रहस्य छिपा है। वे जनभाषा में कृष्ण पर काव्य लिखने वाले पहले व्यक्ति थे, और इनमें सन्देह नहीं है कि उन्होंने राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति के चरणों में जो मानसिक वाक्‌रूप पुष्पार्चन निवेदित किया वह बाद के कवियों भक्तों और साधकों के लिए प्रेरणा का ज्योतिर्मय सम्बल और पाथेय बन गया

१२ अपरूप के कवि

शिप्ले के साहित्य-कोश मे सौन्दर्य शीर्षक प्रकरण में एक बड़ी मजेदार बात कही गई है। सौन्दर्य के विषय में शास्त्रीय मतों की संकुलता की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि 'सौन्दर्य का पथ सिद्धान्तों की क़ब्रों से घिर गया है। किन्तु प्रेतात्माएँ चलती भी हैं और जब कि रास्ता कुहरे से ढका हो तो यह फ़र्क करना बहुत कठिन हो जाता है कि कौन जिन्दा है और कौन मुर्दा।'[1] वस्तुतः सौन्दर्य जैसे वस्तु की परिभाषा करना कठिन ही नहीं, असंभव है। लेकिन असंभव को भी संभव बनाने का प्रयत्न मानव की प्रवृत्ति है, ऐसी अवस्था में यदि सिद्धांतों का बवण्डर या तर्कों का जाल लक्ष्य-वस्तु को लक्षणों की कुहेलिका में समेट ले तो क्या आश्चर्य। इसीलिए हजारों वर्ष पहले प्लेटो ने सौंदर्य की परिभाषा बताते हुए कहा था कि अगर कोई वस्तु सुन्दर है तो इसका केवल एक ही कारण हो सकता है कि वह अत्यन्त सुन्दर है। सौंदर्य की व्याख्या नहीं हो सकती, उसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता, वह अनुभव की वस्तु है, उसमें रमा जा सकता है।

सौंदर्य वस्तु का नहीं, व्यक्ति का धर्म है, जो इसे सोचता है, समझता है। ऊपर से देखने पर यह विचार बहुत विचित्र मालूम हो सकता है, किन्तु इसमें सत्य है। यदि ऐसा न हुआ तो हर सुन्दर वस्तु बिना किसी अन्तर के प्रत्येक मनुष्य को सुन्दर प्रतीत होती, पर ऐसा नहीं होता। प्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम ने सौंदर्य के विषय में कहा है कि यह वस्तु का गुण नहीं है, यह केवल उस मस्तिष्क में विद्यमान रहता है, जो उन वस्तुओं के बारे में सोचता है। इस प्रकार सौंदर्य मूलतः वैयक्तिक या व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) गुण है। जो कोई वस्तु व्यक्ति को आनन्द प्रदान कर सके, वह सुन्दर कही जा सकती है। इसी प्रयोजन के कारण सौंदर्य के विषय में विविध प्रकार के विवाद चलते हैं क्योंकि यदि सौंदर्य की परिभाषा करना कठिन है तो उस आनन्द की परिभाषा तो और भी कठिन है, जो उस वस्तु के सम्पर्क में आने से उत्पन्न होता है।

कवि या कलाकार के लिए सौंदर्य का दुहरा महत्व है। एक तो यह कि वह वस्तु के सौन्दर्य के प्रति या अपनी सौन्दर्य-प्रिय रुचि के कारण किसी खास वस्तु के प्रति अधिक जागरूक होता है। वह वस्तु के बारे में अधिक गहराई से सोचता है। दूसरे इस अद्भुत सौंदर्य की अभिव्यक्ति देने के लिए उसे यह ध्यान रखना पड़ता है कि उस वस्तु के सौंदर्य को सही-सही व्यक्त कर सके। इसी कारण कवि

१ Dictionary of world literary terms, Page 36

उत्तरदायित्व दुहरा हो जाता है। संसार इतना सीधा या सरल नहीं है। प्रत्येक वस्तु में एक प्रकार की गति या संघर्ष है। एच० एच० परखूरस्ट (H. H Purkhurast) ने लिखा है कि कला का मुख्य ध्येय अपने शब्दों के माध्यम से विश्वजनीन संघर्ष को प्रतिध्वनित करना है। वह प्रत्येक वस्तु सुन्दर है, जो किसी सफल माध्यम के सही प्रयोग से उत्पन्न होती है, जो उसे व्यक्त करता है।[1] यहाँ पर लेखक ने सौन्दर्य को अभिव्यक्ति में निहित बताया है।

इस प्रकार यह निश्चित करने के लिए किसी कवि ने सौंदर्य का वर्णन कैसा किया है, हमें मूलतः दो वस्तुओं पर विचार करना होगा। पहली यह कि सौन्दर्य के विषय में कवि की रुचि कैसी है, अर्थात् वह कैसे विषयों को और कितनी बारीकी से चुनता है। कवि के इस चुनाव में कितना आभिजात्य है, कितना परिस्कार है। दूसरी यह कि वह वक्तव्य वस्तु को किस प्रकार प्रेषणीय बनाता है, उसकी भाषा, शैली, उपमान, आशय सभी मिलकर उसके सौन्दर्य बोध का परिचय देते हैं।

विद्यापति वस्तुतः सौंदर्य के कवि हैं। सौंदर्य उनका दर्शन है, सौंदर्य उनकी जीवन-दृष्टि। इस सौंदर्य को उन्होंने नाना रूपों में देखा था, इसे कुशल मणिकार की तरह उन्होंने चुना, सजाया, सँवारा और आलोकित किया था। सौंदर्य मन को कितना भाव विह्वल और एकोन्मुख कर देता है, इसे विद्यापति जानते थे। इसीलिए उन्होंने प्रायः 'अपरूप' या सौंदर्य की अपूर्वता को एक सजीव पदार्थ के रूप में ग्रहण किया है। जब वे राधा या कृष्ण के रूप का वर्णन करने लगते हैं तो सचेष्ट रूप से इतना कहना नहीं भूलते कि इस 'अपरूप' ने सम्पूर्ण त्रिभुवन को विजित कर लिया है, यह अपरूप किसी भी चित्त को चंचल कर सकता है। किसी भी ज्ञानी को क्षुब्ध कर सकता है—

सुधामुखि के विहि निरमल बाला
अपरूप रूप मनोमय मंगल
त्रिभुवन विजयी माला

'माधव की कहब सुन्दरि रूपे, सजनी अपरूप पेखल रामा, ए सखि पेखलि एक अपरूप', आदि पंक्तियों से आरंभ होनेवाले बीस से अधिक गीतों में इस अपरूप सौन्दर्य के माया-संकुल प्रभाव की निगूढ़ व्यजना की गई है।

इस सौन्दर्य का प्रभाव विश्वव्यापी है। इसके सम्पर्क में आने पर विश्व की

१. The function of art, of all art is the echo in its own terms, the universal conflict. Any thing is beautiful that results from successful exploitation of a medium that exhibits Beauty 1930)

सभी वस्तुएँ सुन्दर हो जाती हैं। जायसी के पद्मावत मे पद्मावती के सौन्दर्य को लोग पारस-रूप कहते है। पद्मावती के दिव्य रूप के स्पर्श से सभी वस्तुएँ अभिनव सौन्दर्य को धारण करती हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस पारस रूप की प्रशंसा करते हुए लिखा है[1] कि पारस रूप वह है जिसके स्पर्श से यह सारा संसार रूप ग्रहण करता है। पद्मावती में वही पारस रूप है। पद्मावती के रूप वर्णन के बहाने भक्त कवि ने वस्तुतः भगवान् के प्रभाव का वर्णन किया है। पद्मावती ने मानसरोवर मे स्नान करते समय जरा-सा हँस दिया और फिर—

नयन जो देखा कंवल भा निरमल नीर समीर
हँसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर

विद्यापति की राधा का अपरूप भी यही पारस रूप है। आश्चर्य तो यह देखकर होता कि जायसी से सौ वर्ष पहले विद्यापति ने जिस पारस रूप का चित्रण किया, उस पर लोगों का ध्यान नहीं गया, इसे विद्यापति का अभाग्य ही कहें! विद्यापति की राधा वह अपूर्व सौन्दर्य-मणि है, जिसकी प्रभा से सभी पदार्थ प्रकाशित होते हैं—

जहाँ जहाँ पग-जुग धरई, तँहि तँहि सरोरुह भरई
जहाँ जहाँ झलकत अंग, तँहि तँहि बिजुरि तरंग
कि हेरल अपरूप गोरि, पइठल हिय माँहि मोरि
जहाँ जहाँ नयन विकास, तँहि तँहि कमल परगास
जहाँ लहु हास सँचार, तँहि तँहि अमिय विथार
जहाँ जहाँ कुटिल कटाख, ततँहि मदन सर लाख
हेरइति से धनि थोर, अब तिन भुवन अगोर
पुनु किए दरसन पाव, तब मोहे इह दुख जाव
विद्यापति कह जानि, तब गुने देवब आनि

एक बार थोड़ी देर के लिए उस गोरी के जिस अपरूप को देखा, उसी से तीनों भुवन भरे मालूम होते हैं, उसके मधुर हास का एक कण जैसे सारी पृथ्वी पर अमृत बिखेर देता है। यह राधा का पारस रूप, जिसे विद्यापति ने सम्पूर्ण श्रद्धा और हृदय की पवित्रता से निर्मित किया है, इसमें जो लोग शृङ्गार का पार्थिव रूप-चित्रण मात्र खोजना चाहें, उन्हें कौन रोक सकता है: किन्तु विद्यापति का यह वर्णन राधा के सौन्दर्य की दिव्यता का प्रकाशक भी है, इसमें सन्देह नहीं। विद्यापति के द्वारा चित्रित सौन्दर्य की दिव्यता और पवित्रता की बात करके मैं उनकी मांसल सौन्दर्य-सृष्टि का मूल्य घटाना नहीं चाहता। वस्तुतः सौंदर्य-लोभी

1 मर्म पृ० २०६।

कवि कभी भी रहस्यवादी हो ही नहीं पाता, उसके मन के कुछ क्षणों में ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है जब वह सुन्दर वस्तु के गुण-धर्म पर मुग्ध होकर उसके उद्दीप्त स्वर का चित्रण करे और उसमें दिव्यता (Divinity) लाने का कुछ प्रयत्न भी करे, परन्तु अधिकांशतः वह सौन्दर्य को यथार्थ जगत् के बीच में ही देखना पसन्द करता है। वाल्मीकि, कालिदास या रवीन्द्रनाथ आदि जो भी सौंदर्य प्रेमी कवि हैं, वे सजग रूप से अपनी सौंदर्य-सृष्टि को पृथ्वी पर ही रखना चाहते हैं अर्थात् उसमें यथासंभव यथार्थ का आधार रखते हैं, किन्तु कभी-कभी कवि विशेष की प्रवृत्ति इतनी अन्तर्मुखी होती है कि वह प्रत्येक वस्तु में किसी अदृश्य रूप की कल्पना करने लगता है। वस्तुओं का व्यापक आधार उसके लिए 'किसी अदृश्य' की लीला-भूमि प्रतीत होने लगता है। ऐसी दशा में जब वह प्रकृति-सौंदर्य के प्रति आकृष्ट होता है तो वह उसे मायाविनी कहता है, उसके आकर्षक रूप-जाल में न फँसने की जागरूकता उसे कुछ हद तक रहस्यवादी बना देती है, जैसा कि रवीन्द्रनाथ या अन्य रहस्यवादियों के काव्य में दिखाई पड़ता है। विद्यापति कालिदास की प्रकृति के कवि थे। यह बात दूसरी है कि कालिदास जितनी मौलिकता या नवीनता उनमें नहीं है। इसका मुख्य कारण तत्कालीन काव्यशैली में ढूंढ़ा जा सकता है, जिसमें नवीन उद्भावनाओं पर कम; कवि-प्रसिद्धियों और रूढ़ उपमानों पर ज्यादा ध्यान दिया जाने लगा था। विद्यापति के दोनों प्रकार के चित्रण उनकी अपनी उद्भावनाओं से अनुप्राणित हैं, बहुत से प्रचलित परिपाटी का निर्वाह-मात्र करते हैं।

प्रथम प्रकार के चित्रण की विशेषता कवि की रुचि के कारण ही उत्पन्न होती है। सौन्दर्य के बारीक पक्षों को स्पष्ट करने के लिए नये दृश्य-विधान और अप्रस्तुतों का प्रयोग किया गया है। यह कह सकना तो मुश्किल है कि प्रयोग विद्यापति के बिलकुल मौलिक हैं। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इनमें किसी प्रसिद्ध उक्ति का या किसी प्रसिद्ध कवि की उक्ति की छाया नहीं है। मध्य-कालीन काव्य में मौलिकता ढूंढ़ने का यह तरीका ठीक नहीं है। क्योंकि मौलिकता वस्तुओं के लिए नये उपमानों को ढूंढ़ने में नहीं, बल्कि पुराने उपमानों को नये तरीके से कहने में दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए आँखों की उपमा भ्रमर से दी जाती है। मुख और आँख के एकत्र चित्रण में मुख को कमल और आँखों को भ्रमर कहते हैं। किन्तु यह दृश्य का बारीक चित्रण नहीं कहा जा सकता। विद्यापति पहले तो मुख की छवि को अभिधार्थ में ही व्यक्त करने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं। साधारण से साधारण शब्द जैसे नगीने की तरह जड़े होते हैं। सुन्दर मुख और सुन्दर आँखें—विद्यापति कहते हैं—

सहजहि आनन सुन्दर रे
भौंह सुरेखलि आँखि

मुँह तो 'सहज' सुन्दर है सौन्दर्य का सबसे बड़ा गुण उसकी सहजता है यह

विशेषण विद्यापति ही दे सकते हैं। और आँखें जो भौंहों से सुरेखित हैं। 'भौंह सुरेखन्हि' आंख का प्रयोग ध्यान देने लायक है। विद्यापति को अब भी सन्तोष नहीं हुआ। मुख को कमल की तरह कह सकते हैं, और आँखों को भ्रमरों की तरह। किन्तु क्या 'भ्रमर' कह देने मात्र से चंचल बरौनियों वाली चपल आँखों की विशेषता का पूरा बोध हो पाता है? शायद नहीं। इसीलिए विद्यापति ने लिखा है---

पंकज मधुपिबि मधु कर रे
उड़ए पसारलि पांखि

चंचल भ्रमर स्वभाववश और आशंका से (यौवन के आगमन पर भय-आशंका का संचारी स्वतः उदित होता है) इस मधु को पीते हुए भी उड़ जाने की मुद्रा में पांखों को फैलाये हुए हैं---युवती की आँखें जैसे सुदूर गगन में उड़ जाना चाहती हैं। विद्यापति इस रूप के स्वभाव की व्यंजना भी अत्यन्त हल्के ढंग से, किन्तु अतीव गहन व्यंजना के साथ प्रस्तुत करते हैं---

ततहि धाओल दुहु लोचन रे, जतहि गेलि बर नारि
आसा लुबुध न तेजए रे, कृपनक पाछु भिखारि

जैसे आशा-लुब्ध भिखारी कृपण का पीछा नहीं छोड़ता, वैसे उस सुन्दरी के पीछे-पीछे रूप-लुब्ध आँखें दौड़ गईं। कृपण सम्बोधन में नारी के रूप-शील की ओर संकेत है।

उपमानों का प्रयोग विद्यापति के काव्य में अत्यन्त रूढ़ ढंग से हुआ है। किन्तु कवि को जैसे इन उपमानों में आसक्ति नहीं है चूँकि वे जिस वस्तु का वर्णन करना चाहते हैं, उसके लिए इन उपमानों का प्रयोग होता आ रहा है, इसलिए उन्होंने भी किया, किन्तु उनके मन में निरन्तर यह शंका है कि शायद माध्यम उपयुक्त नहीं है, वह रूप इससे ऊपर की वस्तु है, इसे इन शृङ्खलाओं में बाँधना ठीक नहीं। बाँधने का प्रयत्न भी किया जाये तो भी क्या यह अनिर्वचनीय रूप इन रूढ़ियों में बाँधा जा सकता है? इसीलिए प्रायः वे विरोधाभासों या प्रतीपों का प्रयोग करते हैं। उनका एक बहुत प्रसिद्ध गीत नीचे उद्धृत किया जाता है---

तोहर बदन सम चांद होअथि नाहिं
जइयो जतन बिहि देल
कए बेरि काटि बनाओल नव कए
तइयो तुलित नहिं भेल
लोचन तूल कमल नहिं भए सक
से जग के नहिं जाने

से फेरि जाय लुकायल जल भए
पंकज निज अपमाने

इतना सब होते हुए भी उन्होंने पुराने उपमान का स्वच्छन्द व्यवहार भी किया है। विद्यापति के इन वर्णनों को समझने के लिए कवि-प्रसिद्धियों और कवि प्रौढ़ोक्ति-सिक्त अप्रस्तुतों की पुरानी परिपाटी को समझना आवश्यक हो जाता है।[1] नख-शिख वर्णन में उन्होंने सर्वत्र इसी पिटी हुई परिपाटी की शरण ली है। किन्तु विद्यापति ने इन रूप उपमानों को भी नये ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने दृश्य के रूप, गुण और वर्ण तीनों ही दृष्टियों से अप्रस्तुतो के निर्वाचन में अपनी सहज प्रतिभा का परिचय दिया है। उदाहरण के लिए शरीर के वर्णन के लिए चन्द्रमाला, शिरीषमाला, विद्युल्लता, तरा, कनकलता, दीप-शिखा आदि प्रयोग साहित्य-शास्त्र में रूढ माने गए हैं।[2] विद्यापति ने भी शरीर के लिए इन्हीं का प्रयोग किया है—

(१) मेघमाल संय तड़ित लता जनि (पदावली,[3] पद २८)
(२) जनि बिजुरी रेह (पद २६)
(३) कनकलता अरविन्दा (पद १६)
(४) कनकलता अवलम्बन ऊअल (पद १८)

मुख की उपमा सर्वत्र चन्द्रमा या कमल से दी जाती है। विद्यापति ने भी प्राय: सर्वत्र उन्हीं उपमानों का प्रयोग किया है। केशों की उपमा शास्त्रकारों की दृष्टि से अन्धकार, शैवाल, मेघ, मयूरपुच्छ, भ्रमर-श्रेणी, चामर, यमुना-तरंग, नील-मणि, नीलकमल, आकाश, धूप, धूप का धुआँ इत्यादि से दी जानी चाहिए।[4]

(१) चिकुर गरए जलधारा
जनि मुख ससि डर रोवए अँधारा (पद २३)
(२) केस निगारइत बह जल धारा
चामर गरए जानि मोतिय हारा (पद २५)
(३) चिकुर गरए जल धारा
मेह बरिस जनु मोतिय हारा (पद २४)

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका के परिशिष्ट मे कवि-प्रसिद्धियों पर विचार किया गया है।
२. अलंकार शेखर, १३।१।
३ पदावली रामवृक्ष बेनीपुरी सम्पादित।
४ कवि

(४) अलकहि तीतल तें अति शोभा
अलिकुल कमल बेढ़ल मधुलोभा (पद २५)
(५) तापर साँपिनि झापल मोर (पद ३६)

इसी प्रकार आँखों की उपमा भ्रमर, मृग-नेत्र, कमल-पत्र, मत्स्य, खंजन, मेघ, चकोर आदि से की जाती है। विद्यापति ने आँखों की उपमा प्राय: उपर्युक्त सभी उपमानों से दी है।[1] आँखों की उपमा यमुना-तरंग या केवल तरंगों से भी दी जाती है।[2]

(१) कुटिल कटाख लाट पडि गेल
मधुकर डम्बर अम्बर लेल (पद ३०)
(२) लोचन तूल कमल नहिं
(३) तापर चंचल खंजन जोर (पद ३६)
(४) बादल लोचन चोर
पिया मुख रुचि पिबए धाओल
जनि के चाँद चकोर (पद ३८)
(५) सावन घन सम झर दु नयान (पद ४७)
(६) नीर निरंजन लोचन राता
सिंदूर मंडित जनु पंकज पाता (पद २५)

स्थान के बाद लाल हुई आँखों की उपमा केवल कमल पत्र से नहीं दी। वैसे कमलपत्र भी लाल हो सकता है। किन्तु यहाँ श्वेत कमल-पत्र को सिन्दूर मंडित हो, ऐसा कहा। क्योंकि आँखें निरन्तर लाल नहीं रहतीं। श्वेत आँखें सद्य:स्नान के बाद लाल हैं। यह लाली सिन्दूर की तरह है। सिन्दूर शब्द का प्रयोग करके नायिका के सौभाग्य का भी संकेत दे दिया।

वराहमिहिर ने बन्धुजीव के समान लाल और अमांसल अधर को प्रशस्त बताया है। इन गुणों को ध्यान में रखकर अधरों के लिए प्रवाल, बिम्बफल, बधूक पुष्प, पल्लव तथा मीठे पदार्थों से उपमा देने की प्रथा है।[3]

(१) विमल बिम्ब फल जुगल विकास (पद ३६)
(२) अधर बिम्ब अधजाई (पद १०)
(३) अधर बिम्ब सन दसन दाडिम विजु (पद १२)

---

१. अलंकार शेखर १३।६।
२ वही, १३।१५
३ वही ३ १७

अधरों के बारे में विद्यापति बहुत जागरूक नहीं है। वे तो मुख का वर्णन करने के बाद अधर, चिबुक और कंठ की बात छोड़कर कुचों के बारे में वर्णन करने लगते हैं। कुचों की उपमा देने में तो विद्यापति बेजोड़ हैं। जाने कितनी प्रकार की उपमायें खटाखट उपस्थित होती चली आती हैं। यह उनके नख-शिख वर्णन का सबके आकर्षक और सबके अधिक निर्बल पक्ष हैं। इसके वर्णन में उन्होंने जाने कितने गीत लिख डाले। कुचों की उपमा के लिए संस्कृत आलंकारियों ने कुछ उपमान माने हैं। जैसे पुंगफल, कमल, कमल कोरक, बिल्व, ताल, गुच्छ, हाथी का कुंभ, पहाड़, घड़ा, शिव, चक्रवाक, सौवीर, बीजपुर, समुद्र, छोलंग आदि।[1] वराहमिहिर ने वर्तुलाकृत घन, अविषम, और कठिन उरोजों की प्रशंसा की है।[2]

(१) पीन पयोधर दूबरि गता
मेरु उपजल कनक लता (पद १०)

(२) कुच जुग परसि चिकुर पुनि परसल
ता अरुझायल हारा
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल
चाँद बिहुन सब तारा (पद ११)

(३) मेरु उपर दुइ कमल फुलाइल (पद १२)

(४) जुगल सैल सम हिमकर देखल (पद १३)

(५) काम कम्बु भरि कनक संभु परि
डारत सुरसरि धारा (पद १८)

(६) कुच उग कमल कोरक जल मुदि रहु (पद २०)

(७) कुच जुग चारु चकेवा (पद २३)

(८) माजि धएल जनु कनक मुकूरे
तेइ उबसल कुच जोरा पद (२४)
पलटि बैसाओल कनक कटोरा

(९) सजल चीर रह पयोधर सीमा
कनक बेल जनि पड़ गेल हीमा (पद २५)

(१०) कुच जुग अरविन्द (पद २९)

(११) कनक कमल हेरि काहे न लोभि (पद २९)

(१२) कुच कम्भे कहि गेल अपद आस (पद ३०)

(१३) अम्बर बिघटु अकामिक कामिनि
कर कुच झांपु सुछन्दा
कनक संभु सम अनुपम सुन्दर
दुइ पंकज दस चन्दा (पद ३१)

---

१ वही पृ० ४९
२ बृहत् संहिता ७० ६

नहीं नहीं. विद्यापति कुचों के विकास को संलक्ष्य करके भी अपनी उपमाओं की करामत दिखाते हैं। ऐसे स्थलो पर रूढ़ उपमाओं से उन्होंने आकार की दृष्टि के विकास-सूचक स्थितियो की कल्पना की है।

पहिल बदर कुच पुन नवरंग
दिन दिन बाढ़ए पिड़ए अनंग
से पुन भये गेल बीजक पोर
अब कुच बाढ़ल सिरफल ओर

बैर, नारंगी, बीजपुर तथा श्रीफल से इस क्रमिक विकास की सूचना दी गई है। लहराते हुए श्वेत आँचल से अनाच्छादित कुचों के लिए यह उपमा कितनी सुन्दर है। जैसे शरद के श्वेत घन पवन से पराभूत होकर पर्वत को व्यक्त करने के लिए विवश हो जायें—

उरहि अंचल झाँपि चंचल
आध पयोधर हेरु
पौन पराभव सरद घन जानि
बेकत कएल सुमेरु

संस्कृत आलंकारिकों ने नाभि और कटि के सौन्दर्य के विषय में बताया है कि दक्षिणावर्त नाभि प्रशस्त होती है। इसके लिए रसातल, कूप, आवर्त, झील या ह्रद आदि की उपमाएँ चलती हैं।[1] नाभि के पास की हल्की श्यामल रोमावलियों का वर्णन भी कवि लोग करते है। इसकी मृदुता, श्यामता, सूक्ष्मता और नाभिगामिता को सुन्दर कहा गया है। नाभि के निचले भाग को बलि कहते है। त्रिबली का वर्णन कवि लोग करते है। इसकी उपमा लता, सोपान, नदी-तरंग, श्रेणी आदि से दी जाती है। कटि के वर्णन में सूई की नोक, शून्य, अणु, सिंह की कटि, आदि उपमान ग्रहीत होते है। विद्यापति के कुछ प्रमुख प्रयोग नीचे दिये जाते हैं—

(१) कनक कदलि पर सिंह समारल (पद १२)
(२) गरु नितम्ब भर चलए न पारए
माझ खानि खीनि निमाई
भागि जाइत मनसिज धरि राखल
त्रिवलि लता अरुझाई (पद १३)

---

१ अलंकार शेखर १३।१०—११

(३) नाभि विवर सय लोम लता वलि (पद १४)
(४) केहरि सम कटि गुन सजनि गे
लोचन अम्बुज धारि
विद्यापति कवि गाओल सगनि गे
गुन पाओल अवधारि (पद १६)

जाँघों की उपमा कनक-कदली से बहुत रूढ़ हो गई है। चरण-तल कमल, पल्लव, किसलय, स्थल-पद्म से उपमित होते हैं। नाखूनों की उपमा चन्द्रमा से या सलाई की दृष्टि से प्रवाल से दी जाती है। नारी की गति के लिए हंस, हाथी आदि की चाल से उपमा दी जाती है। चरणों के जावक या महावर के वर्णन मे उषा की लाली, अग्नि-शिखा, पलाश-पुष्प आदि की उपमाएँ दी जाती हैं। विद्यापति ने इन्हीं उपमाओं का सहारा लिया है—

(१) पल्लवराज चरन जुग सोभित
गति गजराज क भाने (पद १२)
(२) विपरित कनक कदलि तर सोभित
थल पंकज के रूप दे
(३) हस्ति गमन जका चलइत सजनि गे
देखइति राजकुमारि (पद १६)
(४) चरन जावक हृदय पावक (पद ३२)
(५) तखन मदन सर पूरए रे
गति गंजए गजराज (पद ३२)
(६) जहाँ जहाँ पग धरई
तहिं तहिं सरोरुह धरई (पद २५)
(७) कमल जुगल पर चाँद का माला
(पैर और नख ज्योति, पद ३६)

विद्यापति की नखशिख-वर्णन की उपर्युक्त विवेचना से इतना स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने सर्वत्र प्रायः प्रसिद्ध रूढ़ियाँ या कवि समयों का प्रयोग किया है। एक बात अवश्य है कि उन्होंने इन रूढ़ उपमानों का प्रयोग करते वक्त भी एक आभिजात्य का परिचय दिया है। उन्होंने रूढ़ियों को अतिमात्रा में प्रयुक्त नहीं किया है इसीलिए उनके वर्णनों में रीतिकालीन कवियों के ऊहात्मक चित्रण कम से कम मात्रा में दिखाई पड़ते है। दूसरी ओर राधा के सौन्दर्य-चित्रण में उन्होंने निरन्तर इस बात का ध्यान रखा है कि यह चित्रण कुरुचि उत्पन्न न करे। कहीं-कहीं वर्णन की विवृत्ति भी दिखाई पडती है किन्तु ऐसे स्थलों पर नाक-भौं सिकोड़ने के पहले ध्यान रखना चाहिए कि यह वर्णन चौदहवीं शताब्दी के एक कवि ने प्रस्तुत किये

हैं जिस काल में इस प्रकार के चित्रण उपेक्षणीय या वर्ज्य नहीं थे। बीसवीं शताब्दी की मर्यादा का चश्मा लगाकर इन कवियों की रचनाओं में नैतिकता-अनैतिकता का सवाल उठाना बहुत उचित नहीं है। सब कुछ होते हुए भी, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उपमाएँ प्राय: अत्यन्त आकर्षण और वर्ण्य-वस्तु के सौन्दर्य को उद्घाटित करनेवाली होती है। ऊपर के उदाहरणों में यदा-कदा मैंने सकेत दिये हैं। विद्यापति के इस गुण को संलक्ष्य करके बंगला के प्रसिद्ध समालोचक श्री दिनेश चन्द्र सेन ने लिखा है कि "भारतवर्ष में उपमा का यश केवल कालिदास को प्राप्त है। यदि किसी द्वितीय व्यक्ति का नाम लेना हो तो किसी को विद्यापति के नाम पर आपत्ति नहीं होगी। विद्यापति की राधा सौन्दर्य-समूह की चित्रपटी है। उनके विरह के अश्रुओं से सिक्त होकर कवि की कविता, उपमा और सौन्दर्य सब कुछ नवल मेघ की आभा धारण करता है।"[1]

मानवीय सौन्दर्य के इस चित्रण के सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठता है। यदि विद्यापति वैष्णव कवि थे या कम से कम उनके मन में कृष्ण-भक्ति-भावना का लेश भी वर्तमान था तो उन्होंने इस प्रकार के रूपासक्ति-पूर्ण चित्रण क्यों प्रस्तुत किये? पिछले अध्याय में हम इस समस्या पर, संक्षेप में विचार कर चुके है। विनयकुमार सरकार ने कुमारस्वामी की मान्यताओं का कि राधाकृष्ण का प्रेम रहस्यवादी है—खण्डन करते हुए यही प्रश्न उपस्थित किया था। उन्होंने लिखा है कि 'राधाकृष्ण प्रेम की पार्थिवता, शारीरिक सौन्दर्य के मांसल चित्रण तथा शृङ्गार से कलुषित ऐन्द्रिक चित्रों में हम किसी भी प्रकार की दिव्यता नही पाते। कुमारस्वामी ने अपने को भ्रम में भुलाया है।'[2]

सूरदास के चित्रणों को, जो राधा और कृष्ण के शारीरिक सौन्दर्य का अति मासल वर्णन प्रस्तुत करते हैं और जो प्राय: विद्यापति की शैली के सदृश या संभवत: उसी से प्रभावित होकर नख-शिख वर्णन की उसी प्राचीन रूढ़ परिपाटी मे लिखे हुए हैं, हम शृङ्गारिक या भक्तिहीन क्यों नहीं कहते? इसलिए कि उन्होंने अपने को कृष्ण का भक्त कहा है। यदि ऐसी बात है तो विद्यापति ने भी अपने को राधा और कृष्ण का भक्त बताया है। वस्तुत: यह विवाद ही मिथ्या है। वैष्णव कवि बहुत पहले से रूपासक्तिपूर्ण काव्य लिखते आ रहे हैं। नख-शिख वर्णन कभी भक्ति में बाधक नहीं हुआ है।

द्विवेदी जी ने अपने निबन्ध 'वैष्णव कवि की रूपोपासना' में एक स्थान पर लिखा है कि 'वैष्णव कवि कल्पना और भक्ति को दो चीज समझता है। जहाँ उसकी कल्पना रुक जाती है, अर्थात् जब रूप मोहन हो उठता है, जहाँ सारी चित्त-वृत्ति मुग्ध हो जाती है, वही उसकी भक्ति शुरू हो जाती है। कवि वैष्णव (बिहारी आदि) कल्पना के ऊँचे स्तर पर पहुँचकर रुक जाते हैं, जहाँ वह हत-

---

१ बंग-भाषा ओ साहित्य पृ० २२४।

२ Love in hindu literature 1916 Page 20 21

१३ प्रकृति-परिवेश

प्रकृति पुरुष की चिर सहचरी है। मानव-जीवन को नाना रूपों में प्रभावित करनेवाली, उसे चेतना और प्रेरणा प्रदान करनेवाली मायाशक्ति के रूप में प्रकृति को भारतीय वाङ्मय में अभूतपूर्व अभ्यर्थना हुई है। प्रकृति और पुरुष के युगबद्ध रूप में दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों के संतुलन तथा सहयोग में जीवन की सफलता बताई गई है। मनुष्य अपने व्यक्तिनिष्ठ स्वार्थ के वशीभूत होकर जब-जब प्रकृति को पराजित करने के उद्देश्य से परिचालित हुआ है, तब-तब उसकी शान्ति और समृद्धि का ह्रास हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि "काव्य की चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना है, उसके साधन से अहंकार का त्याग आवश्यक है। जब तक इस अहंकार से पीछा न छूटेगा तब तक प्रकृति के सब रूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते।" भारतीय कवियों ने इस सत्य को सदा स्वीकार किया था। परिणामतः ऋग्वैदिक मंत्रों से लेकर वर्तमान युग के गीतिकाव्यों में इस प्रकृति की शान्ति, समृद्धि और शक्ति का मनोरम चित्रण भरा हुआ है।

विद्यापति के काव्य में भी यह प्रकृति अत्यन्त सजीव रूप में उपस्थित हुई है। प्रकृति या वातावरण के प्रति जागरूकता कलाकार का एक अनिवार्य युग-धर्म है। इस जागरूकता के आधार पर ही हम कलाकार के प्रकृति-पर्यवेक्षण का मूल्यांकन कर सकते हैं। प्रकृति के चित्रण में लेखक की रुचि और संस्कार का बहुत बड़ा असर होता है। सच तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति को अपने-अपने ढंग से देखता है। चिर नावीन्य का अर्थ ही है दृष्टिकोण की भिन्नता और उसका क्षण-क्षण परिवर्तन। एक ही कवि किसी वस्तु को एक क्षण में 'कुछ' देखता है और किसी दूसरे क्षण में कुछ। प्रकृति का यह निरीक्षण लेखक के सौन्दर्य-बोध (Sense of beauty) से निश्चित अनुचालित होता है। मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्रियों ने इसी आधार पर सौन्दर्यशास्त्र के दो मुख्य उद्देश्य बताये हैं। पहला सौन्दर्य का उपभोग और उससे आनन्द की उपलब्धि, दूसरा सौन्दर्य का निर्माण यानी कला को जन्म देनेवाली भावना (Art impulse)। इस प्रकार सौन्दर्य-बोध के वास्तविक विश्लेषण का अर्थ है कालाकार की सौन्दर्य-ग्राहिका प्रवृत्ति का विश्लेषण। प्रवृत्ति का पता दो प्रकार से चलता है। खास वस्तुओं में लेखक की दिलचस्पी से और प्रकृति के प्रति या सौन्दर्य के आधार के प्रति उसकी जागरूकता से। दिलचस्पी या किसी खास वस्तु के प्रति लेखक की रुझान की जानकारी उसकी रुचि का पता देती है प्रत्येक मनुष्य उत्तम से उत्तम

सौन्दर्य की वस्तु से केवल उतना ही आनन्द प्राप्त कर सकता है जितना उसकी योग्यता या पात्रता के द्वारा प्राप्त हो सकता है। कवि या कलाकार की श्रेष्ठता इसी बात पर निर्भर करती है कि वह सौन्दर्य के किस रूप की, और कितने ऊँचे स्तर के रूप की अभ्यर्थना करता है। यही पर कलाकार के लिए कल्पना और यथार्थ का प्रश्न उपस्थित होता है। विश्व में उपलब्ध सौन्दर्य हमारी व्यक्तिगत सीमाओं के कारण हमें खंडशः ही प्राप्त होता है या जो कुछ प्राप्त होता है, वह हमारे संपूर्ण उद्देश्य के सामने खंडित ही प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में कवि या लेखक कल्पना के आधार पर इसे पूरा करने का, अपनी रुचि और कलात्मक रुझान के मुताबिक संपूर्णता प्रदान करने का प्रयत्न करता है। कांट ने इसी आधार पर कल्पना को एक व्यापक अर्थ प्रदान करते हुए कहा कि "कल्पना एक दूसरी प्रकृति का निर्माण करती है, उन्हीं तमाम साधनों से, जो उसे वास्तविक प्रकृति द्वारा प्राप्त होते हैं। अपनी रुचि और समझ के मुताबिक कवि भावों के नाना रूपों की सहायता और कल्पना के उन्मुक्त प्रयोग के आधार पर एक ऐसी पूर्ण वस्तु का निर्माण करता है जिसके समानान्तर कोई दूसरी वस्तु प्रकृति में उपलब्ध नहीं हो सकती।"

सौन्दर्य-बोध की उपयोगिता के बारे में अध्यात्मवादी आलोचकों ने एक दूसरे ढङ्ग से भी विचार किया है। उनका कहना है कि प्रकृति अराजकता का समूह नहीं है, उसके प्रत्येक स्पन्दन में एक निश्चित नियम या ऋतु की प्रेरणा कार्य करती है। कवि या लेखक प्रकृति के अन्दर निहित इसी सत्य का अन्वेषण करता है। प्रकृति स्वतः एक महत् कला है। साहित्य ससीम और असीम के बीच की कड़ी है। कवि अपनी सीमित शक्ति से प्रकृति के खंडशः प्रस्तुत चित्रों के माध्यम से अखंड सत्ता की अभिव्यक्ति करता है। कवि प्रकृति की सारी संपदा को अपना साधन बनाकर सार्वभौम अदृश्य सत्ता का व्यक्त करता है। विद्यापति ने प्रकृति के नाना उपकरणों को—उसके सौन्दर्य के विविध आकर्षणों को इसी दृष्टि से देखा था। 'मध्ययुगेर साधना' में श्री क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि "चंडीदास दुनिया के ऊपर के पक्षी हैं, जहाँ लौकिक सौन्दर्य बिखर जाता है, किन्तु वहाँ स्वर्ग छूता है, विद्यापति दिन भर धूप से स्नात गुफाओं, पुष्पित उद्यानों में घूमते हैं और शाम को उनकी लालसा इतनी ऊपर उठ जाती है कि वे प्रथम कवि को लाँघ जाते हैं।" प्रकृति विद्यापति के काव्य में दो प्रकार से उपस्थित होती है। एक तो वह आलम्बन या वर्ण्य विषय के रूप में दिखाई पड़ती है, कहीं वह मात्र उद्दीपन बनकर आती है। हमारे देश में ऋतुओं का विवरण प्रकृति के समष्टिगत विवरण में प्रासंगिक रूप से किया जाता था। वैदिक मंत्रों में ऋतु या प्रकृति का चित्रण आलम्बन के रूप में ही होता था, वह स्वयं वर्ण्य थी, आकर्षण और सौन्दर्य की अधिष्ठात्री होने के कारण। यह बात दूसरी है कि सर्वत्र वैदिक ऋषि आह्लाद-युक्त भाव से ही उसका चित्रण नहीं कर पाता था उसे प्रकृति के उस उग्र रूप

का अनुभव था, और इस प्रचंड-सीमा प्रकृति की उग्रता से भयातुर होकर भी वह उसकी स्तुति करता था। वाल्मीकि के काव्य में भी प्रकृति प्रधान रही। कालिदास तो निसर्ग के कवि ही कहे जाते हैं। कालिदास के ऋतुसंहार काव्य को देखने से ऐसा लगता है कि यद्यपि प्रकृति उनके लिए मानवीय रति या शृङ्गार के उद्दीपन का मात्र साधन बनकर ही नहीं रह गई है, फिर भी उसमें स्वाभाविकता और यथार्थ का अभाव दिखाई पड़ने लगता है। वस्तुओं के विवरण में रूढियों का प्रभाव गाढ़ा होने लगा था। शुक्ल जी का अनुमान है कि उद्दीपन के रूप में प्रकृति के चित्रण की परिपाटी तभी से आरम्भ हुई हो। उन्होंने लिखा कि ऐसा अनुमान होता है कि "कालीदास के समय से या उसके कुछ पहले से ही दृश्यवर्णन के सम्बन्ध में कवियों ने दो मार्ग निकाले। स्थल-वर्णन में तो वस्तु-वर्णन की सूक्ष्मता कुछ दिनों तक वैसी ही बनी रही, पर ऋतु-वर्णन मे चित्रण उतना आवश्यक नहीं समझा गया, जितना कुछ इनी-गिनी वस्तुओं का कथन-मात्र करके भावों के उद्दीपन का वर्णन। जान पड़ता है कि ऋतु-वर्णन वैसे ही फुटकल पद्यों के रूप में पढ़े जाने लगे जैसे 'बारहमासा' पढ़ा जाता है।"[1]

षड्ऋतु और बारहमासा

अभाग्यवश मध्यकालीन काव्य में प्रकृति-चित्रण का रूप अत्यन्त कृत्रिम और रूढिग्रस्त हो गया। षड्ऋतु के वर्णन में कवि की दृष्टि प्रकृति के यथार्थ रूप पर आधारित न होकर आचार्यों द्वारा निर्मित नियमों और कवि-समयों से परिचालित होने लगी। कवियो के लिए बना-बनाया मसाला दिया जाने लगा, उनका कार्य केवल घरौंदे बना देना रह गया। काव्य-मीमांसा में काल-विभाग के अंतर्गत इस प्रकार का पूरा विवरण एकत्र मिल जाता है। राजशेखर ने तो यहाँ तक कह दिया कि देश-भेद के कारण पदार्थों मे कहीं-कहीं अन्तर आ जाता है, किन्तु कवि को कवि-परम्परा के अनुसार ही वर्णन करना चाहिए। देश के अनुसार नहीं—[2]

> देशेषु पदार्थानां व्यत्यासो दृश्यते स्वरूपस्य।
> तन्न तथा बध्नीयात्कविबद्धमिह प्रमाणं नः॥

अर्थात् कवि की अपनी अनुभूतियों और निरीक्षण-उपलब्धियों का कोई मूल्य नहीं।

विद्यापति के पहले इस काव्य प्रकार मे कई रचनाएँ लिखी गई हैं। ब्रज-भाषा की अवहट्ठ या पिंगल शैली में भी और आरम्भिक शुद्ध ब्रजभाषा में भी। इनमें सन्देशरासक का षड्ऋतु-वर्णन, प्राकृतपैंगलम् के स्फुट ऋतु-वर्णन के पद, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। संदेशरासक और पृथ्वीराजरासो के षड्ऋतु-वर्णन उद्दीपन के रूप में ही दिखाई पड़ते हैं। संदेशरासक का ऋतुवर्णन बिरहिणी

---

१ चिन्तामणि, दूसरा भाग, काशी सम्वत् २००२, पृ० २१।

२ काव्य मीमांसा पटना १९५४ पृ० २६२

नायिका के हृदय के दग्ध उच्छ्वासों से परिपूर्ण है। पथिक उस प्रोषितपतिका से उसकी दिनचर्या पूछता है, वह जानना चाहता है कि कब से नूतन मेघ रेखा से विनिर्गत चन्द्रमा के समान, नायिका का निर्मल बदन इस प्रकार विरह-धूम स श्यामल हो रहा है। और तब नायिका का एक वर्ष पहले ग्रीष्म ऋतु में विदा होनेवाले प्रियतम के वियोग का सविस्तार वर्णन सुना जाता है। सन्देशरासक का ऋतु-वर्णन कविप्रथा के अनुसार निश्चित वस्तुओं की सूची उपस्थित करता है, इसमें शक नहीं, किन्तु जैसा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि जायसी की भाँति अद्दहमाण के सादृश्यमूलक अलंकार और बाह्य वस्तु निरूपक वर्णन बाह्यवस्तु की ओर पाठक का ध्यान न ले जाकर विरहकातर विरहिणी के मर्मस्थल की पीड़ा को अधिक व्यक्त करते हैं।''[1]

रासो का ऋतुवर्णन यद्यपि विरहशंकिता नायिकाओं के हृदय की पीड़ा को व्यंजित करने के उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया है, किन्तु इन पदों में संयोगकालीन स्मृतियों की विवृति दिखाई पड़ती है, इसलिये इसे हम संयोगकालीन उद्दीपन ऋतुवर्णन की प्रथा का ही निदर्शन कहेंगे। संयोगिता से मिलने के लिये उत्सुक पृथ्वीराज जयचन्द के यज्ञ में उपस्थित होना चाहते हैं, वे प्रत्येक रानी के पास विदा लेने के लिए जाते हैं, किन्तु रानियों का ऐसी ऋतु में बाहर न जाने का मधुर आग्रह वे टाल नहीं पाते और रुक जाते हैं। रासो के ऋतुवर्णन की विशेषताओं पर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने विस्तार से विचार किया है।[2] प्राकृतपैंगलम् एक संग्रह काव्य है इसलिए छन्दों के उदाहरण के लिए उसमें पद्य संकलित किये गए हैं। उसमें पूर्णता के साथ षड्ऋतु-वर्णन का मिलना कठिन है। किन्तु इस काव्य में स्थान-स्थान पर प्रकृति का जो चित्रण मिलता है, खास तौर से ऋतुओं का चित्रण वह निश्चय ही किसी अज्ञात-ज्ञात काव्य के ऋतुवर्णन प्रसंग से लिया गया है। उदाहरण के लिये बसन्त ऋतु का चित्रण देखिये—

फुल्लिअ केसु कम्प तहं पअलिअ मंजरी तेजिअ चूआ
दक्खिन वाउ सीअ भइ पवहइ कम्प विओइणि हीआ
केअइ धूमि सब्ब दिसि पसरइ पीअर सब्बउँ भासे
साउ वसन्त काइ सहि करिअइ कन्त ण थक्कइ पासे

(प्राकृतपैंगलम्, पृ० २१२)

प्राकृतपैंगलम् के एक और पद में (पृ० ५८८, पद २१३) ऋतु-वर्णन-सम्बन्धी बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है। इस पद में शिशिर के बीतने और बसन्त के आगमन का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया गया है। प्राकृतपैंगलम् में ऐसे ऋतु-वर्णन

---

१ हिन्दी साहित्य का आदिकाल १९५२ पटना पृ० ८४।
२ वही पृ० ८२ ८३

वाले पदों की विशेषता यह है कि इनमें प्रकृति उद्दीपन के रूप में चित्रित होते हुए भी कालिदास के ऋतुसंहार की परम्परा में है अर्थात् केवल उद्दीपन-मात्र ही नहीं है, प्रकृति के सौन्दर्य का चित्रण भी अभीष्ट रहा है।

नेमिनाथ चतुष्पदिका[1] और नरहरि भट्ट के ऋतु वर्णन बारहमासा पद्धति में लिखे हुए हैं। नेमिनाथ चौपई में राजमती के विरह का सविस्तार वर्णन मिलता है। नेमिनाथ के वियोग में उनकी परिणीता राजमती आषाढ़ से आरम्भ करके ज्येष्ठ तक के बारह महीनों की अपनी विरह-पीड़ा तथा नेमि की कठोरता का विवरण अपनी सखि को सुनाती है। नेमिनाथ चतुष्पदिका के प्रसंग के पीछे दिये हुए हैं। षड्ऋतु और बारहमासा सम्बन्धी रचनाएँ गुजराती, राजस्थानी तथा हिन्दी की विभिन्न बोलियों में प्राप्त होती है। इन रचनाओं की वस्तु तथा भाव-धारा का विश्लेषण करने पर मालूम होता है कि इसमें षड्ऋतु वर्णन मूलतः संयोग शृंगार का काव्य है, जबकि बारहमासा विरह या विप्रलंभ का। वैसे संदेशरासक के षड्ऋतु का वर्णन विरहप्रधान है जो इस मान्यता के विरुद्ध दिखाई पड़ता है, किन्तु अधिकांश रचनाओं से उपर्युक्त मत की पुष्टि ही होती है। षड्ऋतु का चित्रण रासो में संयोग-काव्य की प्रथा में ही हुआ है। पद्मावत में षड्ऋतु और बारहमासा दोनों ही के प्रसंग आते हैं। षड्ऋतु-वर्णन खंड में पद्मावती और रतनसेन के संयोग-शृंगार का चित्रण हुआ है। ठीक उसी के बाद आनेवाले नागमती वियोग खंड में नागमती के विरह का वर्णन बारहमासा की पद्धति पर प्रस्तुत किया गया है। इसी को सलक्ष्य करके आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'प्राप्त प्रथा के अनुसार पद्मावती के संयोग सुख के संबंध में षड्ऋतु और नागमती की विरह वेदना के प्रसंग में बारहमासा का चित्रण किया गया है।'[2] नेमिनाथ चतुष्पदिका तथा नरहरि भट्ट के बारहमासे में भी वियोगवेदना की अभिव्यक्ति की गई है। विद्यापति ने भी विरह का चित्रण बारहमासे की पद्धति पर किया है—

मोर पिया सखि गेल दुर देस
जीवन दए गेल साल सनेस
मास असाढ़ उनत नव मेघ
पिया बिसलेस रहओं निरथेघ
कौन पुरुष सखि कौन सो देस
करब मोय तहाँ जोगिनी बेस

आषाढ़ के नवीन मेघों के उनय आने से प्रिय-विश्लेष-दुःख की काली छाया निरन्तर घनी होती जा रही है और पत्र-पलपरिवर्तित प्रकृति-वेश को सूनी आँखों से देखते-देखते अपने ताप से जगत् को धूलिसात् कर देनेवाला ज्येष्ठ आ जाता है।

१ ओरियन्टल सीरीज नम्बर १३ १९२६ बड़ौदा
२ द्वितीय भाग संवत् २००२ काशी पृ० २६

विद्यापति ने अत्यन्त कौशल से विरह की इस करुण वेदना को बारहमासा में अंकित किया है।[1] सूरदास ने बारहमासे की शैली में अलग से कोई काव्य नहीं लिखा, किन्तु गोपी-विरह में इस शैली की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। ब्रज-भाषा के परवर्ती लेखकों ने षड्ऋतु और बारहमासे की पद्धति में कई काव्य लिखे। सेनापति (सम्वत् १६४६) का ऋतुवर्णन अपनी अत्यन्त सूक्ष्म प्रकृति निरी-क्षण की कुशलता तथा भाषा के स्वाभाविक प्रभाव के लिए प्रसिद्ध है। सम्वत् १८८८ में सुन्दर कवि ने तथा १८११ में हंसराज ने बारहमासों की रचना की।

इन बारहमासों में प्रकृति का चित्रण प्रायः आषाढ़ मास से आरम्भ होता है। षड्ऋतु में ऋतु का आरम्भ ग्रीष्म ऋतु से दिखाया जाता है। ऋतु-संहार में इसी पद्धति को अपनाया गया था। किन्तु इन नियमों के अपवाद भी कम दिखाई नहीं पड़ते हैं। उदाहरण के लिए गुजराती में अठारहवीं शती में लिखा इन्द्रा-वतीकृति षड्ऋतु-वर्णन वर्षा से आरम्भ होता है। उसी प्रकार गुजराती के दूसरे कवि श्री दयाराम से सम्वत् १८४५ में लिखे गए षड्ऋतु-विरह-वर्णन-काव्य में ऋतु का आरम्भ वर्षा से किया है।[2] षड्ऋतु में जायसी ने ऋतु का आरम्भ वसन्त से किया है—[3]

प्रथम वसन्त नवल ऋतु आई, सुऋतु चैत बैसाख सुहाई
चन्दन चीर पहिरि धरि अंगा, सेंदुर दीन्ह बिहंसि भर मंगा

संदेशरासक में षड्ऋतु-वर्णन का आरम्भ ग्रीष्म ऋतु से ही होता है। बारहमासे प्रसंग में आषाढ़ से आरम्भ की पद्धति प्रायः सर्वमान्य दिखाई पड़ती है।

कविप्रिया में केशवदास ने १०वें प्रभाव में बारहमासा का वर्णन चैत से किया है, जो फाल्गुन में समाप्त होता है। ७वें प्रभाव में षड्ऋतु का वर्णन वसन्त ऋतु से हुआ है।[4] अलंकारशेखर में १६वें मरीचि में षड्ऋतु-वर्णन सुरभि ऋतु यानी वसन्त से ही शुरू होता है।[5] वैसे भी इस देश में नव वर्ष का

---

१. विद्यापति पदावली, रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा सम्पादित, द्वितीय संस्करण, पृ० २७१।
२. गुजराती साहित्य का स्वरूप, पृ० २५८-६०।
३. जायसी ग्रन्थावली, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, १९८१ संवत, षड्ऋतु वर्णन खंड, दोहा ५।
४. कविप्रिया, केशव ग्रन्थावली, खंड १, सम्पादक : विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग १९५४, पृ० १५७-१६० तथा १३६-१३८।
५. श्री माणिक्य चन्द्रकारित श्री केशव मिश्र कृत अलंकार शेखर, सम्पादक शिवदत्त, बम्बई १९२६ पृ० ५८।

आरम्भ भिन्न-भिन्न महीनों में माना जाता है। राजशेखर के अनुसार ज्योतिष-शास्त्रवेत्ता संवत्सर का आरम्भ चैत्र मास से यानी वसंत ऋतु से तथा लौकिक व्यवहार वाले श्रावण से मानते हैं। 'सच चैत्रादिरिति देवज्ञः श्रावणादिरिति लोकयात्राविदः (काव्यमीमांसा १८वाँ अध्याय)।' इसी आधार पर राजशेखर ने ऋतुओं का जो क्रम बताया है वह वर्षा से आरम्भ होता है। वर्षा, शरत्, हेमन्त, वसंत, ग्रीष्म।[1] यहाँ पर वर्षारम्भ की पद्धति वही है जिसे गुजराती कवियों ने स्वीकार किया है। लगता है, राजशेखर के काल में भी इस क्रम में व्यत्यय होता था इसीलिए उन्होंने यह व्यवस्था दी है कि ऋतुक्रम में व्यत्यय करने से कोई दोष नहीं पैदा होता, हाँ इतना अवश्य है कि वह प्रसंगानुकूल हो—[2]

न च व्युत्क्रमदोषोऽस्ति कवेरर्थपथस्पृशः
तथा कथा कापि भवेद् व्युत्क्रमो भूषणं यथा।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम षड्ऋतु और बारहमासा के सम्बन्ध में निम्नलिखित विशेषताएँ निर्धारित कर सकते हैं—

(१) दोनों ही उद्दीपन के निमित्त व्यवहृत काव्य प्रकार हैं; किन्तु सामान्यतः षड्ऋतु का वर्णन संयोग श्रृङ्गार में और बारहमासे का विरह में होता है। इन नियमों का पालन बड़े शिथिल ढंग से होता है, अतः अपवाद भी मिलते हैं।

(२) षड्ऋतु वर्णन ग्रीष्म ऋतु से आरम्भ होता है, बारहमासे की पद्धति के प्रभाव के कारण कई स्थानों पर वर्षा से भी आरम्भ किया गया है। बारहमासा प्रायः आषाढ़ महीने से आरम्भ होता है।

(३) इन काव्यों की पद्धति बहुत रूढ़ हो गई है। कवि-प्रथा का पालन बहुत कड़ाई से होता है, इसलिए मौलिक उद्भावना की कमी दिखाई पड़ती है।

जैसा कि पहले ही निवेदन किया गया है, विद्यापति के प्रकृति-वर्णन दो श्रेणियों में रखे जा सकते हैं, (१) वर्ण्य वस्तु के रूप में, (२) उद्दीपन के रूप में।

प्रथम प्रकार के वर्णन में ऋतुओं का वर्णन, या प्रकृति के किसी खास रूप का वर्णन कवि ने उसकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करते हुए प्रस्तुत किया है, किन्तु उसे पूर्णतया प्रकृति का आलम्बन के रूप में चित्रण नहीं किया जा सकता। उदाहरण के वसंत का कई पदों में स्वतन्त्र वर्णन हुआ है, कवि ने वसंत को कहीं बालक रूप में, कहीं तरुण रूप में और कई स्थानों पर राजा के रूप मे चित्रित किया है। ऐसे प्रसंगों में उन्होंने प्रकृति को मनुष्य की भावनाओं की दासी तो नहीं बनाया, किन्तु इन वर्णनों में प्रायः मानवीय भावों का आरोप

---

१ राजशेखर, काव्यमीमांसा, पटना, १९५४, पृ० २३८।

२ वही पृ० २६३।

किया गया है और इनकी सुन्दरता या उन्मादकारिता का मुख्य कारण मानव हृदय को आह्लादित करने की शक्ति को ही बताता है। इसलिए बसन्त के जितने विशेषण हैं वे सभी मनुष्य के मन को प्रसन्न करने वाले गुणों के द्योतक हैं—जैसे आयल उन्मद समय वसन्त, या आएल वसन्त सकल जन रंजक, या आएल वसन्त सकल रस मण्डल, आदि। हाँ, वसन्त वर्णन में अभिव्यक्त उल्लास की शक्ति को देखते हुए इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि कवि के मन में प्रकृति के प्रति स्वाभाविक आकर्षण और अकृत्रिम रुझान दिखाई पड़ती है। वसन्त राजा की भाँति वनस्थली में प्रवेश करता है, राजा के सम्मान में नवोत्पन्न पत्तो ने सिंहासन स्थापित किया, कांचन कुसुमों ने माथे पर छत्र रखा, आम्रमुकुल शिरोभूषण हुआ, पक्षी कलकल ध्वनि ने आशीर्वाद का उच्चारण कर रहे है, कुसुम पराग श्वेत चँदोवे की तरह छा गया। तरु ने कुन्दलता की पताकाएँ फहरा दी—

नृप आसन नव पीठल पात
कांचन कुसुम छत्र धरु मात
मौलि रसाल मुकुल भेल ताय
समुखि कि कोकिल पंचम गाय
सिखि कुल नाचत अलि कुल जंत्र
द्विज कुल आन पढ़ आसिख मंत्र
चन्द्रातप उड़े कुसुम पराग
मलय पवन सह भेल अनुराग
कुन्द वल्ली तरु धएल निशान
पाटल तूण अशोक दलवान

कवि वसन्त के स्वागत में मत्त मयूर की तरह नाच उठता है। इन कविताओ मे प्राचीन कवियों का प्रभाव स्पष्ट है। उदाहरण के लिए जयदेव ने गीतगोविन्द मे वसन्त का वर्णन करते हुए उन्मद मदन महीपति के बारे में प्रायः उपर्युक्त बातें ही लिखी हैं—

मृगमदसारभरभसवशंवद नव दल माल तमाले
युव जन हृदय विदारण मनसिज नख रुचि किंशुकजाले ।४।
मदन महीपति कनकदण्ड रुचि केशर कुसुम विकासे
मिलित शिलीमुख पाटलपटल कृतस्मर तूण विलासे ।५।
(गीतगोविन्द काव्यम्, पहला सर्ग)

वसन्त के वर्णन में विद्यापति ने एक आत्मीयता और निकटता का भाव

संयोजित कर दिया है। वसन्त उनके लिए जैसे विदेश से लौटा हुआ कोई परिजन है, स्वजन जिसके स्वागत में लाज-संकोच की आवश्यकता नहीं। वे हृदय के सम्पूर्ण उच्छ्वासों के साथ ऋतुराज के स्वागत में खड़े है—

नाचहु रे तरुनि तजहु लाज
आएल वसन्त ऋतु बनिक राज

एक दूसरे स्थान पर उनकी नायिका अपनी सखियों से वसन्तराज का 'चुमावन' करने को कहती है। उसने वसन्त को बैठने के लिए नवीन किसलयों का आसन दिया, धवल कमल मांगलिक कलस के रूप में स्थापित किया। मकरन्द ही मदाकिनी का पवित्र जल है, अरुण अशोक के दीप जलाये। आज पुण्य दिवस है, वसन्तराज का वरण करो। पूर्ण चन्द मांगलिक दधि है (दधि-तिलक की उपमा चन्द्रमा से दी है), भ्रमरी ने दौड़कर सबको बुलाया, किंशुक के फल ने सिन्दूर प्रदान किया, केतकी की धूल (पराग) वस्त्र की तरह छा गई—

अभिनव पल्लव बइसक देल
धावल कमल फुल पुरहल भेल
करु मकरंद, मंदाकिनी पान
अरुन असोक दीप दहु आन
माइ हे आज दिवस पुनुमन्त
करिअ चुमावन राय वसन्त
सपुन सुधानिधि दधि भय गेल
भमि भमि भमरि हँकारइ देल
टेसु कुसुम सिन्दूर सम भास
केरिक धूलि बिथरहु पट वास
भनइ विद्यापति कवि कंठहार
रस बुझ सिवसिंह सिव अवतार

इस प्रकार के सांगरूपकयुक्त वर्णनों में कवि ने प्रकृति के विभिन्न उपकरणों का बहुत सूक्ष्म और बिम्बग्राही वर्णन प्रस्तुत नहीं किया है। ऐसे प्रसंगों की विशेषता इतनी ही है कि इनके द्वारा कवि के मन का एक अद्भुत उल्लास और प्रकृति को मानवीय रूपों में देखने की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति का पता चलता है। वसन्त को बालक, तरुण, दूल्हा, राजा आदि रूपों में रखकर उसका जो वर्णन किया गया है, उसमें हमारे जीवन के लोकाचारों का पूरा निर्वाह किया गया है।

वसन्त के साथ कुछेक और ऋतुओं का भी स्वतन्त्र वर्णन हुआ है। पावस वर्णन में कवि ने उसकी भयंकरता का अच्छा चित्रण किया है—

आएल पाउस निविड़ अन्धकार
सघन नीर बरसय जलधार
घन हुन देखियत विघटित रंग
पथ चलइत पथिकहु मन भंग
नदिया जोरा बहु अथाह
भीम भुजंगम पथ चललाह

अभिसार के प्रसंगों में कवि ने रास्ते की बाधाओं आदि के वर्णन के उद्देश्य से काली पावस रातों का प्रायः भयंकर वर्णन किया है। लेकिन उद्देश्य जो भी रहा हो, ऐसे वर्णनों में कवि की सूक्ष्मदर्शिता का पता भी चलता है—

जलद सरिस जलधार
काजरे रांगलि राति
भमए भुजंगम भीम
पंके दुरल चौसीम
दिग मग देखिए घोर
पयर बिअ बिजुरी अजोर

प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन विद्यापति के काव्य में गौण है, मुख्य है उसका उद्दीपन के रूप में चित्रण ही। उद्दीपन के रूप में प्रकृति का चित्रण अत्यन्त रूढ़ कवि-व्यापार है, इसमें सन्देह नहीं किन्तु, इस परिपाटी को माननेवाले कवि के लिए उसमें नूतन आकर्षण पैदा करना बहुत कठिन होता है। विद्यापति ने इस प्रकार के वर्णनों में अपनी निरन्तर जागरूकता, सूक्ष्मदर्शिता और संवेदन-शीलता का बहुत अच्छा परिचय दिया है। विरहिणी के लिए प्रिय-विरह की बरसाती रातें कितनी दारुण है। भादों की काली रातों में विरहिणी के दुःख की सीमाएँ टूट जाती हैं। वह कहती है, बादलों से भरा हुआ भादों—और प्रिय से रिक्त तेरा घर; इस असीम दुःख का कहीं अन्त नहीं। कवि ने वर्षा के साथ घटित घटनाओं, बादलों की गर्जन, झंझा, शंपापात, मत्त मयूर की आवाज से उत्पन्न ध्वनियों को शब्दों में बाँधकर विरहिणी-हृदय की विभिन्न परिस्थितियों से उनकी तुलना करके सम्पूर्ण प्रकृति को व्यक्ति के दुःख में लय कर दिया है—

सखि हे हमर दुखक नहिं ओर
ई भर बादर माह भादर, सुनू मंदिर मोर

झपि घन गरजन्ति सन्तत
भुवन भरि बरसन्तिया
कन्त पाहुन काम दारुण
सघन खर सर हन्तिया
कुलिस कत सत पात मुदित
मयूर नाचत मातिया
मत्त दादुर डाक डाहुक
फाटि जायत छातिया
तिमिर दिग भरि घोर यामिनि
अथिर बिजुरि क पाँतिया
विद्यापति कह कइसे गमाओब
हरि बिना दिन रातिया

उद्दीपन के रूप में प्रकृति के उपकरणों के प्रयोग से मानवीय दुःख की इतनी तीव्र व्यंजना शायद ही कोई कवि कर सका हो। इस पद में कवि ने जैसे अपने हृदय की सारी घनीभूत पीड़ा को बिखेरकर रख दिया है। यह पद किसी राजा को समर्पित नहीं है, कवि ही इस दुःख का एकमात्र साक्षी है। इस कविता में ध्वन्यात्मक वस्तु-व्यापार और उनका मानवीय हृदय की अवस्थाओं से समानान्तर निर्वाह अद्भुत है। बादलों से गगन भरा है, और मेरा घर सूना है। वर्षा का उद्दाम रूप, साक्षात् आँखों के सामने खड़ा है, चमक, छायान्धकार का नर्तन, मयूरों और दादुरों की आवाज, आँखों के पथ को घोर कालिमा से भर देने वाली रात—विरहिणी अपने पति की आने की बाट देखकर मन को झुठला भी तो नहीं सकती। और अस्थिर बिजली का प्रलय-नर्तन—यह सब कुछ विद्यापति के हृदय के आँसुओं में स्नात होकर यथार्थ की अनुपम आभा धारण किए हुए हैं।

विरह वर्णन के लिए कवि ने बारहमासा की पद्धति का भी प्रयोग किया है। विद्यापति के बारहमासा का आरम्भ आषाढ़ से शुरू होता है। आकाश में नवीन मेघ जलभार से झुके आ रहे हैं, विरहिणी का प्रिय इस दारुण ऋतु में न जाने कहाँ है कुछ पता होता तो शायद वह योगिनी बनकर उसे ढूंढ़ने को निकल पड़ती—

मास असाढ़ उनत नव मेघ
पिया बिसलेस रहओं निरथेघ

श्रावण में जब बादलों से भयंकर जल-वृष्टि शुरू हो जाती है, अन्धकार के कारण पथ तक नहीं सूझता, चारों तरफ बिजली की रेखाएँ कौंधती रहती हैं, उस समय उसे अपने जीने में सन्देह होने लगता है—

साओन मास बरसि घनबारि
पंथ व सूझे निसि अँधियारि
चौदिसि देखिए बिजुरी रेह
हे सखि कामिनी जीवन संदेह

भादों की काली रातें, चारों तरफ मयूरों और दादुरों के रव मे भर जाती है, सौभाग्यशाली युवतियाँ चौंक-चौंककर अपने प्रियतम की गोद मे छिप जाती है। आश्विन में चित्त व्यर्थ की आशा धारण करता है कि प्रिय आयेंगे, किन्तु निष्करुण नाथ सुधि तक नहीं लेते, सरोवर में चक्रवाक मिथुन-क्रीड़ा करते है, किन्तु मेरे लिए यह मास ही शत्रु हो गया है। कातिक मास आया किन्तु देशान्तर से कन्त नहीं आया। सबके लिए नवीन चन्द्र की ये रातें सुखपूर्ण हैं, किन्तु हमें तो प्रिय ने दुःख की पीड़ा ही सौंपी है। अगहन मास तो निश्चय ही इस जीव का अन्त कर देगा। मुझ अकेली रमणी को यह विरहाग्नि प्रिय के आते न आते अवश्य जलाकर क्षार कर देगी—

पूस खीन दिन दीघरि राति
पिया परदेस मलिन भेल कांति
हेरओं चौदिस झंखओं रोव
नाह विछोह कशहु जन होय
माघ मास घन पड़ए तुसार
झिलमिल कंचुआ उनत थन हार
पुनमति सूतलि प्रियतम कोर
विधि बल दैव बाम भेल मोर

फागुन मास मे धनि का जी उचाट हो गया, वह रो-रोकर पति की राह देखती रही, मत्त, कोकिल ने पंचम स्वर में गाना आरम्भ कर दिया। चैत में प्रिय का प्रवास चौगुना अखरने लगा, चातुर माली फूलो का विकास समझता है, नागर जन होकर भी मेरे प्रभु असयान ही रहे—

बैसाखे तवे उर मरन समान
कामिनि कन्त हरए पंचबान
न जुड़ि छाहरि न सरिस वारि
हम जे अभागिनि पापिनी नारि
जेठ मास ऊजर नव रंग
कन्त चहए खलु कामिनि संग
रूप नरायन पूरबु आस
भनइ विद्यापति बारहमास

विद्यापति के काव्य में प्रकृति का वर्णन इन्हीं दो रूपों में दिखाई पड़ता है। कवि ने विरह की अवस्थाओं में जाने प्रकृति को कितने रूपों में देखा है, सुख के दिनो मे जो प्रकृति विद्यापति को चाँदनी के मायाजाल में बाँधे रही, भौंरों की गुंजार और फूलों की महक ने मन को उद्रेक और लालसाओं से भर दिया, उसी प्रकृति को उन्होंने विरह के दिनों में जाने कितने रूपों में रुलाया। उस पर व्यंग्य किया। किन्तु उनके मन में इस प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम सदैव वर्तमान था।

१४ | सामाजिक चेतना

समाज और कवि के सम्बन्धों पर काफी वाद-विवाद हुआ है। आलोचकों का एक वर्ग किसी कवि या लेखक की सफलता का सबसे बड़ा मानदण्ड उसकी सामाजिक चेतना को मानता है और उसको साहित्य के हर पहलू का अध्ययन समाज को परिपार्श्व में रखकर करना चाहता है। और ऐसी अवस्था में जब समाज में कई प्रकार की विचार-धाराएँ संघर्षरत हों, और प्रत्येक मतवाद के माननेवाले हर दूसरे को अस्वस्थ, प्रतिक्रियावादी और रूढ़ग्रस्त तथा विकास के प्रतिकूल कहते हों, यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कौन कवि स्वस्थ सामाजिक प्रवृत्तियों का पोषक है और किसने अस्वस्थ और रुग्ण मानवमन के चित्रण में ही, अपना समय नष्ट किया है। कई बार एक कवि की रचनाएँ भी मतवादों के इस कुहा-जाल में पड़कर नाना प्रकार की मान्यताओं का शिकार हो जाती हैं। उदाहरण के लिए आधुनिक युग के किसी कवि को लीजिए। उसके साहित्य के अध्ययन करनेवाले किन्हीं दो आलोचकों का मत मिलता नजर न आयेगा। एक ही कवि की रचनाओं को कुछ आलोचक 'हाथीदाँत की मीनार' में रहनेवाला, समाज से दूर और कुण्ठाग्रस्त व्यक्ति के दिमाग की उपज बतायेंगे, उन्हीं रचनाओं को दूसरे आलोचक समाज की यथातथ्य प्रवृत्तियों का आईना, स्वस्थ समाज का निर्माण करनेवाली और सामाजिक यथार्थ को सही रूपों में चित्रित करनेवाली बतायेंगे। आधुनिक युग के समसामयिक कवि को परस्पर-युद्धरत आलोचकों के दाँव-पेचों का शिकार होना पड़ता हो या पैंतरेबाजी में झटका खा जाने का अंदेशा हो तो आश्चर्य नहीं, किन्तु जब यह पैंतरेबाजी किसी प्राचीन कवि के भाग्य का निर्णय करने पर तुल जाती है और उस साधक कवि के तत्कालीन समाज को न देखकर अपने सामाजिक जीवन के चश्मे से देखा जाने लगता है, तब सही अर्थों में अनर्थ की परम्परा खड़ी हो जाती है। प्रसाद जी ने पिछले खेवे के सिद्धों के साहित्य को उनकी स्वच्छन्द आनन्दवादी प्रवृत्ति के कारण रहस्यवादी बनाया, वे रहस्यवादी कवि को विवेक-संत्रस्त मर्यादावादी कवियों से श्रेष्ठ समझते थे, दूसरी ओर शुक्ल जी इन गुह्य साधकों को समाज-द्रोही कहते हैं। राहुल सांकृत्यायन जैसे मार्क्सवादी आलोचक सिद्धों के साहित्य को क्रान्तिकारी, रूढ़ि-विरोधी और नवीन चेतना से पूर्ण बताते हैं। इन परस्पर विरोधी मतवादों के घटाटोप में साधारण पाठक के लिए यह निर्णय करना भी कठिन हो जाता है कि ये कवि कैसे थे।

विद्यापति को शृंगारी कवि कहनेवालों ने उन्हें समाज से बहुत दूर किसी

लता-कुंज में विहार करनेवाला या दरबार के वातावरण में घिरे हुए संकुचित घेरे का कवि समझ लिया। विद्यापति दरबारी कवि थे अवश्य किन्तु वे अपने चारों तरफ के वातावरण के प्रति कम जागरूक नहीं थे। यह दूसरी बात है कि उन्होंने सिद्धों या निर्गुण सन्तों, खासतौर से कबीर की तरह समाज के एक विशेष वर्ग के प्रति या उस वर्ग की मान्यताओं, रूढ़ियों आदि के प्रति उग्र विरोध प्रकट नहीं किया। किन्तु किसी प्राचीन मान्यता के प्रति उग्र विरोध प्रकट करना ही सामाजिक चेतना या जागरूकता का लक्षण नहीं है। और न तो सामाजिक यथार्थ का मतलब वर्ग-संघर्ष की भावना का चित्रण करना ही समझा जाना चाहिए। इस कसौटी पर परखने पर बहुत से श्रेष्ठ कवि 'हाथी दाँत की मीनार' के बाशिन्दे ही प्रतीत होंगे। वस्तुतः इससे बड़ी कुत्सित समाज-शास्त्रीयता और कुछ नहीं होगी कि हम किसी कवि की रचनाओं में अपनी मान्यताओं का प्रतिफल या अपने न्यस्त अभिप्रायों का अंकन ही ढूंढ़ा करें। सामाजिक यथार्थ साहित्य में बहुत सूक्ष्म ढंग से अभिव्यक्ति पाता है। कवि राजनीतिक की तरह मतवाद का प्रचार नहीं कर सकता और न तो समाचार-सम्पादक की तरह किसी घटना या परिस्थिति का चित्रण ही करना पसन्द करेगा। साहित्य की अपनी मर्यादा और शैली है, उस शैली में व्यक्त सामाजिक यथार्थ को समझने मे शब्दों या खास प्रकार की वस्तु को ही यथार्थ माननेवालों को थोड़ा कष्ट अवश्य होगा। विरह के गीत में वैयक्तिक मन का चित्रण ही प्रमुख होता है। इसमे थोड़ा यथार्थवाद नहीं मिलेगा, किन्तु समझदार व्यक्ति विरहगीतों में भी स्वस्थ और अस्वस्थ प्रवृत्तियों का भेद बता सकता है। विरहिणी नायिका का अवसाद कभी इतना व्यापक होता है कि वह सम्पूर्ण सृष्टि को अपने दुःख में दुःखी न देखकर आक्रोश से भर उठती है, या सम्पूर्ण विश्व को भला-बुरा कहने लगती है। ऐसा भी हो सकता है कि विरह में पीड़ित नायिका अपने दुःख में इतनी घोर निराशावादी हो जाये कि आत्महत्या करने पर तत्पर हो जाये। दूसरी तरफ ऐसी भी नायिका हो सकती है, जो अपने दुःख में व्यथित रहने पर भी दूसरों के दुख में हाथ बँटाती है, उनका निजी दुःख दूसरों के कष्टों को समझने की प्रेरणा देता है, शक्ति और उत्साह देता है। इन दोनों परिस्थितियों का अन्तर बड़े सूक्ष्म विश्लेषण की अपेक्षा रखता है। ऊपर से दोनों ही चित्रणों को प्रेम वियोग कहकर सामाजिक यथार्थ का चश्मा लगाकर तिरस्कृत किया जा सकता है। विद्यापति ने प्रेमविरह के चित्रण में सर्वत्र स्वस्थ मनोवृत्ति का ही अंकन किया है, ऐसा तो मैं नहीं कहता; किन्तु इतना सत्य है कि विद्यापति की राधा अपने विरह मे भी निराश नहीं है और न तो वह संसार का किंचित् भी अमंगल सोच पाती है। यही नहीं, जहाँ नायिका अपनी विरह की पीड़ा से व्याकुलित चित्त होकर अपना नाश कर देना चाहती है, वहाँ विद्यापति उसे आश्वासन देते हुए उसके प्रिय के मिलने की आशा बँधाते हैं—

सून सेज मोहि लालए रे
पिया बिनु घर मोयें आजि
बिनती करौं महलोलनि रे
मोंति देह अगिहर साजि
विद्यापति कवि गाओल रे
आइ मिलबे प्रिय तोर

विरह के इन गीतों में जहाँ नायिका आत्म-ग्लानि से पीड़ित होकर हजारों तरह की परिस्थितियों की कल्पना करके अपने दुःसह दुःख की भयंकरता से ऊबकर अनिष्ठ की बात सोचती है, कवि उस प्रत्येक परिस्थिति में सखी के मुख से, पथिक के मुख से या स्वयं कवि-मुख से आश्वासन के दो शब्द, आशादायक दो बातें अवश्य कहते हैं। विद्यापति के इन गीतों को गाकर जाने कितनी प्रोषित-पतिकाएँ सुदूर कर्मरत अपने प्रेमियों, पतियों के विश्लेष दुःख को संभालने में समर्थ हुई होंगी। ऐसे गीतों को स्वस्थ प्रवृत्तियों का विकास न कहकर और क्या कहा जायेगा।

विद्यापति जैसे दरबारी कवि ने विरहिणी नायिका के दुःख का चित्रण करते वक्त उसे रानी या राजकुमारी की भूमिका में नहीं रखा है, जो उनके लिए ज्यादा उचित और उस वातावरण के अनुकूल होता। कवि ने नायिका के रूप में एक ऐसी नारी की कल्पना की है, जिसके चारों तरफ शील और मर्यादा की आड़ लगी है, परिवार है, सासु और ननद की पहरा देती आँखें हैं। ऐसी अवस्था में नायिका अपने पति से मिलने के लिए जो कुछ कहती है, वह भारतीय गार्हस्थिक मर्यादा के भीतर ही।

विद्यापति की रचनाओं में यथार्थ के अन्य रूपों का भी बड़ा बारीक चित्रण हुआ है। तत्कालीन कुरीतियों आदि पर कवि ने बड़ा तीखा व्यंग्य किया है। उनकी आँखों के सामने होनेवाली अजीब घटनाएँ उन्हें आक्रोश से भर देती है किन्तु विद्यापति ने विडम्बना-पीड़ित नायिका पर या उसके पति पर व्यंग्य नहीं किया है, वे समाज की उन रूढ़ियों पर व्यंग्य करते हैं। ऐसी परिस्थितियों में ऐसे कार्यों के लिए उत्तरदायी ही दोषी है। विद्यापति ऐसे लोगों पर क्रोध नहीं करते, बड़े हँसमुख ढंग से वे उनके मर्म पर प्रहार करते हैं। युवती लड़की की शादी बालक पति से हो गई, आगे क्या हुआ, यह उन्हीं के मुख से सुनिये—

पिया मोर बालक हम तरुनी
कौन तप चुकलौंह भेलौंह जननी
पहरि लेल सखि एक दछिन क चीर
पिया के देखैतों मोर दगध शरीर
पिया लेली गोद कै चललि बजार

हटिया के लोग पूछे के लागु तोहार
नहि मोर देवर कि नहि छोट भाइ
पुरुब लिखल छल बालमु हमार
बाट रे बटोरिया कि तुहु मोरा भाइ
हमरो समाद नैहरे लेले जाउ
कहुहिन बाबा के किनए धेनु गाइ
दुधवा पियाइ के पोसता जमाइ

लड़की के बाप पर कैसा तीखा व्यंग्य है। लड़की अपने बाप से कहती है कि अपने इस जमाई के लिए दूध पीने को गाय भिजवा दो···विद्यापति ने लडकी के मूर्ख बाप की भर्त्सना नहीं की, उसे बेवकूफ नहीं कहा और न उनका समाज के लोगो द्वारा उपहास कराया, पर व्यंग्य किया कितना तीखा और मार्मिक।

यथार्थ की बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति उनकी कुटनी नारी पर लिखी कविता मे हुई है। यह सत्य है कि उस कविता में आर्थिक वैषम्य या दीनता का जिक्र वैसा नहीं है, जैसा कि आजकल की यथार्थवादी कही जाने वाली कविताओं में होता है। यह संभव भी नहीं था क्योंकि चौदहवीं शताब्दी के एक कवि को न तो आजकल का यह बुद्धिवादी वातावरण प्राप्त था, न उसके सामने वर्ग-संघर्ष की वर्तमान परिस्थितियाँ ही स्पष्ट थीं। इसी कारण इस कविता में दुःख की अभिव्यक्ति है, लेकिन दूसरी तरह से। कामकला के प्रचार ने जिस प्रकार के छिछले प्रणय का प्रचार किया, उसमें कुटनी नारी या शिष्ट शब्दों में दूती का महत्त्व है। यह दूती केवल प्रेमी-प्रेमिकाओं के स्वाभाविक प्रेम-व्यापार में ही सहायता नहीं देती थी, बल्कि नागरजनों की कामवासना की तृप्ति के लिए नाना प्रकार के जाल फेंककर भोली-भाली मूर्ख लड़कियों को फँसाने का भी कार्य करती थी। एक ऐसी ही दूती जो अपने सम्पूर्ण यौवन-काल को इस प्रकार के छल छद्मपूर्ण प्रेम-व्यापार या व्यवसाय में व्यतीत कर चुकी है, वृद्धावस्था आने पर अपने पूर्व जीवन के प्रति विरक्ति या निराशा से भर उठती है। कुटनी औरतें न केवल पर नारी को लोभादि दिखाकर फँसाने का ही कार्य करती थीं, बल्कि स्वयं भी एक प्रकार से वेश्या का जीवन व्यतीत करती थीं। विद्यापति ने एक ऐसी ही वृद्धा कुटनी का चित्रण इन शब्दों में उपस्थित किया है—

हम धनि कूटनी परिनत नारी
बैसहु बास न कहीं बिचारी
काहु के पान काहु बिअ सान
कत न हकारि कएल अपमान
कय परमाद धिया मोर भेल
आहे यौवन कतय चल गेल

आगल कपाल अलक भार साजु
संकुल लोचने काजर आंजु
धवला केस कुसुम करु बास
अधिक सिंगार अधिक उपहास
थोथर थैया थन दुहुँ भेल
गरुअ नितम्ब कहाँ चलि गेल
यौवन सेस सुखायेल अंग
पाछु हेर बिलुलइते अनंग
खने खस घोघट विघट समाज
खने खने अब हकारलि लाज
भनहिं विद्यापति रस नहिं छेओ
हासिनि देइ पति देवसिंह देओ

वयस और स्थान का बिना विचार करके बात करने वाली मैं कुटनी वृद्धा हूँ किसी को पान देती हूँ, किसी को इशारा करती हूँ। जाने कितने लोगों को बुलाकर मैंने अपना अपमान किया है। मेरी लड़की को मेरे चरित्र के कारण जाने कितने प्रकार के प्रवादों का सामना करना पड़ा है। मेरा यौवन चला गया मुग्ध गालों को मैं अलकों से ढँकती हूँ, धँसी हुई आँखों को अंजन से छिपाती हूँ, धवल बालों को फूलों से सुवासित करती हूँ, जितना ही अधिक शृङ्गार करती हूँ, उतना ही अधिक उपहास होता है। यौवन के प्रतीक कुच थोथर होकर लटक गये। नितम्बों की गुरुता लुप्त हो गई। यौवन शेष हुआ, अंग सूख गए, अनंग पीछे भूमि पर लोट रहा है। दुष्टों के समाज में जब भी घूँघट गिर पड़ता है क्षण-क्षण में लज्जा को पुकारती हूँ, पर वह दूर चली गई है, विद्यापति कहते हैं कि रस को (यौवन को) इस तरह नष्ट करना चाहिए।

विद्यापति ने समाज में कुत्सित जीवन व्यतीत करनेवाली इस नारी का चित्रण कितनी सहानुभूति से किया है। सहानुभूति ऊपर से लादी हुई नहीं है। आप उसकी आत्म-ग्लानि और अपने किये हुए कार्यों पर पश्चात्ताप की भावना के कारण अपनी सहानुभूति देने के लिए विवश हैं। वह अपने चरित्र के कारण अपनी लड़की पर लगाये जाने वाले प्रवादों से दुःखी है, वह जानती है कि यौवन-च्युत नारी का यह कृत्रिम शृङ्गार उसका उपहास करता है, परन्तु वह अपनी परिस्थितियों के कारण विवश है। कवि ने आर्थिक परिस्थितियों का स्पष्ट उल्लेख न करते हुए भी इस ओर काफी साफ ढंग से संकेत कर दिया है।

विद्यापति के कृष्ण नंदराजा के राजकुमार नहीं, ग्वाल थे, इसीलिए विद्यापति ने जिस वातावरण में उन्हें उपस्थित किया है, वह उसी के उपयुक्त है। राधा कृष्ण पर व्यंग्य करती हुई कहती है कि कैसा मूर्ख है यह कृष्ण, कहीं कौड़ी से घोड़ा खरीदा जाता है या उधार माँगने से भी मिलता है? बैठने का

स्थान नहीं, खाने का व्यंजन मांगता है। आज तो बड़ा मजा आया। कान्हा का मिथ्या गौरव-चूर-चूर हो गया। आकर पाँव के पास प्वाल पर बैठ गया। बेचारा पूछने लगा, शय्या कहाँ लगी है। पास में फटी हुई चटाई और मन में पलंग। अहीरिनियों के नाथ की बात ही क्या कहना—

कडड़ि पठओले पाव माँहि घोर
घीव उधार माँग मति भोर
बास न पावए माँग उपाति
लोभ क रासि पुरुष थिक जाति
कि कहब आज कि कौतुक भेलि
अपर्दाहि कान्ह क गौरव गेलि
आयल वैसल पाँव पोआर
सेज क कहिनी पूछये विचार
ओछाओन खण्डतरि पलिया चाह
अओर कहब कत अहिरिनि नाह
भनइ विद्यापति पहु गुनवन्त
सिर सिवसिंह लखिमा देइ कन्त

विद्यापति की सामाजिक चेतना का परिचय एक और प्रकार से मिलता है। उन्होंने सारे अभिजात प्रयोगों के बावजूद कई स्थानों पर घोर ग्राम्य या लोक-प्रसूत प्रयोग किये हैं। ऐसे प्रयोगों से कवि की पैठ और बातचीत की स्वाभाविकता को ग्रहण करने की कोशिश का पता चलता है। मुहावरे और कहावत के प्रयोग में विद्यापति ने कमाल कर दिया है। खास तौर से ये प्रयोग राधा तथा अन्य गोपियों की बात-चीत में दिखाई पड़ते हैं। लोक प्रयोग प्रायः स्त्रियों के वार्तालाप में ज्यादा सुरक्षित रहते भी हैं। उदाहरण के लिए थोड़े से प्रयोग नीचे दिये जाते हैं—

सखि हे बूझल कान्ह गोआर
पितरक टाँड़ काज कुहु कओन लहु
ऊपर चकमक सार

कान्ह बिल्कुल गँवार है, यह मैंने आज जाना। पीतल का टाँड़ (आभूषण) ऊपर से सोने का मुलम्मा। यह चमक-दमक से कोई काम सरने वाला नहीं।

तोहर वचन कूप धँस जोरल
ते हम गेलिहुँ अबाटे
चन्दन भरम सिमर आलिंगल
सालि रहल हिय काँटे

तेरी झूठी बातों में पड़कर मैं कुएँ में कूद पड़ा, कराह चला। चन्दन के भ्रम में मैंने सेहुँड़ को छाती से लगाया, 'हृदय में काँटे साल' रहे हैं।

सुजन क वचन खोट नहिं लाग
जिन दृढ़ कए आलका दाग

सुजन के कड़े वचन में कभी-कभी नहीं-जाता, जैसे अच्छी तरह लगाया हुआ आलता (ऐपन) का दाग जल्दी नहीं छूटता।

मानिनी गोपी अपनी सखी से कहती है कि उस मूर्ख ने कमल का अभिनव पुष्प नीम के दोने में फेंक दिया, जो वहीं सूखकर बिखर गया। 'नीम के पत्ते का दोना' प्रयोग देखिये। इसमें कटुता व तिक्तता का भाव है, साथ ही कमल फूल नीम के दोने में फेंकना, का अर्थ गुण को न समझना भी है—

अभिनव एक कमल फुल सजनी
दोना नीम क डार
सेओ फूल ओतहि सुखायल सजनी
रसमय फुलक नेवार

गोपी एक रात का अनुभव सुनाती हुई गँवार कृष्ण की जो विशेषताएँ बताती है, वे इस प्रकार हैं—

कि कहब हे सखि रात क बात
मानिक पड़ल कुबानिक हात
कांच कंचन नहिं जानए मूल
गुंजा रतन करए समतूल
तन्हि सौं कहाँ पिरीत रसाज
बानर कंठ की मोतिम माल
भनइ विद्यापति इह रस जान
बानर मुँह की सोभए पान

विद्यापति ने लोक प्रचलित मुहावरों (Idioms) के प्रयोग से भाषा को एक नई शक्ति दी तथा अपने कथ्य को अधिक जीवन्त और लोक-जीवन-सम्पृक्त बनाया। मुहावरों के साथ ही उन्होंने लोक जीवन के अन्य तत्त्व भी ग्रहण किये। उदाहरण के लिए उनके गीतों में कई स्थानों पर प्रेम-विरह आदि की सूक्ष्म परिस्थितियों में लौकिक अन्धविश्वास भूत-प्रेत, टोना-टोटका तथा अन्य प्रकार के रूढ़ विश्वासों का प्रयोग हुआ है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने इन

विश्वासों को हानिकारक या अवैज्ञानिक समझकर इनका प्रतिकार किया, ऐसा करने का वह युग भी नहीं था; किन्तु उन्होंने अपनी सहजता में ही इनका विरोध कहीं विडम्बना दिखाई है। उदाहरण के तौर पर उनके गीत में एक प्रेमिका गोपी अपनी सास को धोखा देने के लिए भूताविष्ट का अभिनय करती है, कृष्ण एक ओझाइन बनकर आते हैं, और अकेले मे मंत्र-प्रयोग की आज्ञा लेकर घर के लोगों को उसके पास से हटा देते हैं, गोपी का रोग दूर हो जाता है—

निरजन होइ मंत्र जब झाड़िए
तब इह होएब भाल
एत सुन जटिला घर दौहे लाओल
निरुजन दुहु एक ठाम
सब जन निकसल बाहर बइसल
पुरल कान्ह मन काम
बहु खन अतनु मंत्र पढ़ि आरल
भागल तब सेहो देवा
देव देयासिनि घर सयँ निकलल
चातुरि बूझबि केवा

इस प्रकार के भूत-प्रेत के बहाने के पीछे कितना सत्य होता है, क्या-क्या अभिप्राय होते हैं, उनका एक व्यंग्यात्मक संकेत यहाँ विद्यापति ने दिया है। राधा के विरह-प्रसंगों में भी इसी प्रकार के लौकिक विश्वासों का प्रयोग किया गया है, इसके कारण ऐसे वर्णन ज्यादा मार्मिक और हृदयस्पर्शी हो सके है। जैसे कृष्ण के वियोग में राधा का आत्म-ग्लानिपूर्ण यह कहना कि क्या मैं शाम का एकाकी तारा हूँ या भादव चौथ का चाँद, जो कलंक के डर से प्रभु मेरी ओर देखना तक नहीं चाहते। पंक्तियाँ पीछे राधा के विरह के प्रसंग में उद्धृत की जा चुकी हैं।

विद्यापति के काव्य में ऐसे स्थलों की भी कमी नहीं है, जहाँ वे अस्वस्थ और कई रूपों में अनैतिक वर्णन प्रस्तुत करते हैं। रति के वीभत्स वर्णन, विपरीत राति के अश्लील वर्णन तथा विवृत आलिंगन आदि के प्रसंग स्वस्थ प्रवृत्तियों के विरोधी ही कहे जायेंगे। यद्यपि कहीं-कहीं कवि ने ऐसे वर्णनों को रूढ़ अप्रस्तुतों की आड़ मे ढॅकने की कोशिश की है, किन्तु ऐसे प्रसंग भी उद्देश्य के सस्तेपन के कारण कुरुचिपूर्ण प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए पदावली (बेनीपुरी-सम्पादित) का १७२ वाँ पद 'सखि हे कहब किन्तु नहि फूर' तमाम अलंकरण के आवरण के बावजूद अपनी नग्नता को नहीं छिपा सका है। विदग्ध-विलास के प्रायः सभी पद इस दोष से पीड़ित हैं। इस प्रकार के वर्णनों के पीछे कैसी मनोवृत्ति काम कर रही थी, इस पर पीछे विस्तार से विचार हो चुका है, उसे यहाँ फिर से दुहराने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

दृष्टकूट के पद भी इसी अस्वस्थ मनोवृत्ति के परिचायक हैं, हालाँकि यह वस्तुगत नहीं, शैलीगत दोष है। डॉ० विमान विहारी मजूमदार-सम्पादित 'विद्यापति' के एक सौ चौरानबे से लेकर दो सौ संख्या वाले पदों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है, जैसे कवि ने महज पाठक को परेशान करने के लिए ही वे पद लिखे हैं, इन सभी पदों के नीचे मजूमदार ने लिखा है कि इसका अर्थ नहीं मिला। यह रूढ़ परिपाटी है, इसमें शक नहीं। संस्कृत में भी इस प्रकार के दृष्टकूट पद बहुत लिखे गए। सूर ने तो इसमें कमाल ही कर दिया। कारण जो कुछ भी हो, यह प्रवृत्ति है अस्वास्थ्यकर ही।

१५ | गीतिकाव्य : उदय और विकास

गीतिकाव्य कविता का सर्वाधिक लोकप्रिय और परम्परा-प्रशंसित प्रकार है। मानव-मन के अत्यन्त निकट और उसी से निष्पन्न होने के कारण इस काव्य-विधा (फ़ार्म आफ़ दि पोएट्री) ने हजारों वर्षों से निरन्तर समष्टि-चित्त को प्रभावित किया है। मनुष्य के सुख-दुख और उसके वैयक्तिक भावों, संवेगों और इच्छा-व्यापारों को जो स्वीकृति और सम्मान मिला है, वह अद्वितीय है। कविता के विषय में सामान्यतः और गीतिकाव्य के विषय में विशेषतः आज ये शंकाएँ सुनाई पड़ती हैं कि वर्तमान बौद्धिक युग अपनी विकल्पात्मक प्रक्रिया के कारण इन भावनामूलक काव्य-प्रकारों के लिए उतना उपयुक्त नहीं रहा। कविता ने इसलिए अपने को युगानुकूल बनाने के लिए न केवल अपने कलेवर में परिवर्तन किया, बल्कि विषय-वस्तु में भी वस्तुगत (आब्जेक्टिव) तथा वैचारिक अभिव्यक्ति को प्रधानता दी। वर्तमान कविता के बुद्धिवादी होने की बात इसी कथन की पुष्टि करती है। गीतिकाव्य चूँकि केवल भावनामूलक और वैयक्तिक अनुभूतियों को वस्तु के रूप में स्वीकार करता है, इसलिए उसके लिए तो वर्तमान बौद्धिक युग और भी अधिक अनुपयुक्त ठहरता है। किन्तु इस तर्क की अतिवादी परिणति तो तब होती है जब कि नयी कविता के प्रायोगिक रूपों के हिमायती गीतिकाव्य के कवि को दकियानूस, प्रतिगामी या युग-सत्य के प्रतिदर्शी की उपाधि दे डालते हैं। यह सत्य है कि कोई-कोई युग-विशेष गीतिकाव्य के लिए उतना उपयोगी अथवा उत्साहवर्धक नहीं होता, किन्तु बौद्धिक होने के कारण ही वर्तमान युग गीतिकाव्य के लिए एकदम अनुपयुक्त नहीं माना जा सकता। इन परिस्थितियों को देखते हुए गीतिकाव्य के मूल तत्त्वों, उसके उदय और विकास की अवस्थाओं का पूर्ण परीक्षण आवश्यक प्रतीत होता है।

गीतिकाव्य क्या है ? आरम्भ में यह प्रश्न स्वाभाविक है, किन्तु जिस प्रकार कविता की कोई सुनिश्चित और सर्वमान्य तथा पूर्ण परिभाषा उपस्थित कर सकना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार गीतिकाव्य की भी कोई खास परिभाषा नहीं है। मुख्य लक्षणों के संधान के लिए हम दो पहलुओं से विचार कर सकते हैं। वस्तु की दृष्टि से गीतिकाव्य ज्यादा आत्मपरक होता है, अर्थात् उसमें मानवीय संवेदनात्मक तत्त्वों—इच्छा, संवेग, भावना आदि की प्रधानता होती है। ये लक्षण तो सामान्यतया साहित्य मात्र से कहे जा सकते हैं, क्योंकि साहित्य भी मूलतः भावनामूलक और संवेदनात्मक होता है, किन्तु गीतिकाव्य में यह कुछ

अधिक मात्रा में मिलता है। इसी विशेषता की ओर संकेत करते हुए डॉ० चार्ल्स मिल्स ने लिखा है कि वस्तुतः गीतिकाव्य को ही कविता कहा जा सकता है। किसी कृति-विशेष में काव्यात्मकता जितनी अधिक होती है, वह उसी अनुपात में गीतात्मक होती है। नाटक जितना ही काव्यात्मक होगा, वह उतना ही गीतितत्त्व से पूर्ण होगा। महाकाव्य जितना ही अधिक काव्यात्मक हो, उतना ही गीतात्मक होता है।[1] स्पष्ट है कि गीतिकाव्य का एक अत्यन्त आवश्यक धर्म उसका भावप्रधान होना है। काव्य के अन्य प्रकारों में विवरण, वस्तु वर्णन और अन्य वैचारिक तत्त्व की प्रधानता हो सकती है, किन्तु गीतिकाव्य में इसके लिए अधिक स्थान नहीं। भावों की प्रधानता और कोमल अनुभूतियों को वस्तु मे स्वीकार करने के कारण गीतिकाव्य स्वभावतः आत्मपरक (सब्जेक्टिव) हो जाता है। कवि अपने अनुभूत भावों को गीति में ढालता है, वस्तुगत विचारों से बचने के कारण उसकी कृति स्वभावतः ही वैयक्तिक और आत्मपरक होती है। दार्शनिक विचारकों ने गीतिकाव्य के आध्यात्मिक और वैयक्तिक स्वर को स्वीकार किया है। हीगेल ने गीतिकाव्य की जो परिभाषा दी है, वह इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हीगेल के मत में गीतिकाव्य का कवि जगत् के सारे तत्त्वों को अपने में समाहित करता है, अपने वैयक्तिक भावों के प्रभाव से इसे पूर्णतः आत्मसात् करता है। और इस आत्मपरकता को सुरक्षित रखनेवाली शैली में अभिव्यक्त करता है।[2] इस प्रकार गीतिकाव्य कविता के अन्य प्रकारों से अपनी आत्मपरकता, संवेगपूर्णता और कल्पनाशीलता की विशेषताओं के कारण अलग प्रतीत होता है।

वैयक्तिकता का गुण गीतिकाव्य की किसी एकान्त विशेषता की ओर संकेत नहीं करता। जैसा कि ऊपर कहा गया है, आत्मिक अनुभूतियाँ अल्पाधिक रूप में अन्य रूपों में भी स्वीकार की जाती हैं। ऐसी अवस्था में यह कहना कि ये गीतिकाव्य की ही विशेषताएँ हैं, बहुत उचित नहीं मालूम होता। फिर गीतिकाव्य की परिभाषा का दूसरा पहलू ढूंढना पड़ता है। वह है इसकी शैली। गीतिकाव्य की शैलीगत विशेषता है उसकी गेयता। गीति ग्रीक शब्द Lyric

---

१ In other words, pure poetry which has the essentially poetic quality is lyric poetry. Every composition becomes increasingly lyrical as it becomes more and more poetic, the more poetical a drama is the more lyrical it is. The more poetic an epic, the more lyrical it must be. (Methods and Materials of Literary Criticism, p. 7.)

२. Quoted by Dr. Gayley in Methods and Material of Literary Criticism p 5

का हिन्दी रूपान्तर है, जिसका मूल अर्थ है वह गाना जो लायर बाजे के साथ गाया जा सके।[१] कालान्तर मे इस रूढ़ार्थ में बहुत विकास हुआ—तीन प्रकार से गाये जाने के कारण इसके तीन भेद हुए : समूह गान (Choral); एक व्यक्ति द्वारा गाये जानेवाला (Monodic); नृत्य के साथ गाया जानेवाला (Dorian)। ये भेद विकास की अवस्था तो बताते हैं, किन्तु गेयता के गुण को किसी-न-किसी रूप में सभी स्वीकार करते हैं। श्री ई० गोस इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के गीतिकाव्य शीर्षक परिच्छेद में लिखते हैं कि गीतिकाव्य सामान्य कविता के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द है, जो किसी गीति-वाद्य के साथ गायी जाती हो या गायी जा सके।[२] यहाँ आत्मपरक या वैयक्तिक अनुभूतियों का गुण बहुत बड़ा भेदक तत्त्व नहीं माना गया है। श्री गोस केवल गेयता को ही आवश्यकता मानते हैं। गेय कविता को गीतिकाव्य तो स्वीकार किया जा सकता है किन्तु इस परिभाषा में अति व्याप्ति-दोष आ गया है। कोई भी कविता गायी जा सकती है, महाकाव्य तक गाये जा सकते है, अतः केवल गेयता को एकमात्र लक्षण स्वीकार करके गीतिकाव्य की परिभाषा नहीं बनायी जा सकती।

यूरोप के प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने इस काव्य-विधा के सैद्धान्तिक मूल्याकन पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया है। ग्रीक विचारकों ने गीतियों को लक्ष्य किया था। उन्होंने मुख्यतया तीन विभेद भी स्वीकार किये थे, जो ऊपर दिये गये हैं; किन्तु इस विषय के अध्ययन और सैद्धान्तिक सूक्ष्मताओं को व्यक्त करने का कोई प्रयास वहाँ नहीं दिखाई पड़ता। ग्रीस में विभिन्न अवसरों पर गाये जाने वाले सामयिक गानों का श्रेणी-विभाजन अवश्य किया गया, किन्तु इसे काव्य के एक प्रकार के रूप में यहाँ भी बहुत महत्त्व नहीं दिया गया। "यूरोपीय पुनर्जागरण काल तक गीतिकाव्य के विषय में कोई नियमबद्ध सिद्धान्त निर्धारित नहीं हो सका था।"[३] परवर्तीकाल में कई विचारकों ने इस पर विचार किये, किन्तु उपर्युक्त दोनों लक्षणों तक ही विवाद पहुँचकर रह गया। श्री पालग्रेव, जिन्होंने गीति-कविताओं का चयन और संपादन किया[४] गीतिकाव्य को थोड़े शब्दों मे यों रखते हैं : "गीतिकाव्य इकहरे विचार, अनुभूति या स्थिति का चित्रण है जिसमें संक्षिप्तता, मानवीय भावना का रंग और गति अवश्य होनी चाहिए।" पालग्रेव की इस परिभाषा में दो और लक्षण दिखाई पड़ते हैं। पहला तो यह कि

---

१. Greek, A poem to be sung to the lyre. (Shipley's Dictionary of World Literary Terms.)

२. In Encyclopedia Britannica 11th Edition, vol. XVII p. 180.

३. Spingran : Literary Criticism of Renaissance, p. 58.

४. Palgrave's Golden Treasury of Songs and Lyrics, preface

गीतिकाव्य में ही एक विचार या अनुभूति या स्थिति होनी चाहिए। उसमें उलझन या शाखाविस्तार अथवा भावों के संघर्ष की स्थिति नहीं होनी चाहिए। इस दृष्टि से पालग्रेव ने संक्षिप्तता को अनिवार्य गुण स्वीकार किया। यही विशेषता है जो गीतिकाव्य को एक ओर वर्णनात्मक बड़ी कविताओं से अलग करती है, दूसरी ओर उसमें प्रभावान्विति (Totality of effect) को बढ़ाती है। एक भाव होने के कारण इस प्रकार की कविता सहज और सामान्य जन के लिए बुद्धिगम्य होती है। पालग्रेव ने जिस दूसरी विशेषता की ओर ध्यान आकृष्ट किया, वह है गति की त्वरा (rapidity of movement)। गीतिकाव्य में भाव-शृङ्खला में परिवर्तन के लिए त्वरा आवश्यक है। सभी काव्य प्रभावित करते हैं। प्रेषणीयता में और रसोद्रेक उसका गुण-धर्म होता है, किन्तु उनमें प्रभावोत्पादन की प्रक्रिया में क्रमिक विकास की स्थिति होती है, त्वरा या शीघ्रता बहुत जरूरी चीज नहीं होती, किंतु अत्यन्त संक्षिप्त भावना की अभिव्यक्ति होने के कारण गीतिकाव्य में वह त्वरा अत्यन्त आवश्यक है। हीगेल भी इन दो विशेषताओं को स्वीकार करते हैं।[१] उन्होंने गीतिकाव्य के लिए दो आवश्यक तत्त्व माने . (१) सम्बद्धता (Unity) पूरे छन्द में भावाकुलता और प्रभाव की समान स्थिति का अटूट निर्वाह होना चाहिए, अन्यथा प्रभाव में ह्रास की भावना बनी रहती है। (२) कथन और घटना-प्रवाह में शीघ्र परिवर्तन की स्थिति (Swift movement)। नयी बात कहकर उसे पुनः पूर्वकथित हिस्से से जोड़कर माधुर्य और रसोद्रेक की सृष्टि करना भी गीतिकार का कौशल है। इस गतिशीलता पर एक और दृष्टि से विचार किया जा सकता है। संगीत की सबसे बड़ी विशेषता यह मानी जाती है कि वह हमारी सीमित भावना को समष्टिगत भाव-चित्त के साथ जोड़ता है। इसीलिए हम बिना किसी स्पष्ट अर्थ से रहित स्वरों को सुनते हुए किसी अज्ञात भावलोक में डूब जाते हैं। संगीत हमारी प्रज्ञा को एक क्षण-के लिए सांसारिक यथार्थ के धरातल से उठाकर कल्पना के भावलोक में अग्रसर करता है। हम स्वरों के आरोह-अवरोह की तथा उसके राग-लहरों के स्पर्श को अनुभव करते हैं और बिना किसी संकेत या अर्थ के यह समझ लेते हैं कि अमुक राग शोक-स्थिति का द्योतक है, मायूसी या निराशा का भाव-व्यंजक है, अथवा उसमें उल्लास, उत्साह या आनन्दसूचक भावों की प्रधानता है। इन्हीं अनुमेय भावों के अनुसार हम संगीत के लयबद्ध स्वरों से प्रभावित होते हैं। बंशी की करुण रागिनी का कोई अर्थ नहीं, वह किसी प्रिया-विश्लेष-दुःख से अभिभूत चित्त की करुणा को शब्दार्थ के माध्यम से व्यक्त नहीं करती; किन्तु हर सहृदय व्यक्ति इस रागिनी से प्रभावित होता है। पुत्रोत्पत्ति के अवसर पर बजनेवाली शहनाई और मृत्यु के अवसर पर कंपन-भरी विलम्बित स्वरलहरी की करुणा का अन्तर कौन नहीं जान पाता ? इस प्रकार संगीत सर्वाधिक अशरीरी कला है; जो हमारे

---

१. J. S. Kednev Hegel's Aesthetics, Page 282.

मन को सीधे स्पर्श करती है। गीति इसी संगीत का सहारा लेता है। वह एक कोमल स्वरलहरी की शब्दशक्ति को सहारा देकर धरती पर उतारता है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म कोमल भावों को पदार्थ से संयुक्त करता है, अर्थहीन स्वरों में वैयक्तिक अनुभूतियों की सृष्टि करता है। वह एक वायवी पदार्थ को धरती पर लाकर उसमें मानवीय सुख-दुःख की सर्वसामान्य अवस्थाओं से संयुक्त करता है, इसीलिए गीतिकाव्य, संगीत के इस उन्नयनशील भावोद्रेक-शक्ति के साथ समन्वित होने के कारण भाव की अति तीव्र व्यंजना में सक्षम होता है। प्रो० एस० लाज लिखते हैं कि गीतिकाव्य कल्पना की गति है, जिसके द्वारा ससीम-मानवात्मा असीम के साथ सम्बद्ध होने का प्रयत्न करती है।[1]

इस प्रकार गीतिकाव्य में भाव की एकमेवता, गेयता, प्रभावान्विति और संबद्धता को विशेष लक्षण के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। गीति-काव्य की इन विशिष्टताओं को दृष्टि में रखते हुए हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि इस काव्य-विधा मे साहित्य-प्रणयन करनेवाला कवि हृदय से कुछ भावुक और उपेक्षा-कृत अधिक संवेदनशील व्यक्ति होगा। यह अनुमान बहुत-कुछ ठीक है, किन्तु उसके आधार पर इस प्रकार के कवि को पलायनवादी या जागतिक संघर्षों से घबड़ानेवाला समझना ठीक नहीं होगा। कवि के मन में गीतिकाव्यात्मक भाव की सृष्टि प्रायः शान्ति-विक्षेप के कारण ही होती है। सर्वथा सहज ढंग से चलने वाले जीवनक्रम में भावना-व्यतिक्रम के कारण जो अशान्ति उत्पन्न होती है वह एक शक्तिशाली भाव को जन्म देती है, जो गीति का रूप ले सकता है। इसलिए मानसिक द्वन्द्व की स्थिति कवि के मन में अवश्य ही रहती है। युग की समस्याएँ संघर्षों की अवस्थाएँ भी कवि के मस्तिष्क को प्रभावित करती हैं। इन वस्तुओं को वह जितनी ही एकाग्रता से सोचता है, वे उसके हृदय में उतनी ही प्रबल भावना का रूप धारण करती हैं, उसके मन में क्षोभ, आक्रोश या निराशा की प्रवृत्तियाँ इन्हीं का परिणाम होती हैं। गीतिकाव्य में इनकी भी अभिव्यक्ति होती है। वीरतापूर्ण गान और राष्ट्रीय संघर्षों में उत्पन्न गीत इसी के उदाहरण हैं। अपनी सूक्ष्म भावप्रवणता और अभिव्यक्ति की बारीकी के कारण गीति-कविता किसी भी भाव या वस्तु को स्वीकार कर उसे प्राणवान और जीवन्त बना सकती है।

गीतिकाव्य की उत्पत्ति का प्रश्न भी विचारणीय है। श्री एच० टी० पेक लिखते हैं कि गीतिकाव्य कविता का सर्वाधिक सहज प्रकार होने के कारण निश्चित

---

१. The lyric, a movement of fantacy by which the spirit strives to lift itself from limited to the universal. by H Lotze; Out lines of Aesthetics, translated by G. T. Ladd, page 99

रूप से सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ. अन्य दूसरे चेष्टाजन्य रूप निश्चित ही इसके बाद और इसी से उत्पन्न हुए।[1]

काव्य की अन्य विधाओं (फर्म) की तरह गीतिकाव्य चूंकि सचेत बुद्धि व्यापार से उत्पन्न वस्तु नहीं है, इसलिए आदिम मानव के अति पुरातन और आरम्भिक भावों के साथ ही गीतिकाव्य का जन्म हुआ। हालाँकि यह कहना कठिन है कि गीतिकाव्य के आविर्भाव का निश्चित काल क्या है, किन्तु इतना तो सहज अनुमेय है की संवेगों की तीव्रता और उद्वेलन की सामान्य परिस्थितियो मे भावाकुल अभिव्यक्ति ने स्वरों का रूप लिया—ऐसे शब्द और अर्थ तथा उनकी पुनरावृत्ति यही गीतिकाव्य के आदि स्रोत हैं : महादेवी जी लिखती हैं—'सभव है, जिस प्रकार प्रभात की सुनहली रश्मि छूकर चिड़िया आनन्द से चह-चहा उठती है, जिस प्रकार मेघ को घुमड़ता-घिरता देखकर मयूर नाच उठता है, उसी प्रकार मनुष्य ने भी पहले-पहल अपने भावों को प्रकाशन ध्वनि और गति द्वारा किया हो।' आदिमानव के उल्लास और शोक के क्षण प्रायः आंगिक गतियों द्वारा व्यक्त होते थे। शब्दों की शक्ति शोकाकुल भावों को व्यक्त करने मे सदा असमर्थ होती है, उसी प्रकार अति उल्लास के क्षण भी शब्द के माध्यम से पूर्णतया प्रकट नहीं हो पाते। ऐसी अवस्था में विकसित मानव तक शारीरिक प्रक्षेप की शरण लेता है। समाज-विकास की आदिम अवस्था में इस तरह की बहुत-सी स्थितियों का संकेत मिलता है जिनमें शोक-हर्ष की अभिव्यक्ति के लिए तरह-तरह की आंगिक गतियों (Primitive art of movement) का उपयोग होता था। कविता के प्रारंभिक रूप के अध्ययन के बाद स्पेंसर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आदिम कलाओं, धार्मिक उत्सवों, अनुकरण-प्रधान (mimetic) क्रियाओं, समूह वाद्य और नृत्य के साथ कविता के मूल तत्वों का तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।[2] बहुत से मनोविज्ञानवेत्ता पंडितों ने गीति के उदय की मनोवैज्ञानिक अवस्था का भी अध्ययन किया। ज्यादा तीव्र संवेगों की अवस्था मे हम प्रायः निरर्थक या अर्धसार्थक पदों को बार-बार बड़बड़ाते हैं। प्रायः यही अवस्था किसी न किसी रूप में गीतों के टेक के भीतर भी छिपी हुई है। गीतों के टेक अपनी अर्थहीनता और एकरसता के बावजूद बार-बार दुहराये जाने पर चित्त को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार गीतिकाव्य अपने आदिम या अविकसित रूप में इन अभिव्यक्ति की अवस्थाओं से जुड़ा हुआ मालूम होता है।

गीतों के विकास की पूरी अवस्था हमें जीविकोपार्जन के लिए स्वेदश्लथ श्रमजीवियों के समूहगानों में दिखाई पड़ती है। प्रारम्भिक आदिम समाज में मनुष्य अपने जीविकोपार्जन के निमित्त समूहबद्ध होकर प्रयत्न करता था, आज भी निचले स्तर के श्रमजीवियों में यह प्रथा देखी जा सकती है। वैसी अवस्था में

१. The Lyrics of Tennyson.
२. Spencer, First Principles, p. 105-108,

काम के भार से थककर लोग उस नीरसता को कम करने के लिए तथा निरन्तर वर्तमान एकधृष्टता (monotong) को मिटाने के लिए गीतों का सहारा लिया करते है। ये गीत तात्कालिक कर्त्तव्य से संबंधित नहीं होते। इन गीतों में हम जीवन के उन क्षणों की अनुभूतियों की विवृत्ति पाते है जिनमें मनुष्य महज धरातल पर खड़ा होकर अपने सुख-दुख को स्वीकार करता है। काडवेल ने कविता के उद्‌भव में इस प्रवृत्ति को सहायक बनाया है। यहाँ पर आलोचकों को ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकार के गीति, जिनमें केवल वैयक्तिक सुख-दुख की बात होती है, कर्म के प्रेरक बनकर आते है, थके-हारे लोगों को नवीन उत्साह देते हैं, शक्ति और साहस देते है, उन्हें पलायनगामी या निरुत्साही नहीं बनाते। इसलिए गीतिकाव्य की आत्मपरक प्रवृत्ति को युग-विरोधी कहना कोई मूल्य नहीं रखता। महादेवी जी ने ठीक ही लिखा है कि "चिड़ियों से खेत की रक्षा करने के लिये मचान पर बैठा हुआ युवक कृषक जब अचानक खेत और चिड़ियों को भूलकर बिरहा या चैती गा उठता है, तब उसमें खेत-खलिहान की कथा न कहकर अपनी किसी विरह-मिलन की स्मृति को ही दुहराता है। चक्की के कठिन पाषाण को अपनी साँसो से कोमल बनाने का निष्फल प्रयत्न करती हुई दरिद्र स्त्री, जब इस प्रयास को रागमय करती है, तो उसमें चक्की और अन्न की बात न होकर किसी आम्र-वन में पड़े झूले की मार्मिक कहानी रहती है।"[1] इस स्थान पर पुनः एक बार यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि गीतिकाव्य वर्तमान संघर्षमय युग में भावुकता नहीं सिखाएगा, बल्कि कार्यरत और थके हुए लोगों में नया उत्साह पैदा करेगा।

गीतिकाव्य के लिए उपयुक्त-अनुपयुक्त समाज की बात उठायी जाती है, प्रश्न विचारणीय है। क्योंकि विश्व के सभी देशों में गीतिकाव्य लिखे जाते है और लिखे गये हैं। उनका अध्ययन हुआ है और उनकी पृष्ठभूमि के रूप मे उन सामाजिक परिस्थितियों की जाँच भी की गई है, जो किसी-न-किसी रूप मे इसके विकास या ह्रास का कारण बनी हैं। पंडितों का विचार है कि सामाजिक रूढ़ियों, बौद्धिकता और विवेकपरस्ती का युग गीतिकाव्य के लिये बहुत उपयुक्त नहीं होता। इसके विपरीत संघर्ष, रूढ़ि-विरोधिता, क्रान्ति और विघटन के युग में गीतिकाव्य की अत्यन्त उन्नति होती है। डॉ० गेले इस तथ्य का समर्थन करते हुए कहते हैं कि प्रायः यह माना जाता है कि सभ्य देशों में बौद्धिकता और सामाजिक रूढ़ियों का युग, जैसा कि १८वीं शती का था, गीतिकाव्य में प्रबल अभिरुचि उत्पन्न करने के उपयुक्त नहीं होता। प्रायः उस काल में जब सम्पूर्ण

---

१. आधुनिक कवि, भूमिका पृ० २०।

२. It has been frequently remarked that among civilized people an age of intellectualism and strong social convention, as was the eighteenth century, is unfavorable to the growth of strong lyric syntiment Method and Materials of Literary Criticism P 40

देश में शान्ति हो, एकछत्र साम्राज्यों का संघटन हो रहा हो, किसी बहुत बड़े व्यक्ति की सत्ता को सारा बुद्धिवादी वर्ग स्वीकार कर लेता हो, तब गीतिकाव्य का ह्रास होता है। उस युग में अधिकांशतः महाकाव्यों की रचना होती है। उनके माध्यम से युग की वर्तमान परिस्थितियों का चित्रण किया जाता है। हीगेल ने लिखा कि महाकाव्य में किसी राष्ट्र का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है, किन्तु गीतियों के बृहद् संग्रह में राष्ट्र के आन्तरिक और असली स्वरूप का दर्शन कर सकते हैं।[1] हीगेल के इस कथन में व्यक्ति के जीवन को प्रधानता दी गयी है। व्यक्ति समाज की अन्तिम इकाई है, उसके जीवन की झलक महाकाव्यों मे उस अनुपात में नहीं मिल सकती, क्योंकि महाकाव्य प्रायः अतिमानवीय या महत्तम मानव के जीवन को ही अपना लक्ष्य मानते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि गीति-काव्य के लिए वह युग अनुपयुक्त होगा, जिसमें मनुष्य की वैयक्तिक सत्ता को स्वीकार न किया जाय।

भारतीय गीतिकाव्य का आरम्भ वैदिक युग से मान सकते हैं। जैसे कहा गया कि गीतिकाव्य की सत्ता मनुष्य की आदिम अनुभूतियों के साथ जुड़ी हुई है, इसलिए गीतिकाव्य अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित प्रकार है, किन्तु किसी प्रमाण के अभाव में हम भारतीय गीतिकाव्य का जन्म वैदिक काल के पूर्व नहीं सोच पाते। वैदिक गीतियों में गीतिकाव्य का अत्यन्त ताजा, मौलिक और सहज स्वर सुनाई पड़ता है। प्रकृति के भयानक और आश्चर्यजनक रूपों को देखकर आदिम मन की जिज्ञासाएँ, भय और विस्मय की स्थितियाँ, त्राण की कामना, स्तुति और श्रद्धा की भावनाएँ इन प्रारम्भिक गीतों में दिखाई पड़ती हैं। संघर्ष-रत जीवन के समूहगीत, वीरतापूर्ण गाथाएँ, एक कबीले से दूसरे कबीले के युद्ध के समय इष्टदेव से सहायता के लिए विनयपूर्ण याचनाएँ इन गीतों में व्यक्त हुई हैं। ई० डब्ल्यू० हापकिन्स प्राचीन भारतीय गीतिकाव्य को चार भागों मे बाँटते हैं। पहला युग वैदिक गीतियों का है, जो ईसापूर्व आठवीं शती से चौथी तक फैला हुआ है। इसमें धार्मिक और वीरगाथात्मक गीतियों को प्रधानता है। दूसरा युग ईसा पूर्व ४०० से पहली शती तक का है, जिसमें भक्ति-भाव प्रधान है। तीसरा काल सहज प्रेमगीतों का है। चौथे में प्रमगीत तो हैं, किन्तु वे आध्यात्मिक और रहस्य के साथ वासना के रंगों से मिले-जुले होने के कारण अत्यन्त गहन और उलझे दिखाई पड़ते हैं।[2]

प्राचीन भारतीय गीतिकाव्यों मे ज्यादातर धार्मिक और भक्तिपरक स्तुतियाँ ही प्राप्त होती हैं। वैदिक ऋचाएँ गायी जाती थी। सामदेव इन स्तुतियों और

---

१. वही पुस्तक, डॉ० गैले द्वारा उद्धृत, पृष्ठ ४०।

२. Hopkins, The Early Lyric Poetry of India, in the India New and old.

सूक्तों के गाने का विधान प्रस्तुत करता है। इस प्रकार गेयता की मुख्य प्रवृत्ति इन गीतियों में वर्तमान है। वैदिक युग का भारतीय समाज बहुत-कुछ आदिम स्तर का कबीला समाज था। उसमें समूह-श्रम की प्रथा थी। मनुष्य सामाजिक रूढ़ियों में आज की भाँति आबद्ध न था। उसके आहार-विहार स्वच्छन्द और उन्मुक्त थे। इन सबका प्रभाव इन गीतों पर दिखाई पड़ता है। बाद के स्तरों में सामाजिक असन्तुलन और उलझनों के कारण जीवन में जो एकरसता और संदेह की स्थिति बढ़ी, उसका प्रभाव पौराणिक देवों की स्तुतियों तथा रहस्यवादी अशरीरी उपासना के गीतों पर दिखाई पड़ता है। बाद के युग में सामन्तवादी व्यवस्था के कारण एक लम्बे अर्से तक गीतिकाव्य का विकास न हो सका। आश्चर्य तो होता है यह देखकर कि संस्कृत के इतने विशाल साहित्य में दसवीं शती के पहले कोई बहुत अच्छी श्रेणी का गीतिकाव्य नहीं लिखा जा सका। संस्कृत गीतिकाव्य का पुनर्विकास जयदेव के 'गीतिगोविन्द' में दिखाई पड़ा। मध्यकालीन युग में संस्कृत जनभाषा नहीं रही। प्राकृतों का प्रभाव चौथी शताब्दी से ही बढ़ने लगा था। संस्कृत कवि प्राकृतों को स्वीकार तो करते थे, किन्तु इनका उपयोग ग्रामीण और असभ्य लोगों के वार्तालाप की भाषा के रूप में ही करते थे। इस तरह जनभाषा के प्रति उनके मन में तिरस्कार की भावना वर्तमान थी। संस्कृत राजकीय व्यक्तियों और अधिकार-प्राप्त (Privileged People) शिष्टजनों की भाषा रह गयी, उसमें अभिजात साहित्य की सृष्टि हो रही थी, वह जनसाहित्य से बहुत-कुछ विमुख बनी रही। फलतः जनता में उगनेवाले गीतों के स्वर उनके लिए तूती की आवाज बने रहे। जिस समय संस्कृत-काव्य जनधारा से विच्छिन्न होकर चमत्कार और कुतूहल की सृष्टि को ही कवि-धर्म की इयत्ता मान रहा था, समस्यापूर्ति और चमत्कारोत्पादन को ही कवि-कौशल की सीमा माना जा रहा था, तब लोक-भाषा में एक नवीन प्रकार के साहित्य की सृष्टि हो रही थी, जो जनजीवन के रस से सिक्त थी, जिसमें धरती की गन्ध और उन्मुक्त पवन की सुरभि रची हुई थी। इस साहित्य को जिसने पहचाना, समझा और सराहा, वह बिना रँगे न रह सका, और जिसने इसके तत्त्व को स्वीकार किया, उसके संस्कृत में लिखे काव्य में भी जीवन की सरसता दिखाई पड़ी। ऐसे कवियों में जयदेव प्रमुख हैं। उन्होंने पूर्वी प्रदेश में प्रचलित प्रेमगीतों को सुना था, सराहा था। उनके गीतों में इसलिए धरती की सोंधी गन्ध और प्रेम का उन्मुक्त विलास दिखाई पड़ता है। कुछ लोगों का खयाल है कि इस तरह के गीत पूर्वी प्रदेशों में ही प्रचलित थे। क्योंकि बौद्धों के गान, चण्डीदास के पद और विद्यापति के गीत इसी क्षेत्र की उपज हैं। किन्तु जल, पवन, धरती जैसे किसी एक प्रदेश की वस्तु नहीं, फसलें सर्वत्र होती हैं, आकाश में इन्द्रधनुष और जल पर लहरें सर्वत्र बनती-बिगड़ती हैं, वैसे ही जनता के भाव में गीतियों का जन्मविकास सभी जगह समान रूप से होता है, उसमें जातिभेद सम्भव है, प्रकार भे-

हो सकता है, किन्तु अभाव कहा संभव नहीं। ग्यारहवीं शती के क्षेमेन्द्र कवि ने भी इसी प्रकार का गीतिकाव्य लिखा था। अपने दशावतार वर्णन में कवि ने लिखा है कि जब गोविन्द मथुरापुरी को चले गये, तो वियोग-क्षित-हृदया गोपियाँ गोदावरी के किनारे गोविन्द का गुणगान करने लगीं। गोपियों ने जो गान गाया, उसे कवि ने मात्रिक छन्दों में लिखा है। अनुमान किया जा सकता है कि क्षेमेन्द्र ने इस तरह के गान अपने आस-पास सुने होंगे—[1]

> ललित विलासकलासुख खेलन
> ललनालोभनशोभनयौवन
> मानितनवमदन
> अलिकुल कोकिलकुबलयकज्जल
> कालकलिन्दसुताविगलज्जल
> कालियकुलदमने

पद्य और बड़ा है। इसकी भाषा और शैली की समानता जयदेव के गीतगोविन्द मे ढूँढ़ी जा सकती है।

हिन्दी के सर्वप्रथम गीतिकाव्य-लेखक विद्यापति है। विद्यापति मध्ययुगीन दरबारी कवियों की परम्परा में होते हुए भी जन-जीवन के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक थे। उन्होंने संस्कृत में कविताएँ की जरूर, किन्तु उनकी श्रद्धा का अधिकांश 'देसिलवयन' के लिए सुरक्षित था। विद्यापति के मधुर 'गीतों' का प्रभाव सारे पूर्वी प्रदेश पर पड़ा। बंगाल के कवियों ने, चण्डीदास तक ने इन गीतों को आदर्श के रूप में ग्रहण किया और उनकी भाषा तक को स्वीकार किया। भक्तिकाल में गीतों के साथ प्रबंध लिखने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। लेकिन प्रबन्ध लिखने में मुसलमान कवि आगे थे। इसका मूल कारण था कि वे मुगल साम्राज्य के संरक्षित कवि थे, मुसलमानी राज्य के वे विरोधी न थे। तुलसी का काव्य अवश्य ही विरोधी समाज के प्रतिनिधि लेखक की कृति है; किन्तु तुलसी सचेष्ट रूप से एक ओर मध्ययुगीन क्लैसिक महाकवियों की परम्परा में अपने को रखना चाहते थे, तो दूसरी ओर वे मर्यादा और सामाजिक रूढ़ियों के विरोधी कवि न थे, जो एक गीतिकार को होना चाहिए। इस युग में गीतिकाव्य प्रायः कृष्ण-भक्त कवियों ने लिखे, प्रेम और भक्ति की मूलधारा इसमें सुरक्षित है। कृष्ण-भक्त कवि तुलसी की तरह न तो मर्यादावादी थे और न पुरानी रूढ़ियों के समर्थक। इसलिए उनके काव्य में गीतों की प्रवृत्ति को काफी प्रोत्साहन मिला।

किन्तु मध्ययुग के इस भक्ति-रीति साहित्य में गीतिकाव्य की शुद्ध प्रकृति का स्पष्ट आभास नहीं मिलता। प्रगीत मुक्तकों का जो विशाल साहित्य लिखा

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल।

गया है, उसमें गेयता है, व्यक्तिपरकता भी कुछ अंशों में मिलेगी, किन्तु इसमें गीतात्मक पूर्णता का रूप नहीं मिलता। परवर्ती कवि दरबारी थे, जन-जीवन से दूर, इसलिए इनके काव्य में एकविधिता (Stereotype) मिलेगी। वास्तविक गीतिकाव्य का उदय छायावादी युग में हुआ, जो सामाजिक रूढ़ि और सामन्तवादी व्यवस्था का विरोधी युग था। इस युग के काव्य में व्यक्तिवादी स्वर की अत्यन्त प्रधानता है। कवि को, उसके इस अतिवादी रूप को देखकर लोगों ने कभी-कभी पलायनवादी तक कहा, किन्तु छायावादी पलायन-प्रवृत्ति के भीतर देखने पर व्यक्तिवादी अहम् तथा असंतोष की जो शक्ति दिखाई पड़ती है, वह अनन्य है।

गीतिकाव्य के विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह कोई वस्तु नहीं है जो पलायन, भावुकता और बुद्धि-विरोधिता को प्रश्रय देती है। यूरोपीय आलोचकों ने तो यह भी स्वीकार किया है कि विचारात्मक वस्तु भी इस काव्य-माध्यम से व्यक्त की जा सकती है। उन्होंने वीरगाथात्मक और आध्यात्मिक अनुभूतियों को भी इस काव्य का परिगृहीत वस्तुतत्त्व माना है। ऐसी अवस्था में यह कहना कि वर्तमान युग में यह माध्यम अनुपयुक्त हो गया है, कोई खास अर्थ नहीं रखता। इस गीति-प्रवृत्ति को स्वीकार करके, आवश्यकतानुसार परिवर्तन और परिष्कार करके, नये संदर्भ में भी इसका उपयोग किया जा सकता है। एक ओर जहाँ रूप इसके प्रयोग द्वारा कविता को निरा गद्यकाव्य होने से बचा लेंगे, वहीं दूसरी ओर काव्य के तथ्य को ज्यादा-व्यापक समाज तक पहुँचाने में सक्षम होंगे। मध्ययुग के बहुत-से विचारकों—कबीर आदि ने, सिद्धों और संतों—ने इस तरह के प्रयोग किये थे। खतरा यह अवश्य है कि हम गीतिकाव्य को प्रश्रय देने के जोश में व्यक्ति-केन्द्रित होकर समाजविरोधी या उपेक्षात्मक ढंग से आत्मरति ही में गर्क न हो जाएँ।

१६ | विद्यापति के गीत

गीति-काव्य के उपर्युक्त विवेचन और उससे उपलब्ध तत्वों को दृष्टि मे रखकर विद्यापति के गीतों का विश्लेषण करने पर उसकी बहुत-सी विशेषताओं और त्रुटियों का पता चलता है। विद्यापति के गीतों की सबसे बड़ी विशेषता है सगीतात्मकता। संगीत गीतों मे दो प्रकार से संलक्ष्य हो सकता है। एक तो यह है कि वे गीत विभिन्न वाद्यों के साथ किसी प्रणाली मे गाये जा सकते हों, दूसरा यह कि संगीत की मूलभूत विशेषता यानी लय और उसकी आत्मा की गीतों में अवस्थिति। स्पष्टतः यों कहा जा सकता है कि बहुत से गीत शास्त्रीय सगीत में गाये जाकर या कवि द्वारा निश्चित राग-रागिनी में आवद्ध होकर संगीत का विषय बनते हैं। किन्तु बहुत से गीत ऐसे हैं, जिन्हें असंगीतज्ञ मनुष्य भी अपने मन में दुहराकर उनकी लयमयता से, उनके भीतर निहित संगीतात्मक तत्त्व से आनन्द प्राप्त करता है। विद्यापति स्वयं एक बहुत बड़े संगीतज्ञ थे, मैं गायक नहीं कहता, क्योंकि इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता, वैसे अपने बहुत से पदों के अन्त में वे सर्वत्र 'विद्यापति कवि गाओल' ही लिखते हैं। गीत की जानकारी का पता दो प्रकार से चलता है. एक तो कवि ने अपने गीतों के लिये राग-रागिनियों का निर्णय कर दिया है—डॉ० सुभग झा द्वारा सम्पादित विद्या-पति-गीत-संग्रह मे जितने भी पद दिये हुए हैं, वे सभी राग-बद्ध हैं। इस संग्रह के आरम्भिक ५६ गीत मालव राग में, ५७ से १३० तक के गीत धनछरी राग मे, १३१ से १३५ तक आसावरी राग में, १३६ से १४६ तक मालारी राग मे १४वाँ सामरी राग में, १४८ से १५४ तक अहिरानी राग मे, १५५ से १५७ तक केदार राग में, १५८ से १६२ तक कानड़ा राग में, १६३ से १६४ तक कोलर राग में, १६६ से २०२ तक सारंगी राग में, २०३ से २०७ तक गुंजरी राग में, तथा आगे भी कई पद बसन्त विभास, नाटराग, ललित, बराली आदि रागों में दिये हुए हैं। ये राग कवि द्वारा निर्धारित हो सकते हैं, किसी दूसरे संगीतज्ञ द्वारा भी ये रागबद्ध किये गए, ऐसा भी हो सकता है। वैसे विद्यापति के कुछ गीतों में शब्दों के साथ कहीं-कहीं लेखक ने वाद्य स्वरों को भी दे दिया है, जैसे ये गीत गाये जाने के लिए ही लिखे गए थे। यथा—

> बाजत द्रिगि द्रिगि धौद्रिम द्रिमिया
> नटति कलावति माति स्याम सँग
> कर करताल प्रबंधक ध्वनिया।२।

डम डम डंफ डिमिक डिम मादल
रुन झुन मंजीर बोल।
किंकिन रन रनि वलआ कनकनि
निधुवन रास तुमुल उतरोल।४।
बीन रबाब मुरज स्वर मण्डल
सा, रि, ग म प ध नि सा बहु निधि भाव
घटिता घटिता धुनि मृदंग गरजनि
चंचल स्वर मंडल करु राव।६।
स्नम भर गलित लुलित कबरीयुत
मालति माल बिथारल मोति
समय वसंत रास रस वर्णन
विद्यापति मति छोभित होति।८।

ऐसे पदों को देखने से विद्यापति न केवल संगीत-प्रेमी, बल्कि संगीतज्ञ प्रतीत होते हैं; संगीतज्ञ कवियों बैजू बावरा और गोपाल नायक का जिक्र हमने भक्ति-काल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के पर्यवेक्षण के सिलसिले में पीछे किया है। इन कवियों की कविताओं में भी शब्दों के बीच में ताल और स्वर के संकेत दिये हुए हैं। बैजू गोपाल आदि न केवल संगीतज्ञ थे, बल्कि उच्चकोटि के भक्तिपूर्ण पदों के रचयिता भी। मध्यकालीन कवि के लिए संगीतज्ञ होना तब आवश्यक भी था, इसलिए भक्तिकाल के हिन्दी कवियों ने भी अपनी कविताओं के राग-आदि निश्चित कर दिये हैं।

लेकिन बहुत से गीत ऐसे हैं, जो संगीत के तत्त्वों से स्पष्टतया बाधित न होकर अपनी आत्मा की संगीतमयता के कारण हमें प्रभावित करते हैं। ऐसे गीत मन में निहित व्यक्तव्य भाव के अनुकूल ही लय का निश्चित रूप लेकर अवतरित हुए हैं। इन गीतों में जैसे मानव-मन में परम्परा, संस्कार और सुख-दुख के हजारों क्षणों में प्राप्त अनुभूतियों की लहर की कम्पन है, ये गीत मानव-मन में अभिलषित भाव के साथ इतना शीघ्र तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं कि जैसे ये हमारे मन की ही उपज हों, इसी कारण इस प्रकार के गीत संगीत की बाह्य परिपाटी से अनुचालित न होकर मनुष्य के मन में अवस्थित शाश्वत संगीत से प्रेरित होते हैं। इन पदों में शब्द और अर्थ की गुरुता नहीं होती, इनके शब्द अत्यन्त सहज और बहुप्रचलित शब्द सांकेतिक ढंग से भाव की अभिव्यक्ति कर देते हैं, ऐसे शब्द जो सैकड़ों वर्षों से जन-मानस में उसी अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त होते आ रहे हैं—इसी कारण ऐसे पदों में भाव की अभिव्यक्ति शब्द से नहीं, लय की आत्मा के आधार पर होती है। जैसे—

कुंज भवन सँय निकसलि रे
रोकल गिरधारी
एकहिं नगर बस माधव रे
जनि कर बाटमारी
छाड़ कन्हैया मोर आँचर रे
फाटते नव सारी
अपजस होएत जगत भरि रे
जनि करिअ उधारी
सँग क सखी अगुआइल रे
हम एकसरि नारी
दामिनी आए तुलाइल रे
एक राति अँधियारी

शब्द निर्व्याज सहज हैं, अलंकरण का कहीं नाम नहीं, पूरे पद में एक खास प्रकार का उल्लास भरा आग्रह, लय की बार-बार टूटती, उठती मनुहार और इन सबके ऊपर जैसे सहज शब्दों के प्रयोग, जो इस गीत को प्राणवान बनाते है। एक बात और ध्यान देने की है। कवि ने बड़ी योग्यता से ऐसे गीतों में भाव की एकसूत्रता की भी रक्षा की है। वैसे उस गीत की सहजता के भीतर अर्थ की कमी नही है, संकेत प्रचुर हैं—सब कुछ ऊपर से कहा जा रहा हैं, सखी का निर्जन में होना, बिजली की भयकारी स्थिति, जिसे उन्होंने बिजली का तुलाइत, तुलित होना कहा है तथा रात को अँधियारी। गोपी के प्रेमोच्छ्वास के संकेत हैं, आवर्जन के नहीं।

ऐसे गीतों में इतनी सहजता क्यों है? आधुनिक कवियों की कविताओं मे खास तौर से गीतों में लोकगीतो की धुन, शब्दावली और सहजता को ग्रहण करने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। ऐसे गीतों की प्रशंसा भी इधर खूब हुई है और छायावादी गीतकार भी प्रयोगवादी बनने के लोभ से इसी आसान ट्रिक को अपनाने लगे हैं; पर इसमें सबसे बड़ी गड़बड़ी यह दिखाई पड़ती है कि इन गीतों मे भाव की सहजता नहीं आती, केवल लोक-धुन पकड़ लेने से मध्यवर्गीय जीवन के कुंठाग्रस्त भावों में सहजता लाना असम्भव है। इसके लिए भावों की ईमानदारी और अनुभूतियों की एकाग्रता अपेक्षित है। विद्यापति के गीतों में लोकगीतो की केवल धुन ही नहीं, उनकी सहजता और गम्भीरतम अनुभूतियों की व्यंजना हुई है, इसी कारण ये गीत बहुत अधिक संवेद्य हो पाये हैं। विद्यापति जैसे दरबारी कवि के लिए लोकगीतों की ओर आकृष्ट होना ही बड़ी बात थी, उन्होंने इस आकर्षण को फैशन के लिए ग्रहण नहीं किया, जैसा कि आजकल बहुत से कवि किया करते हैं। इतना ही नहीं, विद्यापति के कई गीत इतने अधिक लोकतत्त्वग्राही हैं कि वे बिल्कुल लोकगीत मालूम पड़ते हैं। जैसे—

मोरे रे अँगनवा चनन केरि गछिया
ताहि चढ़ कुररय काग रे
सोने चोंच बाँधि देब तोयँ वायस
जयों पिया आवत आज रे
गावह सखि सब झूमर लोरी
मदन अराधन जाउँ रे
चओ दिसि चम्पा मओली फूलल
चान इजोरिया रात रे
कइस कय मोयँ मयन अराधब
होइलि बड़ि रति सात रे
विद्यापति कवि गाएब तोहर
पहु अछ गुनक निधान रे
राओ भोगीसर सब गुन आगर
पदमा देइ रमान रे

प्रोषितपतिका का काक-शकुन-सम्भाषण हमारे लोकगीतों का एक बहुप्रचलित विधान है। अपभ्रंश की लोक-जीवन-संपृक्त रचनाओं में भी 'वायस उड्डावन्तिए' में नायिका का यह प्रेम-विह्वल भाव दिखाई पड़ता है। एक दूसरी कविता की कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं। इससे भी लोकगीतों की अनलंकृत सुन्दरता और भावों की सहजता दिखाई पड़ती है।

सुतलि छलहुँ हम घरवा रे
गरवा मोतिहार
राति जखनि भिनुसरवा रे
पिया आएल हमार
कर कौसल कर कपँइत रे
हरवा उर टार
कर पंकज उर थपइत रे
मुख चन्द निहार
केहुनि अभागिल बैरनि रे
भागलि मोर निन्द
भल कए नहिं देखि पाओल रे
गुनमय गोविन्द

विरहिणी गोपी का यह स्वप्न और उस स्वप्न में भी प्रिय के स्पर्श के कल्पित सुख का असमय नींद टूट जाने के कारण तिरोधान तथा इससे उत्पन्न एक निविड़ वेदना

का कितना सहज और स्वाभाविक चित्रण हुआ है। विरहिणी अपने प्रिय के प्रत्येक स्पर्श का वर्णन कितनी ईमानदारी और निश्छल भाव के साथ करती है।

विद्यापति के गीतों पर जयदेव का प्रभाव भी कम नहीं पड़ा। अभिनव जयदेव की उपाधि इसी विशेषता को दृष्टि में रखकर दी गई थी। जयदेव का प्रभाव न केवल प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं के चित्रण और आंगिक मिलन के विविध प्रसंगों में दिखाई पड़ता है, बल्कि गीतों की भाषा, शब्द-चयन तथा धुन और लय भी स्पष्ट उभरता दिखाई पड़ता है। जयदेव के गीतों का प्रभाव दुर्निवार था भी। पिछले खेवे के बहुत से कवियों ने इस शैली का अनुसरण किया। विद्यापति के और जयदेव के गीतों में प्रायः सदृश शब्दों या पदावलियों का व्यवहार हुआ है; हम पीछे स्थान-स्थान पर इस ओर संकेत कर चुके हैं।

विद्यापति सम्भवतः अपने काल के इस तरह के अद्वितीय कवि थे, उन्होंने गीत को उसकी स्वाभाविक प्रकृति को पहचानकर एक अभिनव पूर्णता और उत्कर्षकता प्रदान की। सूर और मीरा भी संगीतात्मकता को अपने गीतों में सजोते हैं, पर विद्यापति की सहजता इनमें नहीं है। कारण विद्यापति की अद्भुत लोक-जीवन संपृक्तता है, जो उन्हें अपने युग के अन्य गीतकारों से अलग करती है। विद्यापति अच्छे संगीतज्ञ प्रतीत होते हैं, पर उन पर ग्वालियर घराने के प्राचीन संगीत का प्रभाव नहीं है, जैसा सूर और मीरा दोनों पर जाने-अनजाने पड़ा है। इसी कारण विद्यापति में लय और तर्ज की मौलिकता तो है ही, एक अछूती भाव संवेदना को व्यक्त करने में समर्थ ग्राम्यता--या नैसर्गिकता भी दिखाई पड़ती है। इसी कारण विद्यापति के गीत एक व्यापक जन-समाज के गले के कंठहार बन सके। इन गीतों में इतनी आत्मीयता और निकटता भरी है कि अपढ़, गँवार व्यक्ति भी इनका पूरा प्रभाव ग्रहण कर लेता है। यह एक अद्भुत कौशल है, क्योंकि विद्यापति जैसा बहुपठ और शास्त्रीय ढंग के अनेक ग्रन्थों के रचयिता बहुत प्रयत्न से ही लोक-जीवन की अभिव्यक्ति-सहजता को कायम रख सकता था।

१७ | पदावली की भाषा

विद्यापति का जन्म ऐसे समय हुआ, जिसे हम नव्य भारतीय आर्य भाषा का आरंभिक संक्रमण काल कह सकते हैं। उस समय मध्यकालीन आर्य भाषा को अंतिम कड़ी अपभ्रंश भाषा भी जनभाषा के स्थान से हट चुकी थी। मुसलमानी आक्रमण के कारण यद्यपि नव्य भारतीय भाषाओं के विकास में त्वरा आ गई, फिर भी चौदहवीं शताब्दी तक वे इस योग्य नहीं हो पाई थीं, कि उनमें उच्च कोटि की काव्यानुभूतियाँ अभिव्यक्त की जा सकें। यह सही है कि बहुत से कवि उस समय भी अपभ्रंश भाषा में काव्य लिखते थे, किन्तु जन-संपर्क से वंचित हो जाने के कारण इस भाषा में लिखे काव्य लोकप्रिय नहीं हो सकते थे। विद्यापति ने इस स्थिति को भलीभाँति समझा था और उन्होंने अपनी कीर्तिलता में बड़े साफ़ ढंग से इसका विश्लेषण भी किया। उन्होंने लिखा है :—

सक्कय वाणी बुहअन भावइ
पाउँअ रस को मम्म न पावइ
देसिल बअना सब जन मिट्ठा।
तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा॥

—कीर्तिलता १।१९—२२

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति की दृष्टि से संस्कृत केवल विद्वानों की भाषा बनकर रह गई थी। प्राकृत काव्य नीरस लगता था। अपभ्रंश प्रचलित अवश्य थी, किन्तु देशी भाषा की तुलना में मीठी नहीं लगती थी। इसीलिए विद्यापति ने कीर्तिलता में अपभ्रंश को देशी भाषा के समन्वय से मधुर बनाकर अपने काव्य का माध्यम बनाया। इसे ही उन्होंने अवहट्ठ नाम दिया। अवहट्ठ वस्तुतः शौरसेनी अपभ्रंश और ब्रजभाषा के बीच की कड़ी थी।[1]

यह अवहट्ठ भाषा सम्पूर्ण उत्तर भाषा की कृत्रिम साहित्यिक भाषा थी, जिसका प्रयोग दरबारी चारण पूर्व से पश्चिम तक सर्वत्र समान रूप से करते थे। इसी का परवर्ती रूप पूर्वी क्षेत्र में स्थानीय बोलियों के सम्मिश्रण में एक व्यापक सरस भाषा के रूप में उदित हुआ, जिसमें निश्चय ही प्राचीन मैथिली और ब्रजभाषा से तत्त्व प्रचुर मात्रा में मिश्रित थे। यही भाषा बाद में पूर्वीय क्षेत्र के

---

१. विस्तार के लिए देखिए, लेखक की पुस्तक 'कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा'।

कृष्ण-भक्त कवियों की मुख्य सांस्कृतिक भाषा बन गई और इसे हिन्दी कृष्ण-काव्य की एकमात्र माध्यम-भाषा ब्रज के साथ संबंधित करके 'ब्रजबुलि' नाम दिया गया। इस तथ्य को ठीक से न समझ सकने के कारण ही विद्यापति की पदावली को हिन्दी, मैथिली या बंगला में लिखे जाने का व्यर्थ विवाद खड़ा हुआ। आरम्भ में बंगीय विद्वानों ने पदावली की भाषा को बँगला सिद्ध करने का घोर प्रयत्न किया।[1]

हिन्दी के विद्वान् भी कम दुराग्रही नहीं रहे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पदावली की भाषा पर विचार करते हुए लिखा :—"विद्यापति को बंग भाषा वाले अपनी ओर खींचते हैं। सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी बिहारी और मैथिली को 'मागधी' से निकली होने के कारण हिन्दी से अलग माना है। पर केवल भाषा शास्त्र की दृष्टि से कुछ प्रत्ययों के आधार पर ही साहित्य-सामग्री का विभाग नहीं किया जा सकता। कोई भाषा कितनी दूर तक समझी जाती है, इसका विचार भी तो आवश्यक होता है। किसी भाषा का समझा जाना अधिकतर उसकी शब्दावली (Vocabulary) पर अवलंबित होता है। यदि ऐसा न होता तो उर्दू और हिन्दी का एक ही साहित्य माना जाता।

"खड़ीबोली, बाँगड़ू, ब्रज, राजस्थानी, कन्नौजी, बैसवारी, अवधी इत्यादि में रूपों और प्रत्ययों का परस्पर इतना भेद होते हुए भी सब हिन्दी के अन्तर्गत मानी जाती हैं। इनके बोलने वाले एक दूसरे की बोली समझते हैं। बनारस, गाजीपुर, गोरखपुर, बलिया आदि जिलों में, 'आयल-आइल', 'गयल-गइल', 'हमरा-तोहरा' आदि बोले जाने पर भी वहाँ की भाषा हिन्दी के सिवाय दूसरी नहीं कही जाती। कारण है शब्दावली की एकता। अतः जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य 'बीसलदेव रासो' पर अपना अधिकार रखता है, उसी प्रकार विद्यापति की पदावली पर भी।"[2]

शुक्ल जी का उपर्युक्त मत स्पष्ट ही अभाषाशास्त्रीय लगता है। केवल शब्दावली की समता को ही भाषाओं की एकता का आधार माना जाये तब तो भारत मे, जहाँ प्रायः तमिल को छोड़कर अधिकांश नव्य आर्य भाषाओं की शब्दावली, संस्कृत से ली जाने के कारण, समान है, सिर्फ एक भाषा ही प्रचलित है, ऐसा मानना अनिवार्य हो जायेगा। उर्दू हिन्दी के बहुत नजदीक है बावजूद शब्दावली के अन्तर के। क्योंकि भाषाओं की निकटता, उनके व्याकरणिक ढाँचे की निकटता पर अवलंबित होती है, मात्र शब्दावली की एकरूपता पर नहीं।

इन दोनों ही अतिवादी छोरों के आग्रह के कारण, जो मैथिली का पृथक् अस्तित्व अस्वीकार करना चाहते हैं, मिथिला के अनेक विद्वानों ने पदावली और कीर्तिलता की भाषा के विषय में यदि प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण अपनाया तो इसे

---

१ नगेन्द्रनाथ गुप्त द्वारा संपादित विद्यापति की पदावली का बंगीय संस्करण तथा खगेन्द्रनाथ मित्र द्वारा संपादित विद्यापति की पदावली।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५७, छठा संस्करण।

अनुचित नहीं कहा जा सकता। डॉ० उमेश मिश्र, डॉ० जयकान्त मिश्र, प० शिवनन्दन ठाकुर आदि ने कीर्तिलता की भाषा को मिथिलापभ्रंश और पदावली की भाषा को शुद्ध मैथिली सिद्ध करने का प्रयत्न किया। किन्तु इतना स्वीकार करते हुए भी विद्यापति मैथिली के गौरवास्पद कवि हैं, यह कहना भाषावैज्ञानिक दृष्टि से अनुचित नहीं होगा कि पदावली की मैथिली भाषा में शौरसेनी अपभ्रंश के विकसित तत्त्व और पुरानी ब्रजभाषा के अनेक तत्त्व घुल-मिल गए हैं। इस दृष्टि से डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का कथन सत्य प्रतीत होता है कि ब्रजबुलि इस बात का द्योतक है कि एक बनावटी भाषा भी दूसरे प्रान्त में काव्य भाषा के रूप मे किस प्रकार ग्रहण की जा सकती है और इसी से इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि किस प्रकार शौरसेनी अपभ्रंश या अवहट्ठ मध्यदेश के अलावा बंगाल आदि तक में छाया हुआ था।[1] अब तो डॉ० सुकुमार सेन भी अपने पूर्व मत को बदलने के लिए तैयार हो गए हैं। वे ब्रजबुलि को अब पूर्वीय भाषा मात्र ही नहीं मानते। अब वे पूर्वीय नव्य भारतीय आर्य भाषा के पुराने रूप में ब्रज तत्त्वों के सम्मिश्रण से ब्रजबुलि के निर्माण की बात करने लगे हैं।[2] दूसरी ओर डॉ० किशोरीलाल गुप्त जैसे हस्तलेखों के अनुसंधायक और पुराने सर्वेक्षणों के शोधक ब्रजबुलि का ब्रजभाषा से कोई संबंध ही नहीं मानते। उन्होंने 'उपलब्धि'[3] में प्रकाशित एक लेख में ब्रजबुलि को मैथिली प्रकारान्तर से विद्यापति के गीतो की भाषा कहा है। अच्छा हो डाक्टर गुप्त जैसे लोग भाषा के क्षेत्र में इस तरह की निराधार बातें कहने से विरत रहे। ब्रजबुलि को अधिक से अधिक ब्रजमिश्रित मैथिली कहा जा सकता है। मैं अपनी पुस्तक सूरपूर्व ब्रजभाषा में इस विषय पर बहुत विस्तार से लिख चुका हूं (देखिए सू०पू० ब्रजभाषा ८१ तथा २४६-२४८) एक ओर डॉ० चाटुर्ज्या, डा० सेन, डॉ० बरुआ जैसे लोग ब्रज का प्रभाव स्वीकार करने में हिचकते नहीं, वहीं डॉ० गुप्त जैसे भाषाशास्त्र से अनभिज्ञ व्यक्ति ब्रजबुलि में सर्वत्र 'ल' विभक्ति देखकर 'अइली-गइली' का उल्लेख करते है। पदावली की भाषा पर ब्रज का कितना प्रभाव है, इसे हम आगे चलकर देखेंगे।

पदावली की भाषा के अध्ययन में सबसे बड़ी कठिनाई किसी प्रामाणिक संशोधित संस्करण के अभाव की है। पदावली के अधिकांश संस्करण लिपिकारो की लेखन-विधि (Orthography) के कारण भ्रष्ट हो चुके हैं। अधिकांश पाण्डुलिपियाँ चूंकि नेपाल में मिलती हैं, इस कारण नेवारी लिपि का अनिवार्य प्रभाव दिखाई पड़ता है। बंगाक्षरों में लिखी हुई पाण्डुलिपियाँ न केवल शब्दों का

---

१. ऑरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट ऑव बेंगाली लैंग्वेज, पृष्ठ १०४।

२. सम्मेलन पत्रिका में हाल ही में प्रकाशित एक निबन्ध में उन्होंने ब्रजबुलि पर ब्रजभाषा का प्रभाव स्वीकार किया है।

३. उपलब्धि, अंक १, हिन्दी विभाग, विद्यापीठ, वाराणसी, अप्रैल १९६

गलत उच्चारण उपस्थित करती हैं, बल्कि अनेक स्थलों पर ढाँचे में बंगीय प्रभाव भी ले आती हैं। "सुनि" के स्थान पर "शुनि" का प्रयोग तो सामान्य बंगीय प्रभाव कहा जायगा। शुनल (पद ७८६), शाल (७०६), शुन, शुन (६४८, ६७२), शुनह (६८८) जैसे प्रयोग इसी बात के सूचक हैं। बहुत से पदों में वाक्य-विन्यास, क्रिया-पद तथा सर्वनामों में भी बंगीय प्रभाव लाने की कोशिश की गई है। सम्बन्ध की बंगला विभक्ति 'एर' या 'एरि' का कई जगह प्रयोग मिलता है, जैसे :—

परेरी (पद ४६२) परकी, नाँदेरि नन्दन (सांग्स ऑव विद्यापति में उद्धृत, पृ० १५१) मित्र और मजूमदार के संस्करण में भी एकाध प्रयोग मिलते हैं— सबारे (४८०) कदम्बरि तरुतरे (२५८)।

इन थोड़े से आपवादिक प्रयोगों के आधार पर यह कहना कि विद्यापति ने सम्बन्ध कारक में 'एर' विभक्ति का प्रयोग किया है, उचित नहीं लगता। यह सही है कि अपभ्रंश 'केरओ' कई रूपों में विकसित हुआ। केरि, कर, क, एरि, रा, री आदि। किन्तु पदावली में एरि, या राजस्थानी के रा री वाले प्रयोगों को ढूंढ़ना ही अवैज्ञानिक कहा जायगा। पदावली की मूल प्रवृत्ति 'क' की है, ब्रज-अवधी में प्रचलित केरि, या कर का प्रभाव भी देखा जा सकता है। क्योंकि केरि, कर वाले प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।

पदावली की भाषा पर ब्रज का प्रभाव

§ १. ब्रजभाषा की मूल प्रकृति ओकारान्त है। पदावली में अनेक ओकारान्त शब्द मिलते हैं। इनकी संख्या क्रियापदों में अपेक्षाकृत अधिक दिखाई पड़ती है : नीचे भूतकाल में ओकारान्त क्रिया के उदाहरण दिए जा रहे हैं :—

(१) तिमिर मिलओ ॥२६३॥
(२) उगओ सहस दस दारुण चन्द ॥५२८॥
(३) करओ कमल बन केलि भमरा ॥५२८॥
(४) पिबओ मधुर मधु मुखल भमर रे ॥४८१॥
(५) मनोरथ पूरेओ ॥८॥
(६) छठी जैठा मिलिओ ॥८॥
(७) पुन्न कलिओ ॥८॥
(८) एक दिन सकल जवन बल चलिओ ॥८॥
(९) मानव मन आनन्द भरओ ॥८॥
(१०) वै रस बिसरि गएओ ॥८॥
(११) दमलि भंजेओ ॥६॥
(१२) मूढ़िय गजेओ ॥६॥
(१३) समर वरसेओ ॥६॥

(१४) केतकि सन भरिओ ॥६॥
(१५) परताप गहिओ ॥६॥
(१६) काल दरसेओ ॥६॥
(१७) भूत बेताल बिछलिओ ॥६॥
(१८) सुकवि नव जयदेव भनियो ॥६॥
(१९) गुनक निधान गनियो ॥६॥
(२०) देहि अनुमनि जुझओ पंचवान ॥१२८॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये रूप ब्रजभाषा के भूतकालीन क्रिया-रूपों के पुराने अवशिष्ट हैं। ब्रज के मिल्यौ, कर्‌यौ, पिव्यौ, चल्यौ, भर्‌यौ, गयौ, भंज्यौ, गंज्यौ, दरस्यौ, भर्‌यौ, गह्यौ, बिछल्यौ, भन्यौ, गन्यौ, जुझ्यौ आदि रूप इन्हीं के विकसित रूपान्तर हैं। पूर्वी भाषाओं में भूतकाल में 'ल' विभक्ति लगती है।

§ २. उत्तम पुरुष एक वचन से सामान्य वर्तमान के रूप भी ब्रजभाषा से पूर्ण साम्य रखते हैं :—

(१) पिय विस लेखे रहओं निरयेघ ॥१७४॥
(२) एकसरि हमें धनि सुनओं जागि ॥१७४॥
(३) हेरओं चोदिस झखओं रोय ॥१७४॥
(४) करजोरि बिनमओं तरंगे ॥६१२॥
(५) भनइ विद्यापति समदओं तोही ॥६१२॥
(६) दूर दुगुन एहि मैं आयओं ॥२४३॥
(७) मवक्काने तुरुकलि अधओं ॥२४३॥
(८) सहओं जीव अपने ॥२४३॥
(९) बरह मासओं पाँखी ॥२४३॥
(१०) नन्देरि नन्दन मैं देखि आओं ॥२४३॥

यही नहीं, संज्ञा और विशेषण तथा कुछ सर्वनाम भी ओकारान्त प्रयुक्त हुए हैं। जैसे ककरो (१३३), कमन जओ (२२२), पवनजयो (८२), दखिनओ (२८८)। इन रूपों पर भी ब्रजभाषा का सादृश्य सूचक प्रभाव स्पष्ट ही परिलक्षित होता है। कुछ अत्यन्त ही विशिष्ट रूप, जो ब्रजभाषा की निजी विशेषताओं से मेल खाते हैं, पदावली की भाषा में प्रयुक्त हुए हैं।

§ ३. ब्रजभाषा सर्वनामों के साधित रूप जा, ता, का, वा प्रसिद्ध हैं। इनके संयोग से जाकौं वाकौं, ताकौं काकौं आदि रूप बनते हैं। ब्रजभाषा में जिस, तिस के लिए जा, ता आदि साधित रूपों से ही काम चला लिया जाता है। विद्यापति ने निम्नलिखित प्रयोग किये हैं—

१—जा लागि चाँदन विख तहँ मेल ॥५७३॥
२—जा लगि दखिन पवन मेल सायक ॥५७३॥
३—ता पर रतलि नारि ॥४॥
४—ता पति सबे असार ॥३४॥

इस प्रकार के विशिष्ट रूप न सिर्फ सूरदास, बल्कि उनके पहले के ब्रजभाषा कवियों में भी प्रयुक्त हुए हैं।[1] सूरदास ने भी इस तरह के प्रयोग किए हैं :—

१—जाकौं दीनानाथ निवाजे ॥१-३६॥
२—जाकौं नित सौं दरसन पाए ॥२५५८॥
३—जा गाए निरभय पद पाए ॥१-६६॥
४—सारंग पानि राम ता ऊपर ॥१-३३॥
५—तारागन ता मधि चन्द विराजत ॥१३२८॥
६—ताके तन्दुल खाए ॥१-७॥
७—ताके तन्दुल खाए ॥१-७॥
८—ताकौं मिले भरत कौ नाईं ॥१-३॥

§ ४. यही, विद्यापति ने उत्तम पुरुष सर्वनाम के विभिन्न विकास रूपों का भी ब्रजभाषावत् प्रयोग किया है। उन्होंने मैं (२४३), मों (६१५), मोरा (२४४, ५७४), मोहि (५, २१८, ३६८, ४१५) तथा मोराह (१३१), मोहु (१३) आदि प्रयोग किए हैं। सूरदास के प्रयोग नीचे दिए जा रहे हैं :—
सूरदास के कुछ समानान्तर प्रयोग नीचे दिये जा रहे हैं—

१—मैं मेरी अब रही न मेरे छूट्यो देह अभिमान ॥२-३३॥
२—मौं अनाथ के नाथ हरी ॥१-१४८॥
३—अब मोहि सरन राखिए नाथ ॥१-२०८॥
४—यह जीवन धन मोरा ॥१०-३१०॥

§ ५. इसी प्रकार मध्यम पुरुष सर्वनाम के प्रयोगों में भी समानता दिखाई पड़ती है। कवि विद्यापति ने तोहेहि (४६३), तोहि (२३, ३२३), तोहों (२१३) आदि प्रयोग किए हैं। सूरदास के प्रयोग नीचे दिए जा रहे हैं :—

१—सो तोहि स्याम दयो ॥१-७८॥
२—अपनी भेद तुम्हैं नहिं कैहै ॥२३४२॥

---

१. देखिए सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, § २८८

३—तोहिं स्याम हम कहा दिखावैं ॥२६८४॥
४—तैंहीं उनकौं मूँड़ चढ़ायौ ॥२७०६॥

सिर्फ यही नहीं कि उत्तम और मध्यम पुरुष के सर्वनामों में यह समानता है, अन्य पुरुष सर्वनामों में भी यह समानता दिखलाई पड़ती है। विद्यापति ने अन्य पुरुष सर्वनामों के निम्नलिखित प्रयोग किए हैं—तसु (६१४, १६५, ३३७ तें (२५, ३५७)। सूर के प्रयोग ऊपर 'ता' वाले साधित रूप के साथ दिए जा चुके हैं।

§ ६. विद्यापति ने निश्चयवाचक सर्वनाम के जो प्रयोग किए हैं, उनमें निम्न-लिखित रूप में महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने ई (४५०), एहु (७४), एँ (४७४), एहो (१, १८) आदि निकटवर्ती निश्चय तथा ओहु, ओहओ (१४८) आदि दूरवर्ती निश्चय के प्रयोग किए हैं, जो व्रजभाषा में यदि और वहु में बदल गए हैं। सूरदास के समानान्तर प्रयोग देखिए—

१—यहि आसा पापिनी रहैं ॥१-५२॥
२—इहई बात मधुपुरी जहँ तहँ ॥२६४०॥
३—एइ माधव जिन मधु मारे ॥२५६८॥
४—तुम देखे अरु ओऊ ॥३३४८॥
५—घोरत काहे न ओहु ॥३७५॥

§ ७. प्रश्नवाचक सर्वनाम के 'को' वाले रूप भी व्रज से प्रभावित है, मागधी से निकली पूर्वी भाषाओं में 'के' वाले रूप मिलते हैं। विद्यापति के प्रयोगों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

१—को विहि निरमल वाला ॥२२॥
२—इह रस को पये जान ॥२२॥

सूरदास ने भी इस प्रकार कुछ प्रयोग किये हैं—

१—ऐसो को करी (१-५)
२—तू को कौन देश है तेर्‌यो (१-२८०)

§ ८. अनेक परसर्गों के प्रयोग भी इस प्रभाव की सूचना देते हैं। तृतीया में अनेक स्थानों पर विद्यापति ने सञो रूप का प्रयोग किया है (१९२ ३५१ ५२२ यही सञो सौ में बदल जाता है

वस्तुतः मूल रूप सओं ही है, जो अनुलेखन पद्धति के कारण सओ लिखा गया है।[1] सूरदास में सौं के प्रयोग हजारों की संख्या में मिलते हैं। विद्यापति की पदावली में दो स्थानों पर सौं भी मिलता है।

१—अमिय पिद ओलहु विस सौं घोटी ॥१९५॥
२—घन सौं अउधन छहलओ आर्तौं ॥१९५॥

दो स्थानों पर सों रूप भी मिलते हैं—

१—सिर सों बहिगेल गंग ॥६६०॥
२—उगवर 'सों' काज ॥७८२॥

इसमें पहला रूप अपादान कारक का है। सूरदास ने भी 'सों' का प्रयोग अनेक स्थानों पर अपादान कारक में किया है।

§ ९. वाक्य-विन्यास सम्बन्धी भी कुछ अद्भुत विशेषताएँ ब्रजभाषा और पदावली में समानताएँ रखती हैं।

उपरि से बना हुआ पर, पइ, पै ब्रजभाषा में तृतीया में प्रयुक्त होते हैं। कभी-कभी अपादान में भी।[2]

मैं उन पै बन गाय चराई (सूर)

यहाँ प्रयोग तृतीया में है पर :—

आँचक पै आँचक कहुँ जाचै (सूर १-३४)

में प्रयोग अपादान में दिखाई पड़ता है। विद्यापति के कुछ प्रयोग देखिए—

१—इह रस को पए जान ॥२२॥
२—पानी पए सिकर भेल कान ॥४२९॥
३—बोलसि बोल दलिम पए राख ॥४३८॥

§ १०. समतासूचक कुछ और फुटकल प्रयोग देखकर मैं अपनी बात समाप्त कर रहा हूँ :

---

१. देखिए 'कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा', भाषा भाग §, १२।
२. देखि 'सूर पूर्व ब्रज भाषा और उसका साहित्य' §, ३२१।

(३) वर्तमान कृदन्त के आओत (१७४, ५१५) ब्रजभाषा का आवत, उसरत (८८), खेदत (२३२), गरसत (२९), जात (८८), झरकत (७८६), झाखति (३३५), जाति (८८), तोलत (१५८) आदि रूप मिलते हैं।[1] किंचित् परिवर्तित होएत (१३) रूप भी इसी प्रकार का है।

सूर के उदाहरण देखिए नीचे (§ ११ ग ३ में) मिल जाते हैं।

(२) वर्तमान कृदन्त के 'न्त' वाले रूप में भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं—

गरजन्ति (७२६), वरसन्तिआ (७२६), हसन्त (४७८) वर्तमान कृदन्त के सामान्य तथा वर्तमान में प्रयुक्त होनेवाले ये बहुत पुराने रूप हैं। ये अपभ्रंश, अवहट्ठ तथा पुरानी ब्रजभाषा में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।[2]

§ ११. (क) प्रमाणवाचक क्रिया विशेषण के एतहि (२६४), एति (७७६), एते (५६१) रूप मिलते हैं। सूर के प्रयोग देखिए—

(१) जसोवा एतिहि कहा रिस ी।
(२) एती केती तुमरी उतकी।
(३) गाउँ बसत एते दिवसनि मैं।

(ख) प्रकारवाचक जओ (५६१, ७१; १४७, २५०), जौं (५७५)।

ज्यो गूँगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै (सूर १-२)

(ग) विद्यापति का 'तइओ' ही सूर का तउ और तौ है।

१—तइओ न छपल बुधि तोरि ॥११५॥
२—तइअओ तन्हिकि पियारि दूती ॥८६॥
३—देखत सुनत सबै जानत, हौं तऊ न आओ बाज।
(सूर० १-१०८
४—तौऊ जतन करै अरु पोखे (१-११७)

विद्यापति का तओ ही सूर का त्यौं है। इसमें सन्देह नहीं।

मोञे तओ भाव लाग भल (२०९) (मुझे वैसा भाव अच्छा लग
सूरदास त्यौं ही कहि गायो ॥१०-२॥ (सूरदास ने वैसा ही कहकर गाय

---

१. विस्तार के लिए देखिए 'कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा' §, ६२ तथा '. पूर्व ब्रज भाषा और उसका साहित्य' §, ३३४।

२. 'कीर्तिलता की भाषा' § ६८ तथा 'सूर पूर्व ब्रज भाषा' §, ३३।

§ १२. विद्यापति ने पूर्वकालिक द्वित्व का भी प्रयोग किया है, जैसे—

भभिकरि (४०२), कसिकइ (४३५) तेजिकउ (३४८), देखिकउ (३०८)। इस तरह का सबसे पुराना रूप "दहेविकरि" सन्देश रासक में आता है जिसका सम्बन्ध डॉ० मायाणी ने ब्रजभाषा के साथ उदाहरण देकर दिखाया है।[1]

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि पदावली की भाषा में ओकारान्त विशेषण और संज्ञा, भूतकालिक ओकारान्त क्रियाएँ, सर्वनाम और परसर्ग के अनेकानेक रूप तथा वर्तमान कृदन्त के बने सामान्य वर्तमान कालिक रूप मिलते हैं, जो इसे स्पष्टतया ब्रजभाषा से प्रभावित घोषित करते हैं, किन्तु यह प्रभाव ही है। पदावली की मूल भाषा निश्चय ही पुरानी मैथिली है, जिसकी कुछ अपनी खास विशेषताएँ हैं, जिसे संक्षेप में नीचे दिया जा रहा है :—

§ १३. पदावली की भाषा की पहली विशेषता यह है कि यह अपने रूप और आकार में तत्कालीन उपलब्ध सभी प्राचीन हिन्दी रचनाओं की भाषा से भिन्न प्रतीत होती है। यह विभिन्नता मूलतया इस कारण उपस्थित हुई कि प्राचीन हिन्दी रचनाएँ अधिकांशतः पश्चिमी हिन्दी क्षेत्र की लिखी हुई हैं। पदावली की भाषा निःसन्देह अपने पूर्वीय तत्वों के कारण आदिकालीन हिन्दी भाषा में एक नयी रगत ले आती है। पदावली के लिपिकार प्रायः ही अनुस्वारयुक्त स्वर को 'ञ' व्यजन के साथ लिखा करते थे, इसलिए पदावली में इस तरह के बहुत से प्रयोग मिलेंगे; जैसे—मञे (१६०), जञो (८४२), सञो (१८२, ३५१, ५२२), निञ (३७५), माञो (४२)। ये वस्तुतः अनुलेखन पद्धति की विशिष्टता के उदाहरण हैं, यही प्रक्रिया कीर्तिलता में भी मिलती है। (देखिए § १२)

§ १४. पदावली में प्रायः ही वे सभी स्वर और व्यंजन मिलते हैं, जो सीमान्यता मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा में प्राप्त होते हैं। यदि उच्चारण की वैज्ञानिकता को दृष्टि में रखें तो ह्रस्व 'ए' और 'औ' के भी उदाहरण मिल जाते हैं जैसे निम्नलिखित पद्यांश में ह्रस्व 'ए' और 'औ' के प्रयोग मिलते हैं—

> बड़े सुखे सासु मुमुओवाह मथा।
> ओठ बुरत सुरसरि के सथा॥
> करव सखी आने केलि अलापे।
> खिलग होए त फफुआएत सापे॥

यह प्रवृत्ति कीर्तिलता की भाषा में तो मिलती ही है, देखिए § ५। बाद के कवि तुलसी और सूर की रचनाओं में भी मिलती है।

पदावली की भाषा में प्रायः स्वरों के बीच की विवृत्ति (Hiatus) को सन्धि

---

१. संदेह रासक, भाषा स्टडी § ७६।

प्रक्रिया से दूर कर लिया गया है, फिर भी बहुत से ऐसे शब्द मिलते हैं जिनमे विवृत्ति ज्यों की त्यों वर्तमान दिखलाई पड़ती है।

वृत्ति सुरक्षित—अइपन (३०४ >एपन), अइसन (१६१ <ऐसन), अओक (४१ >औका = दूसरा), गमावए (४३ >गमावै), गरइ (२४४ >गरै), चरइ (२० >चरै), छोड़ओ (१३३ >छाड़ौ), तोलिओ (४३७ >तोलियौ), देइ (१८६ >देवी), दउ (२२ >ददतु), नुकावए (२६४ >लुकावै)।

संधि—ऊर (५२८ >ओर < अपर), एवहु (२०२ >अइवहु), ऐलेहु (३५७ >अइलेहु < अइलइहु), एसन (११२ <अइसन), कसोटी (३८१ < कसवट्ट (हेम० <कषपट्टिका), चौठिक (१५१ <चतुर्थी) चौदीस (३४४ < चतुर्दिश), चौपास (७४३ <चतुः पार्श्व), ठैल (७३ <छइल्ल (हेम) <छबिल), जौन (१०७ <जउँणा <यमुना), मौलि (१२ <मउलि) संस्कृत मौलि प्राकृत में मउलि में बदल गया था, भैलौह (५८७ <भइलउह)।

§ १५. **स्वर संकोच** (Vowel Contraction)—

अनेक स्थलों पर संप्रयुक्त स्वर सन्धि प्रक्रिया से या संकोच के कारण काफी बदल गए हैं, जैसे अँधारी (२३३ <अंधआर >अंधकार), अरसी (१३४ < अरसिका <आदर्शिका) उगओ (५२८ >उग्गउ <उद्गमित), कुम्भार (४३४ <कुम्भआर <कुम्भकार), गँवार (१५८, ३०६ <गाँव <आर = ग्राम्यकार), वेवि (२६ <द्वेपि), मोर (१७४ <मयूर)

§ १६. विद्यापति ने पदावली में अक्सर अर्ध स्वर 'य' के लिए 'इ' या 'ए' और 'व' के लिए 'उ' या 'ओ' का प्रयोग किया है। कभी-कभी 'इ' का 'ए' में और 'उ' का 'ओ' में सीधा परिवर्तन भी होता है। आइ (१६४ <आय < अद्य), आइत (६०१ <आ + √या), आइति (१६० <आयत्त), आउति (३३२ >आवत), आएल (४०७ <आयल <आ + √गम <आगत), उपजाओल (५ <उपजावल <उत्पादित), उपारए (३५० >उत्पाटयति)

§ १७. **स्वर भक्ति**—विद्यापति ने मध्यकालीन दूसरे अनेक कवियों की ही तरह द्वित्व व्यंजनों को उच्चारण की दृष्टि से सरल करने के लिए मध्य स्वरागम या स्वर भक्ति का सहारा लिया है। इस तरह के प्रयोग नीचे दिये जाते हैं :

अगेयान (२८ <अज्ञान), अजुगुत (३८७ <अयुक्त), अपरुब (५ <अपूर्व), आरति (२४३ <आर्ति), उदवेगल, (२५८ <उद्वेग + लं), गरजन्ति (७२६ < गर्ज—), गरसओ (१०३ <ग्रस—), गरानि (८५६ <ग्लानि), जतनइ(४४६ < यत्न) उकुति (२८१ <उक्ति)

§ १८. पदावली में अनेक स्थानों पर ड, और ल के ऐसे प्रयोग मिलते हैं जो एक दूसरे की परस्पर विनिमेयता सूचित करते हैं।

आँचर (७७, ४१८ < अचल), आँजुरि (१८३<अजलि), इजोरि (५२२<उज्ज्वल), उघारि (५४१<उद्घाटित), खेलाब (२८८<खेल <क्रीड़ा), उपारिए (३५२ <उत्पाट), उबटि (३३<उर्वरित), काजर (१०४<कज्जल)

§ १९. ख ध्वनि का प्रयोग प्रायः ष के लिए भी हुआ है।

अखाढ़ (१७४<आषाढ़)

§ २०. अघोष से सघोष में परिवर्तन भी होते हैं—खेब (५१<खेप<क्षेप)

§ २१. वैसे 'क्ष' का परिवर्तन प्रायः ही ख में हुआ है यथा :—

खत कुमेड़ा (५६२<क्षत कुष्मांड), खण (५५०<क्षण), खार (३७३< क्षार), खेत (५०३<क्षेत्र), खेपथु (१६१<क्षेपण), खेमिअ (४७१< क्षमा)।

कहीं-कहीं लिपि प्रभाव से क्ष>ख को ष लिखा गया है, यथा एषणे<एतत् क्षणे। जखने<यत् क्षणे। तषने<ततक्षणे।

§ २२. अनेक स्थानों पर महाप्राण ध्वनि अल्पप्राण में बदल जाती है—अदरओ (४५६<अरध<अर्द्ध), अनुबँद (४५८<अनुबंध)

अनेक स्थान पर आदि में महाप्राण का आगम भी हुआ है—हुनक (३८०, उनका), हिनक (६०६ इनका), हुलास (४८५<उल्लास)

रूप विचार

§ २३. मैथिली में संज्ञाओं के चार रूप होते है। श्री ग्रियर्सन ने लिखा है कि घोड़ा के चार रूप घोड़, घोड़ा; घोड़वा और घोड़ौवा मिलते हैं (मैथिली डायलेक्ट, पृ० ११) विद्यापति की पदावली में इस प्रकार के चारों रूप ढूँढ़ना बेकार है क्योंकि जैसा मैंने कहा, पदावली मैथिली प्रभाव से पूर्णतः भींगी हुई प्राचीन साहित्यिक अपभ्रंशोत्पन्न प्राचीन ब्रज या अवहट्ठ की रचना है, इसलिए इसमें मैथिली बोली के खाँटी देशज प्रयोग नहीं ढूंढ़े जाने चाहिए। वैसे पदावली मे संज्ञा के दो रूप अकारान्त और आकारान्त प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। स्त्री-लिंग संज्ञाएँ प्रायः ईकारान्त अथवा संस्कृत के ढंग में आकारान्त प्रयुक्त हुई है। कहीं-कहीं 'वा' ऊन वाचक का एक रूपान्तर 'आ' भी मिलता है, जैसे भिक्षा का भिखिआ (७७७) वा वाले रूप काफी हैं—भिनसरवा (८६५), काहवा (१३८ काहल), कोवा (३५८<काक), गरवा (८३५<गला), घरवा (८६५) चकेब और चकेवा (२०), ओकारान्त रूप उत्तरो (२०, ४४७), बतिओ, हँसियो, संगमो, मिलनो, विरहो आदि रूप संस्कृत उत्तरोऽपि, के ढंग के बने हुए प्रतीत होते हैं।

नीचे लिखे हुए रूपों में दीर्घ स्वरान्त का ह्रस्व का दीर्घ का ह्रस्व में परिवर्तन लक्ष्य है—

उपमा>उपाम (१४८) कउड़ि (२६<कर्पर्दिका), कनहा (२३२<कृष्ण<कण्हं<कान्ह), कँचुआ (१७४<कंचुकी) गता (२३७<गात<गात्र) गमारा (३६१<ग्राम्य कार) ग्रीम (२०<ग्रीवा) यह अपभ्रंश के "स्यादौ दीर्घ ह्रस्वौ" से ही चली जा रही प्रवृत्ति है।

§ २४. सर्वनाम के रूपों में बड़ा वैविध्य दिखाई पड़ता है। बहुत से सर्वनाम जो ब्रजभाषा से मिलते-जुलते हैं, पहले ही विश्लेषित किये जा चुके हैं। यहाँ सिर्फ ऐसे रूपों के उदाहरण दिये जा रहे हैं, जो मैथिली की अपनी प्रवृत्ति के सूचक हैं।

उत्तम पुरुष के हमें, हम, मध्यम पुरुष के तएँ, तुमि तथा अन्य पुरुष के उन्हे, आदि रूप मैथिली के अपने रूप हैं। उसी प्रकार निश्चयवाचक सर्वनाम ई, ए तथा दूरवर्ती निश्चय के ओ, उन्ह आदि रूप विशिष्ट हैं। सम्बन्धवाचक जे, जा, तथा सह सम्बन्ध (Corelative) से, सा आदि, प्रश्नवाचक के, कओन, कि, की, का आदि भी मैथिली रूप ही हैं। हेहु, केउ, काहु, कओन, काहुक आदि अनिश्चय-वाचक सर्वनाम ब्रज और मैथिली के मिले-जुले रूपों से निःसृत हैं।

§ २५. विभक्ति और परसर्गों में भी मैथिली के विशिष्ट प्रयोग ध्यान देने योग्य हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण परसर्ग षष्ठी का "क" परसर्ग है। कुछ लोग इसे विभक्ति कहते हैं, पर यह परसर्गवत् ही प्रयुक्त होती है और इसकी व्युत्पत्ति इसे विभक्ति की अपेक्षा परसर्ग ही सिद्ध भी करती है। इसकी व्युत्पत्ति काफी सन्देहास्पद है। अब तक के नाना मतमतान्तरों का सार नीचे दिया जाता है।

१. संस्कृत के क प्रत्यय मद्रवृज्योः कन पाणिनी ४।२।१३ से ही इसकी उत्पत्ति हो सकती है। मद्रक-मद्र देश का।

२. कुछ लोग इसकी उत्पत्ति संस्कृति कृत से भी मानते हैं। हार्नली ने इसका विकास इस प्रकार माना है :

सं० कृतः>प्रा० करित्तो>करिओ>केरको>अपभ्रंश>केरको>केरो हिन्दी केर>का।[1]

§ २६. विद्यापति की पदावली में निम्नलिखित शब्द परसर्गवत् प्रयुक्त मिलते हैं। चतुर्थी में 'कारन' और 'कारने' मिलते हैं।

१. विरीहीन जन मारन कारन (विरहिणियों को मारने के लिए)

२. काजक कारने (कार्य के लिए)

§ २७. पंचमी अपादान में 'दए' और दुआरे (द्वारा) रूप मिलते हैं।

(१) पथिक दए समदस चाहिअ (पथिक के द्वारा समाचार भेजना चाहती हूँ।)

(२) पर दुआरे समाद (वह दूसरे व्यक्ति के द्वारा सम्वाद भेजना चाहती है।)

---

१. हार्टली, ईस्टर्न हिन्दी ग्रामर § ३७७।

(३) परक दुआरे करहु जनु काज (दूसरे के द्वारा काम मत कराओ) (२५३)

§ २८. जके बहुत ही प्रसिद्ध समतासूचक परसर्ग है। जैसे परिछहु जके हँसि उतरहु न देसि (८०८)

इसी प्रकार जकाँ (२४१) जजो (१४३) जनिर (१, ३, ४, ५, २३, ३४, ४०) आदि भी समतासूचक परसर्ग हैं।

§ २९. "चाहि" तुलनात्मक परसर्ग है जो दो पदार्थों के बीच के अन्तर को स्पष्ट करता है—"कमल चाहि कलेवर कोमल" (कमल से भी ज्यादा कोमल कलेवर वाली)

§ ३०. सम्प्रदान कारक में 'लगि' और 'लागल' रूप अनेक बार प्रयुक्त हुए है, जैसे—

१. तिल एक लगि रहल अध जीव

२. दरसन लागि पुजए नित काम

३. रूप लागल मन धाओल

ये सभी परसर्ग संस्कृत लग्ने से निस्सृत हैं। अधिकरण कारक में 'पए' 'तेरे' 'तल' 'तहितल' आदि रूप मिलते हैं।-

१. अवयव सबहि नयन पए भासा

२. कुच कोरक तरे

§ ३१. पदावली की भाषा में क्रियाओं के विविध रूप मिलते हैं। कुछ निःसन्देह विशिष्ट पूर्वी प्रयोग है। पर अधिकांश के रूप परवर्ती शौरसेनी अपभ्रंश से मिलते-जुलते दिखलाई पड़ते हैं।

§ ३२. वर्तमान काल में सामान्य वर्तमान के निम्नलिखित रूप मिलते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम	—इमि-उँ-ओं (करिमि, करउँ, करओं)	×
मध्यम	—हि-सि (करिहि; करिसि)	×
अन्य	—अए-अइ (करए करइ,)	हिँ-न्ति, (बरिसहिँ, बिरसन्ति—

आइय (२६१) आयसि (२१८) कहए (२५०) चेतए (१५३) चहए (५३८) जाई (३८२) जागई (६२६) चरइ (२०) अप्पए (१०६) आदि सामान्य वर्तमान क्रिया के उदाहरण हैं।

§ ३३. तिङन्त से बने उपर्युक्त किस्म के रूपों के अलावा वर्तमान काल में मूलधातु का भी प्रयोग होता है।

(१) मन विद्यापति (१६) विद्यापति कहते हैं
(२) के जान उतपति तोरी (१) तेरी उत्पत्ति कौन जानता है।
(३) कवि भान—(२) कवि कहता है
(४) दुहुक नयन कर (१७) दोनों के नेत्र करते हैं
(५) विद्यापति कवि गाव (१७) विद्यापति गाते हैं

इस तरह के प्रयोग विद्यापति ने कीर्तिलता में भी किए हैं (देखिए कीर्तिलता § ६२) डॉ० चाटुर्ज्या ने इसकी उत्पत्ति अति<अइ<अए<अ से माना है। इस तरह के प्रयोग मध्यकाल के दूसरे कवियों ने भी किए हैं, तुलसी, जायसी की रचनाओं में ये प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलते हैं :—

कह रावण सुनु सुमुखि सयानी

तुलसी और जायसी ने मूलधातु का प्रयोग सामान्य भूतकाल के लिए भी किया है।

१. मधुर वचन सीता जब बोला (बाल)
२. रहा न जीवन आव बुढ़ापा (जायसी)

इससे लगता है कि इस क्रिया रूपों को संस्कृत वर्तमान कालिक तिङ्न्त से निष्पन्न मानना ठीक न होगा।

§ ३४. विद्यापति ने वर्तमान काल में 'थि' विभक्ति से बने हुए अनेक शब्दों का प्रयोग किया है।

१. रूप नारायन ई रस जानथि (२१)
२. भल जन करथि परक उपकार (३२१)
३. भुजग भनावथि (७८)

इन रूपों से स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वी हिन्दी में "थि" वाले रूप विद्यापति के समय से ही प्रचलित हो गए थे।

'थि' रूप कीर्तिलता में तेरह बार प्रयुक्त हुआ।

वह विभक्ति संस्कृत तिङन्त के "न्ति" का विकसित रूपान्तर है।
न्ति का त् निश्चयार्थक अव्यय हि के साथ संयुक्त होकर 'थि' रूप ग्रहण करता है, इसे 'न्ति' से जोड़ने की अनिवार्यता इसलिए होती है कि यह प्राय: बहुवचन में ही प्रयुक्त विभक्ति है।

§ ३५. अवहट्ठ में वर्तमान काल बहुवचन में वर्तमान कालिक कृदन्त का भी प्रयोग मिलता है। (देखिए कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा पृ०, ८७)

पदावली में विद्यापति ने भी ऐसे प्रयोग किए हैं :—इसके दो रूप होते हैं—कृ धातु का करत और करन्त। इन रूपों पर हम पीछे विचार कर चुके हैं (देखिए यही अध्याय § १०)

§ ३६. वर्तमान में संयुक्त कालिक क्रिया वाला रूप भी मिलता है। भूत कृदन्त + वर्तमान सहायक क्रिया।

१. मिलह अछ २. गेला अछि ३. रहल अछि ४. सुनलछ ५. लगइछ ६. लगइछति—ये सभी पूर्ण वर्तमान काल (Present Perfect) के रूप हैं अछ सहायक क्रिया की उत्पत्ति यों अनुमानित की जाती है। *अंक्षति < अच्छइ (अप०)—छि या छइ

भूत काल—भूतकाल में पूर्वी नव्य भारतीय आर्य भाषा मैथिली, भोजपुरी, मगही, बँगला आदि की मुख्य विभक्ति 'ल' है। इसके विषय में विस्तार के लिए कीर्तिलता की भाषा में एतत्सम्बन्धी टिप्पणी देखिए § ६५

§ ३७. ल प्रत्यय अगोरल (५३०) अछल, २७५, अछलाह (स्त्री० ५४१) अरजल (५२८) अरुझायल (२१४) आएल (४०७) लाछलि (स्त्री० ८२३)

(१) भूतकाल में कृदन्तज इत—इअ वाले रूप भी मिलते हैं। किन्तु इन रूपों को पछाहीं प्रवृत्ति के प्रभाव से उकारान्त अथवा ओकारान्त कर दिया गया है।

अंगिरिअ (४८) उनमतिआ (४८१) उलसओ (४८१) गहिओ (८) छिड़िआउ (७८०)

(२) भूतकाल में संयुक्त क्रियावाले रूप भी मिलते हैं।

१. छाड़िहलु २. हलल अवधारि ३. बैसलि अछलहुँ

(३) भूतकाल में ल विभक्ति के साथ अन्त में महाप्राण का आगम भी दिखाई पड़ता है।

एलाहु (८००) ऐलिहु (३४०) कनेलहु (२८७)।

§ ३८. भविष्यत् काल—भविष्यत् काल में भविष्यति—होइहु या होसइ वाले 'ह' और 'स' रूपों के अलावा कर्त्तव्य—करब वाले 'ब' प्रकार के रूप प्रयोग में आते हैं। 'ब' पूर्वी आर्य भाषाओं की अपनी विशेषता है।

(१) ह: प्रकार—आओताहु (३६५) अराहिअ (१३२)

ब + ह—गमाओबह (३८७) चुमओबह (७८६) जइबह (२११)

(२) ब प्रकार—अनुमापिब (१५३) अनुरंजब (८४८) आओब (५०८) खेपब (५३१) फाब (३४३)

(३) स प्रकार के रूप प्रायः नहीं मिलते। राखिहसि, खोंआओबिसि आदि उदाहरण डॉ० सुभद्र झा ने दिए हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि स और ह प्रकार के रूपों में प्रायः 'ब' भी संयुक्त रहता है।

§ ३९. विधि क्रिया तथा आज्ञार्थक—(१) अपभ्रंश में इयइ अथवा इज्जइ के द्वारा कर्मवाच्य के प्रयोग से करिअइ अथवा करिज्जइ+करीजे—कीजिए आदि रूप बनते थे। विद्यापति के प्रयोग देखिए—आरोहियइ (१११) उजिअइ (३९७)

(२) 'थि' विभक्ति का आज्ञार्थक रूप 'थ' होता है।

उगथु (८६७) करथु, (३०८) खेपथु (१६१) गावथु (८६८) गुंजथु (८६८) छड़ाथु (५१५) जिवथु (१६१) राखथु (१५६)

(३) अनेक स्थानों पर क्रिया की मूलधातु ही आज्ञार्थक भाव प्रकट कर देती है।

अनुसर (१९१) आव (५३४) उपवाव (५४४)

कुछ आसार्थक वाले रूप भी मिलते हैं—आनह (२३२)

§ ४०. पदावली की भाषा में वर्तमान कालिक कृदन्त से बने हुए रूप एक विशिष्ट अर्थ के साथ प्रयुक्त हुए हैं। कहीं ये विशेषणवत, कहीं कार्य की निरन्तरता सूचित करने के लिए और कहीं सीधे वर्तमान कालिक क्रिया से संयुक्त होकर संयुक्त काल का रूप लेकर प्रयुक्त हुए हैं। इन्हें Gerund कह सकते हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :

आइत (६०१) उगइते (५९३) चाहइते (१३२) जाइति (२४१) जोहइते (१९०) झकइते (१३१) झपइत (३८८) मुसइते (२५)।

§ ४१. पूर्वकालिक क्रिया प्रायः इ लगकर बनती है। जैसे करि, देइ, आइ आदि। पर कहीं-कहीं इस इ का य या ए भी हो जाता है।

जैसे : मनलाए (३४४) वलिए (१५९) विमोय (७)

पूर्वकालिक द्वित्व के प्रयोग भी मिलते हैं। ये प्रयोग पूर्वकालिक क्रिया में कृ धातु के करि या उसी के विकृत कउ या कहु रूप लगाकर बनते हैं :—

जोइकहु (९१९) तजिकहु (३४८) कसिकइ (४३५) कएलहु (१३५) जोहिकहु (९१९)

§ ४२. अव्यय

१—स्थानवाचक—अन्तए (१६४) आगा (१४९) अनत (११४) ऊर (४९६) एतए (४८) एतहिं (२६४) ओकदिसि (८) ओतहु (४३८) कतहुँ (१६४)।

२—काल वाचक—अबहिं (९८) आइतौं (७९९) आनकाइ (५१६) आवे (१६१) एते (५६१) कइए (२६८) कतबेरि (७५) कतिखन (३७७)

३—प्रकार वाचक—आने आने (७) ऐछन (४७) ऐसन (११२) एहो (६१) कतपरि (४४८) कमनजओ (२२२) काजि (४१५) माह (४८२) किएपरि (४३४) कोनेपरि (२१) कके (६६) एहना (२४१)

४ परिमाण वाचक एतवा (१६२ एतवाए (५५४ आछओ १२०) कितने (२४६) कता (४६२)

५—संयोजक—अओ (२१६) अओक (४१>अपरक) अओका (४५३) एओ (२१६)

२५. रचनात्मक प्रत्यय

वा—लगाकर क्रियार्थक संज्ञा बनाने की परिपाटी अपभ्रंश में प्रचलित हुई। यह संस्कृत तव्यत्>एव्वउ>एवा>वा से बनी।

अएवा (२२३)

पन—अपभ्रंश पण से निःसृत—छैलपन (४०८) टिटिपन (६२) नागरिपन ८२।

इम—चतुरिम (३५३) चन्द्रिम (२३) अतिपरिम (४१४) पूनिम (६५) चंगिम (३०४)

पा>वाल>आर कोतवाल (५८९) गमार (५३३) गो आर (११७) वती+मती—गुनमति नारि, उदमती (७९३) पुनमति (१९२)

२६. शब्द कोश

पदावली की शब्दावली बड़ी ही विलक्षण और महत्त्वपूर्ण है। विद्यापति ने अपने समय की लोकभाषा को बड़े आदर के साथ अपने पदों में स्थान दिया, परिमाणतः अनेक देशी शब्दों का स्वाभाविक प्रयोग सर्वत्र दिखाई पड़ता है।

अपंझंप (१३६) आन्हेु (४०७) चिहाए (५३८) कसनिडोर (१८६, कटिसूत्र) लगेनी (२७०—सर्पिणी) खखेरा (कलंक, ८४) खाँतरि (साथरी, ५६) खिखियाइल (६०८) खोईंछा (८१०, आंचल) खोटि (४०२) गोट (२९७—एक) गोड़ (२०३) घोंघट (घूँघट, ६) चंगिम (३०४) चटाइय (६०४) चड़ली (१३२) चढ़इक (६०७) चाहु (२२) चूकिए (३५८) चेप (४४०, लिल) चउँकि (६१६) छड़ाए (५५२) छितनी (७८०) टोकरी) छिरिआयल (२) छोल (२९६—छीलना) छोरकी—सोरकी १६१३, आँख की भवें) झटक (४४०) आँधी), झंखइते (३५२) झषइत (२८८) झामर (१७६ मलिन) झकझोर (२७९) झुर (७४४, शोक करना) झूमर लोरी (४८१) झोरी (७९९) टरु (४६९, हट गई) ताँड (हाथ का गहना ११७ टिटिपन (६२ निर्लज्जता) डगर (४८८) डर (१२५) डार (४४०) डारे (४८२) डोल (चलना ४६७) ढर (बहना (५५४) धँसि (१५६) धाधस (४९१ आकुलता) धेहुर (४३२—झींगुर) पतओलनि (४४६ पानी पटाना) पपिहरा (५४४) फाटलि (३४) फँदाए (७८९) फिरथु (६०५) फुफआएत (७८६)

फकलओं (४४०) फोड़ब (७८२) बदुराआले (२३४) बदलल (११६) बुडलि (६२) बेड़ (७७५ बेड़ा)।

सर्वाधिक संख्या तद्भव शब्दों की है, जो ध्वनि परिवर्तन के दौर से गुजरने के बाद बहुत ही श्रुतिमधुर और आकर्षक रूप ग्रहण कर लेते हैं। विद्यापति संस्कृत के ज्ञाता थे। पदावली में ही हाटक (१३३) हस्तोदक (२२१) जृम्भसि (३) नेत्रक (२५० रेशम) चन्द्रिम जैसे संस्कारी शब्द ज्यों के त्यों या किंचित् तद्भवाभास लिए हुए प्रयुक्त दिखाई पड़ते हैं, वहीं ढेरों संस्कृत शब्दों के सुन्दर तद्भव रूप किस पाठक के चित्त को मुग्ध नहीं करते। वस्तुतः विद्यापति शब्दों के प्रयोग में बहुत सावधान और जागरूक रहनेवाले कवि हैं।

पदावली में प्रयुक्त विदेशी शब्दों की संख्या अत्यन्त न्यून है :

निक (३८० नेक) कीन (२५२) महलम (२) मोहरे (६०३) जैसे कुछ प्रयोग मिल जाते हैं।

१८ | अवहट्ठ काव्य

शौरसेनी अपभ्रंश का परवर्ती रूप अवहट्ठ के नाम से अभिहित होता है। अवहट्ठ शब्द में स्वयं कोई ऐसा संकेत नहीं जिसके आधार पर हम इसे शौरसेनी का परवर्ती रूप मानें। क्योंकि संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश वाङ्मय में जहाँ भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है, इसका अर्थ अपभ्रंश ही है। ज्योतिरीश्वर[1] ठाकुर के वर्णरत्नाकर (१३२५ ईस्वी) और विद्यापति की कीर्तिलता[2] (१४०६ ईस्वी) के प्रयोगों के और पहले से इस शब्द का उल्लेख मिलता है। १२वीं शती के अद्दहमाण ने अपने संदेशरासक में भाषाभयी और उनके लेखकों को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा है—

> अवहट्ठय सक्कय पाइयंमि पेसाइयंमि भासाए
> लक्खण छन्दाहरेण सुकइत्तं भूसियं जेहिं
> ताणउणु कईण अम्हारिसाण सुइसद्दसत्थ रहियाण
> लक्खछन्दपमुक्क कुकवित्तं को पसंसेइ। (सं० रा० ६-७)

अद्दहमाण ने भी संस्कृत प्राकृत के साथ अवहट्ठ का नाम लिया है। ज्योतिरीश्वर और विद्यापति ने संस्कृत प्राकृत के बाद ही इस शब्द का उल्लेख किया है। संस्कृत प्राकृत के बाद अपभ्रंश शब्द का प्रयोग संस्कृत आलंकारियों ने एकाधिक बार किया है। षड्भाषा प्रसंग में संस्कृत, प्राकृत के बाद अपभ्रंश की गणना का नियम था। मंख कवि के श्रीकंठ-चरित की टीका से पता चलता है कि छः भाषाओं में संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी (अपभ्रंश), मागधी, पैशाची, देशी की गणना होती थी—

१ पुनु कइसन भाट संस्कृत प्राकृत, अवहट्ठ पैशाची, शौरसेनी मागधी छहु भाषा का तत्त्वज्ञ, शकारी, आभिरी, चांडाली, सावली, द्राविली, औतकली बिजातिया सातहु उपभाषाक कुशलह। वर्णरत्नाकर ४५ ख। डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या और बबुआ मिश्र द्वारा संपादित, कलकत्ता १९४० ई०।

२ सक्कय वाणी बुहअन भावइ, पाउअ रस को मम्म न पावइ देसिल बअना सबजन मिट्ठा, तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा।

(कीर्तिलता १।१९-२२)

कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा, डॉ० शिवप्रसाद सिंह

संस्कृतं प्राकृतं चैव शूरसेनी तदुद्भवा
ततोऽपि मागधी प्राग्वत् पैशाची देशजाऽपि च ।

नवीं शती के संस्कृत आचार्य रुद्रट ने काव्यालंकार में ६ भाषाओं के प्रसंग मे अपभ्रंश का नाम लिया है—

प्राकृतं संस्कृतं मागध पिशाचभाषाश्च शौरसेनी च
षष्ठोत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ।।

(काव्यालंकार २।१)

ऊपर के श्लोक की छः भाषायें वही हैं, जो ज्योतिरीश्वर ने वर्णरत्नाकर मे गिनाई है। इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश और अवहट्ठ दोनों का सर्वत्र समानार्थी प्रयोग हुआ है। अद्दहमाण और विद्यापति ने भी अवहट्ठ का प्रयोग अपभ्रंश के लिए ही किया है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की यह भाषात्रयी भी वैयाकरणों और आलंकारियों द्वारा बहुर्चाचित रही है।

इन तीनों प्रयोगों से भिन्न प्राकृत पैंगलम् के टीकाकार वंशीधर ने अवहट्ठ को प्राकृत पैंगलम् की भाषा कहा है। प्राकृत पैंगलम् के प्राकृत शब्द से, इस ग्रन्थ का संकलनकर्त्ता या लेखक १३वीं शती के आरम्भ में इस पिंगल शास्त्रग्रन्थ के संपादन के समय, संभवतः 'अवहट्ठ' का अर्थबोध करना नहीं चाहता था। उसके लिए इस ग्रंथ की भाषा 'प्राकृत' थी। किन्तु परवर्ती काल में इस महत्त्व-पूर्ण ग्रंथ का टीकाकार वंशीधर इसकी भाषा को प्राकृत न कहकर अवहट्ठ कहता है। प्राकृत पैंगलम् की पहली गाथा को टीकाकार लिखता है—

पढमं भास तरंडो
णाओ सो पिंगला जअइ (१ गाहा)

टीका—प्रथमा भाषा तरंडः प्रथम आद्य भाषा अवहट्ठ भाषा यथा
भाषया अयं ग्रंथो रचितः सा अवहट्ठ भाषा तस्या इत्यर्थः
त सप्प पारं प्राप्नोति तथा पिंगल प्रणीत छन्दशास्त्रः
प्रायशावहट्ठभाषा रचितैः तद् ग्रंथ पारं प्राप्नोतीति भावः
सो पिंगल णाओ जअइ, उत्कर्षेण वर्तते ।

(प्राकृत पैंगलम्, पृ० ३)

ग्रन्थ का लेखक आरम्भ में भाषा को तरंड (नौका) कहकर उसकी वन्दना करता है और बाद में छन्दशास्त्र के आद्याचार्य नाग पिंगल की जयकार करता है। वंशीधर ने संभवतः 'पढम्' का अर्थ भाषा के लिए लगा लिया, जब कि व

वन्दना के तारतम्य का संकेत है पहले भाषा की तब आचार्य की यद्यपि वंशीधर ने प्रथम का अर्थ किया फिर भी निस्संकोच इसे अवहट्ट भाषा ही कहा। अवहट्ट का आद्यभाषा क्यों कहा जाय, इसका कोई स्पष्टीकरण वंशीधर ने नहीं प्रस्तुत किया। संभवतः आद्यभाषा से उनका तात्पर्य नव्य आर्यभाषाओं का आरंभिक भाषा यानी उद्भावक भाषा से था। अवहट्ट का कोई संकेत लेखक ने नहीं दिया था, किन्तु १७वीं शती के टीकाकार ने इस भाषा का अवहट्ट नाम दिया। यही नहीं, एक दूसरे स्थान पर वंशीधर ने इस भाषा के व्याकरणिक ढाँचे की मीमांसा करते हुए लिखा है : इन भाषा यानी अवहट्ट में पूर्व निपातादि नियमों का अभाव है, इसलिए पद-व्याख्या करते समय गड़बड़ी को दूर करने के लिए अन्वयादि की यथोचित योजना कर लेनी चाहिए —

'अवहट्टभाषायां पूर्वनिपातादिनियमाभावात् यथोचित योजना कार्या सर्वत्रेति बोध्यम् (प्राकृत पैंगलम्, पृ० ४१८)।

वंशीधर ने इस वाक्य के द्वारा अवहट्ट भाषा में निर्विभक्तिक प्रयोगों की बहुलता देखकर यह चेतावनी दी है। निर्विभक्तिक पदों का प्रयोग शौरसेनी अपभ्रंश, यहाँ तक कि हेमचन्द्र के दोहों में भी, कम से कम हुआ है, किन्तु नव्य आर्यभाषाओं मे इस प्रकार की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल दिखाई पड़ती है. संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के वाक्यविन्यास की सविभक्तिक प्रयोगवाली विशिष्टता नई भाषाओं मे समाप्त हो गई, इस अनियमितता के कारण परसर्गों की सृष्टि करनी पड़ी और वाक्य गठन में स्थान वैशिष्ट यानी कर्ता, कर्म, क्रिया की निश्चित तरकीब को स्वीकार करना पड़ा। यह प्रवृत्ति जैसा वंशीधर के संकेत से स्पष्ट है, अवहट्ट भाषा से वर्तमान थी, इस प्रकार वंशीधर का अवहट्ट भाषाशास्त्रीय विवेचन के आधार पर अपभ्रंश के बाद की स्थिति का संकेत करता है।

इस स्थान पर एक और पहले से विचार हो सकता है। अवहट्ट, जैसा कि अपभ्रंश शब्द का विकसित रूप है, क्यों १२वीं शती के बाद ही प्रयुक्त हुआ ? पहले के लेखक, आचार्य इस भाषा को अपभंश कहते थे। अपभ्रंश में निहित 'च्युति' को संलक्ष्य करके इस भाषा के प्रेमी लेखक इसे देशी भाषा, लोकभाषा आदि नामों से अभिहित करते थे। स्वयंभू[1] पुष्पदंत,[2] जैसे गौरवास्पद कवि इस भाषा को देसी कहना ही पसन्द करते थे, उन्होंने अपभ्रंश नाम का कम से कम प्रयोग किया। संस्कृत आलंकारिको ने तिरस्कार से यह नाम 'पामरजन,

---

१ दीह समास पवाहा वंकिय सक्कय पायय पुलिणा लंकिय
देसी भाषा उभय तडुज्जल कविदुक्कर धण सद्द सिलायल (पउमचरिउ)

२. वायरणु देशी सदस्य गाढ़ (णायकुमारचरिउ)
ण विणयामि देशी (महापुराण)

की बोली को दिया, उसी का वे प्रयोग भी करते रहे, अपभ्रंश उनका ही दिया नाम था। बाद में यह अपभ्रंश अवहट्ठ हो गया, प्रयोग में आते-आते इनके भीतर निहित तिरस्कार की भावना समाप्त हो गई। अपभ्रंश विकसित होकर राष्ट्रव्यापी हुआ और उसका निरन्तर विकासमान रूप बाद में अवहट्ठ कहा जाने लगा। पूर्ववर्ती अपभ्रंश प्राकृत प्रभाव से विजडित एक रूढ़ भाषा थी, परवर्ती कवियो अद्दहमाण, विद्यापति या प्राकृत पैंगलम् के लेखक ने इसे 'देसिलवयना' के स्तर पर उतार कर लोकप्रवाह से अभिषिक्त करके नया रूप दे दिया। इस नये और विकसित रूप की भाषा की इन कवियों ने अपभ्रंश नहीं, अवहट्ठ यानी एक सीढी और बाद की भाषा कहा।[1]

विद्यापति ने देसिलवयना की प्रशंसा करते हुए लिखा कि उसी तरह के अवहट्ठ में कीर्तिलता काव्य लिखूंगा—

देशिल वयना सब जन मिट्ठा
तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा

इन 'तैसन' को लेकर विद्वानों ने बहुत व्यर्थ की माथापच्ची की है। वस्तुत विद्यापति देसिल वयना से अपनी भाषा मैथिली को सम्बोधित करते हैं, जबकि अवहट्ठ तत्कालीन सर्वमान्य साहित्यिक भाषा थी।

वैसे विद्यापति की पदावली की भाषा को भी लोचन ने अपनी राग-तरंगिणी मे 'मिथिलापभ्रंश' ही कहा है। अपभ्रंश शब्द का प्रयोग बहुत ही ढीले-ढीले अर्थ मे होता था। कुछ लोग इसी मिथिलापभ्रंश शब्द को लेकर कीर्तिलता की भाषा को भी मिथिलापभ्रंश ही कहने लगे। पर लोचन कवि ने तो अपने मिथिलापभ्रंश का साफ अर्थ भी लिख दिया है।

देश्यामपि स्वदेशीयत्वात् प्रथमं मैथिलापभ्रंशभाषायां
श्री विद्यापतिनिबद्धास्ता मैथिलीगीतगतयः प्रदर्श्यन्ते

लोचन कवि स्पष्टतः विद्यापति के गीतों की मैथिली भाषा को मिथिलापभ्रंश कहते हैं। कीर्तिलता की भाषा के लिए उन्होंने ऐसा नहीं कहा है। अपभ्रंश का अर्थ उनके लिए देशी भाषा था इसीलिए उन्होंने 'देश्याम्' लिखा।

पदावली की भाषा[2] मैथिली है, इसमें शक नहीं; पर उस पर अवहट्ठ

---

१ अवहट्ठ सम्बन्धी विशेष विवेचन के लिए द्रष्टव्य : लेखक की पुस्तक कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा, प्रयाग, १९५५।

२ पदावली की भाषा के लिए द्रष्टव्य : शिवनन्दन ठाकुर का महाकवि विद्यापति तथा डॉ० सुभद्र झा का सांग्स आव विद्यापति

(परवर्ती शौरसेनी अपभ्र श) का भी कम प्रभाव नहीं है, इसी कारण विभक्तियों और परसर्गों में तथा कुछेक क्रिया रूपों में पश्चिमी प्रभाव भी दिखाई पड़ता है।

१४वीं शताब्दी में उत्तर भारत की भाषा स्थिति का पर्यवेक्षण करने पर कुल छः प्रकार की भाषाएँ प्रचलित दिखाई पड़ती हैं।

१४वीं शताब्दी में प्रचलित भाषाओं के विश्लेषण के आधार पर तत्कालीन उत्तर भारत की भाषा-स्थिति का कुछ अनुमान नीचे की सूची से हो सकता है :

(१) **संस्कृत-प्राकृत**—दोनों साहित्यिक भाषायें जनता से कटी हुई, थोड़े से लोगों के बुद्धि-विलास की वस्तु रह गई थीं, फिर भी इनमें काव्य-प्रणयन हो रहा था, श्रीहर्ष का नैषध तत्कालीन संस्कृत और समराइच्च कहा आदि प्राकृत भाषा के आदर्श ग्रन्थ हैं।

(२) **शौरसेनी अपभ्रंश का साहित्यिक रूप**—जैन लेखकों की रूढ़ अपभ्र श आदर्श। शालिभद्र सूरि (११८४ ईस्वी), लक्खण (१२५७ ईस्वी) आदि की रचनाएँ इस श्रेणी में आती हैं।

(३) शौरसेनी का परवर्ती अवहट्ठ रूप, सिद्धों के दोहे, कीर्तिलता, अद्दह-माण के सन्देश के दोहे इस भाषा के आदर्श हैं।

(४) अवहट्ठ और राजस्थानी के किंचित् मिश्रण से उत्पन्न पिंगल। प्राकृत पैंगलम् प्राचीन रासो काव्य, रणमल्ल छन्द आदि इस भाषा के आदर्श। चारण शैली की भाषा।

(५) पश्चिमी प्राचीन राजस्थानी या गुजराती मिश्रित अपभ्रंश जिसमे शौरसेनी का कम प्रभाव न था, यह भी साहित्यिक भाषा हो गई थी, तेसीतोरी ने इसका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है।

(६) **देश अपभ्रंशों से विकसित जनभाषायें**—प्रारम्भिक मैथिली, राजस्थानी, गुजराती, आदि।

विद्यापति की पदावली की भाषा मूलतः नम्बर ६ के अन्तर्गत सम्मिलित मैथिली है, इसमें शक नहीं, पर इस पर नं० ३ और ४ का प्रभाव भी कम नहीं है।

अवहट्ठ भाषा में विद्यापति ने कीर्तिलता, कीर्तिपताका और कुछ फुटकल रचनायें लिखीं। कीर्तिलता का सबसे पहला संस्करण बँगला में महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री के सम्पादन में वंगीय सन् १३३१ अर्थात् ईस्वीय १९२४ मे प्रकाशित हुआ। ईस्वी सन् १९२२ में शास्त्री जी नेपाल गए और वहीं से कीर्तिलता की प्रतिलिपि ले आये। कीर्तिलता का पहला संस्करण होने के कारण इसमें पाठ और अर्थ की कई भूलें हैं, किन्तु शास्त्री जी का यह कार्य सर्वथा प्रशंसनीय और गौरवास्पद है, इसमें शक नहीं। ईस्वीय सन् १९२९ में डॉ० बाबूराम सक्सेना के सम्पादन में कीर्तिलता का हिन्दी संस्करण काशी नागरी प्रचारिणी सभा में प्रकाशित हुआ। यह संस्करण शास्त्री जी के वंगीय संस्करण के बाद प्रकाशित हुआ और सक्सेना जी के नाम शास्त्री जी की अपेक्षा सामग्री

भी अधिक थी, किन्तु अभाग्यवश यह संस्करण बँगला संस्करण से अच्छा और कम त्रुटिपूर्ण न हो सका। १९५५ ईस्वी में इन पंक्तियों के लेखक ने कीर्तिलता का नया संशोधित पाठ, उसकी भाषा के विस्तृत विश्लेषण और पाठशोध के साथ साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग से प्रकाशित कराया। कीर्तिलता के विषय में इस संस्करण में विस्तार से विचार किया गया है, इसलिए उसे यहाँ दुहराना आवश्यक नहीं मालूम होता।

कीर्तिपताका पुस्तक अब तक प्रकाशित नहीं हो सकी है। बहुत दिनों तक इस पुस्तक की प्राप्ति में ही आशंका बनी रही, इधर पटना कालेज में इसकी प्रति की फोटो-कापी के आने की सूचना मिली है, किन्तु जब तक यह सम्पादित होकर प्रकाशित नहीं हो जाती, इसका काव्यगत मूल्यांकन संभव न हो सकेगा।

इन दो बड़ी रचनाओं के अतिरिक्त विद्यापति ने दो तीन फुटकल रचनायें भी अवहट्ठ में लिखीं, किन्तु इनका साहित्यिक मूल्य नहीं के बराबर है। डा० विमानबिहारी मजूमदार—सम्पादित विद्यापति में पद संख्या ८ और ९ के अन्तर्गत दो रचनायें दी हुई हैं।

ऐसी दशा में यहाँ केवल कीर्तिलता का ही मूल्यांकन प्रस्तुत किया जा रहा है।

कीर्तिलता की भाषा को देखते हुए सहसा किसी पाठक को विश्वास नहीं होता कि कीर्तिलता को भी गीतकार विद्यापति ने ही लिखा है। किन्तु 'अवहट्ठ' हठीली शब्द-योजना के भीतर प्रवेश करने पर किसी भी सहृदय को 'गीतों के गायक' को पहचान सकना कठिन न होगा। जीवन की समष्टि और समग्रता कल्पना के एक क्षण की तुलना में कठोर-क्रूर होती ही है, और कवि के लिए तो यह सहसा एक चुनौती भी है कि उसकी विधायिका शक्ति इन तमाम क्रूरता-कठोरता को कैसे अभिव्यक्ति दे पाती है। इस दृष्टि से कीर्तिलता के पाठक को एक नए तरह के रस का आस्वाद मिलेगा। इसमें जीवन की तिक्तता कसैलापन और मिठास सभी कुछ है। विद्यापति का भावुक कवि कीर्तिलता में जैसे जीवन के वास्तविक धरातल पर उतर आया है। और यथार्थ का यह धरातल एक बार के लिए कवि के मन में भी आशंका का बीजारोपण कर ही देता है, फिर भी उनके मन को विश्वास है कि चाहे असूया वृत्ति के दुर्जन इस काव्य की निन्दा ही क्यों न करें, काव्य कला के मर्मी इसकी अवश्य प्रशंसा करेंगे।

का परबोधओ कवण मणावओ। किमि नीरस मने रस लए लावओ।।
अई सुरसा होसइ मझु भासा। जो बुज्झिइ सो करिह पसंसा।

महुअर बुज्झइ कुसुम रस कव्व कलाउ छइल्ल
सज्जन पर उअआर मन दुज्जन नाव मइल्ल

शंकर के मस्तक पर सुशोभित द्वितीया के चन्द्रमा की तरह विद्यापति

की यह कृति प्रशंसित होगी, ऐसा कवि का विश्वास है और इसमें सन्देह नहीं कि उनका यह विश्वास आधारहीन नहीं है।

कीर्तिलता का काव्य रूप

मध्यकाल के साहित्य में वृत्तान्त-कथन की तीन प्रमुख शैलियाँ दिखाई पड़ती है। परवर्ती संस्कृत साहित्य के चरित्र काव्य या ऐतिहासिक काव्यों की शैली, दूसरी कथा-आख्यायिकाओं की शैली और तीसरी प्रेमाख्यानकों की मसनवी शैली, जो पूर्णतः विदेशी प्रभाव से विकसित हुई थी।

संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों की शैली भी बहुत प्राचीन नहीं मालूम होती। विद्वानों की धारणा है कि ६वीं-७वीं शताब्दी के आस-पास मुसलमानों के सम्पर्क मे इस प्रकार की शैली का उदय हुआ है। यह सत्य है कि पिछले खेवे में जिस प्रकार के ऐतिहासिक काव्य लिखे गए, वैसे काव्य पूर्ववर्ती साहित्य में नहीं मिलते, किन्तु इतिहास को कल्पना और अतिशयोक्ति के आवरण में ही सही काव्य का उपकरण अवश्य समझा जाता था। भारतीय कवि इतिहास की घटनाओं को भी अतिमानवीय परिधान दे देते थे, जिससे यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि इसमें कितना अंश इतिहास का है और कितना कल्पना का। पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ मे कभी नहीं लिया गया, बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथानायक बनाने की प्रवृत्ति रही है। कुछ में दैवी शक्ति का आरोप कर पौराणिक बना दिया गया है, जैसे राम, कृष्ण, बुद्ध आदि और कुछ मे काल्पनिक रोमांस का आरोप करके निजंधरी कथाओं का आश्रय बना दिया गया है—जैसे उदयन, विक्रमादित्य और हाल।

वस्तुतः ऐतिहासिक काव्यों का उदय सामन्तवाद की देन है। भारत मे भी ईसा की दूसरी शताब्दी से ही राजस्तुतिपरक रचनाओं का निर्माण शुरू हो गया था। मैक्समूलर ने ईसा की पहली से तीसरी शती तक के काल को अँधेरा युग कहा है, क्योंकि उनको इन शताब्दियों में अच्छे काम का अभाव दिखाई पड़ा। मैक्समूलर के मत के विरोध में डाक्टर ब्यूलर ने कहा कि इस काल में अत्यन्त सुन्दर स्तुति काव्यों की रचना होती थी, अभाग्यवश हमें कोई वैसा काव्य नही मिल सका है, किन्तु शक क्षत्रप रुद्रदामन का गिरनार का शिलालेख (ई०१५०), कविवर हरिषेण की लिखी प्रशस्ति (समुद्रगुप्त ३५० ई०) जिसमे समुद्रगुप्त के दिग्विजय का बड़ा ही ओजस्वी वर्णन किया गया है तथा ईस्वी सन् ४७३ ईस्वी मे लिखी वत्सभट्टि की मन्दसोर की प्रशस्ति इस प्रकार की स्तुतिपरक ऐतिहासिक रचनाओं की ओर संकेत करती है। कवि वत्सभट्टि ने चालीस श्लोकों में जो मनोरम प्रशस्ति प्रस्तुत की है, वह महत्त्वपूर्ण लघु काव्य है, जिसमें भाव, भाषा

युद्ध या युद्ध के लिए उद्योग का ही वर्णन हुआ है। द्विवेदी जी का अनुमान है कि सम्भवतः कीर्ति-पताका में प्रेम-आखेट आदि का वर्णन हुआ है। उसके बारे मे कुछ कहा नहीं जा सकता; यद्यपि पुस्तक में कुछ प्रारम्भिक पन्ने जो प्राप्त हैं, इसी बात की ओर संकेत करते हैं। उनमें युद्ध की भूमिका नहीं; शान्ति की भूमिका दिखाई पड़ती है।

मध्यकालीन साहित्य में वृत्तान्त-कथन की दूसरी शैली कहानी या आख्यायिका की है। कीर्तिलता को लेखक ने 'कहानी' कहा है।

> पुरिस कहाणी हउँ कहउँ जसु पत्थावे पुन्न
> सुक्ख सुभोअण सुभवअण देवहा जाइ सपुन्न

मैं उस पुरुष की कहानी कहता हूँ जिसके प्रस्ताव से पुण्य होता है, सुख; सुभोजन शुभ वचन और स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

लेखक ने इसे कहानी ही नहीं कहा है, बल्कि आख्यानों के अन्त में दिए महात्म्य की तरह इस कहानी के सुनने के फायदे भी बताए हैं।

आजकल कथा, कहानी, आख्यायिका का प्रयोग हम सदृशार्थक शब्दों की तरह करते हैं। किन्तु मध्यकाल में इनके अर्थ में अन्तर था। कथा शब्द का प्रयोग प्राचीन साहित्य में अलंकृत काव्य-रूप के लिए भी होता था। जैसे कोई भी कहानी या सरस वृत्तान्त कथा है; किन्तु इस शब्द के अन्दर एक खास प्रकार के काव्य रूप का भी अर्थ नियोजित मालूम होता है। काव्यालंकार के रचयिता भामह ने सरस गद्य में लिखी हुई कहानी को आख्यायिका कहा है। भामह ने यह भी कहा कि आख्यायिका के दो प्रकार होते हैं, आख्यायिका और कथा। आख्यायिका गद्य में होती थी और इसे नायक स्वयं कहता था, जब कि कथा को कोई भी कह सकता था। आख्यायिका उच्छ्वासों में विभक्त होती थी और उसमें वक्त्र और अपरवक्त्र छन्द होते थे, किन्तु कथा में इस तरह का कोई नियम न था। दण्डी ने इसका अन्तर इस प्रकार समझाया है।

> अपाद पादसन्तानो गद्यमाख्यायिकाकथा
> इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल
> नायकेनैवः वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा
> स्वगुणाविष्क्रिया दोषो नात्र भूतार्थशंसिना
> अपित्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्
> वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छ्वासं चापि भेदकम्
> चिह्नमाख्यायिकायाश्चेत् प्रसंगेन कथास्वपि
>
> (काव्यादर्श १-२३-२८)

संस्कृत के आचार्यों की दृष्टि से　　　　और कथा गद्य में लिखी जानी चाहिए, किन्तु अपभ्रंश या प्राकृत मे इस तरह का कोई बन्धन न था। इसी

संस्कृतेतर इन भाषाओं मे कथायें प्राय: पद्य में लिखी ही मिलती हैं। इन कथाओं को चरित काव्य भी कहा गया है। अपभ्रंश भाषा के चरित काव्यों में गद्य का एक प्रकार से प्रभाव दिखाई पड़ता है। कुछ ग्रन्थ अवश्य इसके अपवाद भी हैं। संभव है कि संस्कृत की पद्धति पर कुछ लेखकों ने पद्य-गद्य दोनों में अर्थात् चम्पू काव्य मे कथाएँ लिखीं।

जो हो, प्रचलित चरित काव्यों में कीर्तिलता इस अर्थ में थोड़ी भिन्न है और उसमें गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। और कथा काव्य की तरह विद्यापति ने भी इस रचना के गद्य खण्डों को भी काफी सरस अलंकृत बनाने का प्रयत्न किया है। कथा काव्यों में राज्यलाभ, कन्याहरण, गान्धर्व विवाहों की प्रधानता रहती है; किन्तु कीर्तिलता मे केवल राज्यलाभ का ही वृत्तान्त दिया गया है। इस तरह कीर्तिलता में कथा-काव्य में कई लक्षण नहीं भी मिलते। इसी आधार पर द्विवेदी जी का कहना है कि विद्यापति ने जानबूझ कर कीर्तिलता को कथा न कह कर 'कहाणी' कहा है।

इस प्रकार हमने देखा कि एक ओर कीर्तिलता मध्यकालीन चरितकाव्यों या ऐतिहासिक किंवा अर्द्ध-ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा में गिनी जाती है, दूसरी ओर इनमें 'कथा' का भी रूप न्यूनाधिक रूप में पाया जाता है। वस्तुत: कीर्तिलता में मध्यकालीन काव्यों की कई विशेषताएँ, नगर वर्णन, युद्ध वर्णन आदि के प्रसंगों में दिखाई पड़ता है, कवि ने समयानुकूल इसमें वर्णन की दृष्टि से छन्दो का भी उचित प्रयोग किया है, साथ ही अपभ्रंश काव्यों की रूढ़ियाँ, कवि-समय आदि इनमें सहज रूप से प्राप्त होते हैं।

कीर्तिलता काव्य जैसा कहा गया है, कीर्तिसिंह के जीवन के एक हिस्से यानी युद्ध और राज्यलाभ के प्रसंगों को लेकर लिखा गया है। लक्ष्मण-सम्वत् २५२ मे (ईस्वी सन् १३७१ के आसपास) राजलोभी मलिक असलान ने तिरहुत के राजा गणेश्वर का धोखे मे वध कर दिया। राजा के वध से तिरहुत की हालत अत्यन्त खराब हो गई। चारों ओर अराजकता फैल गई। कवि ने इस अवस्था का बहुत ही यथार्थ चित्रण उपस्थित किया है—

ठाकुर ठक भए गेल चोरें चप्परि घर लिज्झिअ
दास गोसायिनि गहिअ धम्म गए धन्ध निमज्जिअ
खले सज्जन परभविअ कोई नहि होइ विचारक
जाति अजाति विवाह अधम उत्तम काँ पारक
अक्खर रस बुज्झनिहार नहि कइकुल भमि भिक्खरि भउँ
तिरहुत्ति तिरोहित सब्ब गुणे रा गणेश जबे सग्ग गउँ

राजा के वध के बाद विश्वासघाती असलान को परिताप हुआ, उसने गणेश्वर का राज्य उनके पुत्र को दे देना चाहा किन्तु पिता के हत्यारे और अपने शत्रु

द्वारा समर्पित राज्य को कीर्तिसिंह ने स्वीकार नहीं किया। वे अपने भाई वीर-सिंह के साथ जौनपुर के सुलतान इब्राहीम शाह के पास चले। बड़ी कठिनाई से, दोनों भाई जौनपुर पहुँचे। जौनपुर क्या था, लक्ष्मी का विश्रामस्थान और आँखो के लिए अत्यन्त प्रिय था। कवि विद्यापति ने जौनपुर का बड़ा ही भव्य वर्णन किया है। बाग-बगीचे, मकान, रास्ते, रहट बाट, पुष्करणी, संक्रम, सोपान, और हजारों श्वेत ध्वजों से मंडित स्वर्ण कलश वाले शिवालयों के विशद वर्णन से कवि ने नगर को साकार रूप दे दिया है। यही नहीं, उन्होंने नगर की बारीक-बारीक बातों का ब्यौरेवार वर्णन उपस्थित किया है। गलियों में कर्पूर, कुंकुम, सौगन्धिक, चामर, कज्जल, आदि बेचने वाले के साथ ही कास्य के व्यापारियों की बीथी जो बर्तन गढ़ने की 'क्रेकार' ध्वनि गूँजती रहती थी, जिसके साथ और भी मछहटा, पनहटा आदि बाजार के हिस्सों का सूक्ष्म चित्रण हुआ है। नगर के चौड़े-चौड़े रास्तों का जनसंमर्द लगता था, जैसे मर्यादा छोड़कर समुद्र उमड़ पड़ा हो।

नगर का वर्णन विद्यापति की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। तत्पश्चात् विद्यापति ने मुसलमानों के रहन-सहन का बड़ा ही यथार्थ चित्रण किया है। उनकी आँख के सामने से कोई भी चीज छूटकर बच नहीं सकी। विद्यापति के मन में इनके प्रति सहज विरक्ति है, इनके वर्णन में भी कहीं-कहीं उनके मन का क्षोभ व्यक्त हो जाता है। खासतौर से उनकी गन्दी आदतें, शराब, कबाब, प्याज का उन्होंने थोड़ा घृणा-युक्त वर्णन किया है। विद्यापति के शब्दों में एक राज-कर्मचारी तुर्क का स्वरूप देखिये :

अति गह सुमर धोवाए खाए लै भाँग क गुण्डा
बिनु कारणहिँ कोहाए बएन तातल तम कुण्डा
तुरक तोषारहिँ चलल हाट भमि हेडा चाहइ
आडी दीठि निहार दबलि दाढ़ी थुक बाहइ

अंतिम पंक्तियों में तो तुर्क की उन्होंने दुर्दशा ही कर दी है, जो घोड़े पर सवार होकर बाजार में घूमकर हेडा (कर या गोश्त) माँगता है, क्रुद्ध दृष्टि से देख कर दौड़ता है तो उसकी दाढ़ी से थूक बहने लगता है।

उस प्रकार के क्रूर शासनकाल में एक संस्कारी हिन्दू के मन की ग्लानि का स्वरूप देखिए :

धरि आनए बाभन बटुआ, मथा चढ़ावए गाइक चुडुआ
फोट चाट जनेऊ तोर, उपर चढ़ावए चाह घोर
धोआ उरिधा मे मदिरा साँध, देउर भाँगि मसीद बाँध
गोरि गोमर पुरिल महि, पएरहु देना एक ठाम नहीं
हिन्दुहि गोटठ ओ गिलिए हल तुरक देखि होए भान
अइसेओ जसु परतापे रस चिर जीवसु सुलतान

ाभन-बटुक को पकड़ लाता है और उसके माथे पर गाय का शुरुवा रख देता । चन्दन का तिलक चाट जाता है, माथे पर घोड़ा चढ़ा देना चाहता है। ोए नीवार-धान से मदिरा बनाता है और देवालय तोड़कर मस्जिद खड़ी करता े। कब्रों और कसाइयों से धरती पट गई है, पैर देने की भी जगह नहीं। तुर्कों को देखने से लगता था कि हिन्दुओं को पूरा-पूरा चढ़ा जायेंगे—फिर भी जिस सुलतान के प्रताप में ऐसा होता था, वे चिरजीवी हों।

जिस सुलतान के पास विद्यापति के आश्रयदाता कीर्तिसिंह सहायता माँगने गए थे, उसी सुलतान के राज्य में यह सब कुछ होता था। लक्खनसेन ने भी तत्कालीन परिस्थिति का बड़ा मजेदार वर्णन किया है—'

भोंदू महंथ जे लागे काना, काज छाँड़ि अकाजे जाना
कपटी लोग सब भे धरमाथी, खोट बइढि नहिं चिन्हे बियाथी
कुंजर बाँधे भूखन मरई, आदर सो पर सेइ चरई
चंदन आन करील ले आवा, आँब काढ़ि बबूर बोआवा
कोकिल हंस मँजारहिं मारी, बहुत जतन कागहि प्रतिपारी
सारीय पंख उपारि पाले तमचुर जग संसार
लखनसेनि ताहने बसे काढ़ि जो खांहि उधार

(इब्राहीमशाह का समय, लखनसेनि, हरिचरित्र, विराट पर्व अप्रकाशित) गणेश्वर की मृत्यु हो जाने पर विद्यापति ने भी ऐसा ही वर्णन किया है। लखन-सेनि भी अन्त में अपना क्षोभ रोक नहीं पाता। कहता है कि सारिकाओं की पाँखें उखाड़ते हैं और घरों में मुर्गियाँ पालते हैं।

इब्राहीम शाह जिसके द्वार पर संसार भर के राजे प्रणिपात करते हैं और बर्षों दर्शन नहीं पाते, दोनों भाइयों पर कृपा करता है और असालन को पकड़ने के लिए सेना लेकर चलता है। किन्तु कारणवश सेना जो पूरब के लिए चली थी, पश्चिम की ओर बढ़ जाती है, उस समय दोनों राजकुमारों की दशा का बहुत ही हृदयद्रावक चित्रण कवि उपस्थित करता है—

सम्बर निरबल, किरिस तनु, अम्बर भेल पुराण
जवन समावहिं निक्करुण तो न सुमरु सुरतान

विदेश में ऋण भी नहीं मिलता, मानधनी भीख भी कैसे माँग सकता है, राजा के घर जन्म हुआ, दीनता भरे वचन भी कैसे निकलें ?

सेविअ सामि निसंक भए दैव न पुरवए आस
अहह महत्तर किंकरहुँ गण्डए गणिअ उपास

मित्र सहायता नहीं करता, भूख के कारण भृत्यों ने साथ छोड़ दिया, घोडो को घास नहीं मिलती, इस तरह अत्यन्त दुःख की अवस्था में वे दिन विताते रहे।

किन्तु एक दिन अचानक आशा फलवती हुई, सेना को तिरहुति की ओर मुड़ने की आज्ञा हुई। कीर्तिसिंह के साथ ही विद्यापति कवि भी आनन्द से गा उठे—

फलिअउ साहस कम्पतरु सम्नगहू फरमान
पुहुवी तासु असक्क की जसु पसन्न सुरतान

कीर्तिसिंह के साथ सेना चली। उस समय संसार भर में कोलाहल मच गया, सेना के घोड़ों पर दृष्टि डालिए :

अनेक वाजि तेजि-तेजि साजि साजि आनिआ
परक्कमेंहि जासु नाम दीप-दीपे जानिआ
विसाल कन्ध, चारु वन्ध, सत्तिरूअ सोहणा
तलप्प हाथि लाँघि जाथि सत्तु सेण खोहणा
मुजालि सुद्ध, कोहे क्रुद्ध, तोरि धाव कन्धरा
विसुद्ध दापे, मार टापे चूरि जा वसुन्धरा

इस तरह के दर्प से भरे घोड़े उस सेना में चले, राजधानी के पास दोनो सेनाओं की मुठभेड़ हो गई। तलवारें बज उठीं, कीर्तिसिंह की तलवार जिधर पड़ती, उधर ही रुण्ड-मुण्ड दिखाई पड़ते। अन्तरिक्ष में अप्सराएँ श्रम-परिहार के लिए अंचल से व्यजन कर रही थीं, स्वर्ग से पारिजात-सुमनों की वृष्टि हो रही थी। असालन पकड़ा गया, किन्तु कीर्तिसिंह ने उसे भागते देख, जीवन-दान दे दिया। इस तरह तिरहुति का राज्य पुनः सनाथ हुआ।

इस प्रकार विद्यापति के इस काव्य में यथार्थ एक नवीन सौन्दर्य लेकर उपस्थित हुआ है। उन्होंने एक ओर जहाँ कीर्तिसिंह के वीरता भरे व्यक्तित्व का दर्प दर्शाया है, वहीं उनकी दुरवस्था का भी चित्रण किया है। यही नही, विद्यापति के इस कौशल के कारण कीर्तिसिंह निर्जधरी कथाओं के नायकों से भिन्न कोटि के वास्तविक जीवन्त पुरुष मालूम होते हैं। विद्यापति के इस चरित्र-चित्रण की मूर्तिमत्ता की ओर संकेत करते हुए द्विवेदीजी ने लिखा है कि "कवि की लेखनी चित्रकार की उस तूलिका के समान नहीं है, जो छाया और आलोक के सामंजस्य से चित्रों को ग्राह्य बनाता है, बल्कि उस शिल्पी की टाँकी के समान हैं, जो मूर्तियों को भित्तिगात्र में उभार देता, हम उत्कीर्ण मूर्ति की ऊँचाई-नीचाई का पूरा-पूरा अनुभव करते हैं।" इतना ही नहीं, विद्यापति की लेखनी में स्वरकार का वह जादू भी है कि इन मूर्तिवत् चित्रों को सजीव कर देता है,

हम वेश्या के नूपुरों की छमक के साथ ही युद्धभूमि के पटह तूर्य की गगनभेदी आवाज भी सुन पाते हैं। काव्य कौशल की दृष्टि से विद्यापति का कोई प्रतिमान नहीं। उनके द्वारा प्रयुक्त अलंकारों में एक सुरुचि दिखाई पड़ती है। वेश्याओं के काले-काले केश श्वेत पुष्प गुंथे हुए हैं, कवि कहता है, मानो मान्य लोगों के मुख-चन्द्र की चन्द्रिका की अधोगति देखकर अन्धकार हँस रहा हो—

तन्हि केस कुसुम बस, जनि मान्य जनक लज्जावलबित मुखचंद्र चन्द्रिका करि अधओ गति देखि अन्धकार हस। नयनान्चल संचारे भ्रूलता भंग, जनि कज्जल कल्लोलिनि करि वीचिविवर्त बड़ी बड़ी सफरी तरंग।

कीर्तिलता के विषय में अधिक विस्तृत जानकारी के लिए लेखक की पुस्तक कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा देखी जा सकती है।

प्रार्थना

विदिता देवो विदिता हो
अविरल केस सोहन्ती ।
एकाएक सहस को धारिनी
जनि रंगा पुर नटी ।।
कज्जलरूप तुअ काली कहिअए
उज्जलरूप तुअ बानी ।
रविमंडल परचण्डा कहिअए
गंगा कहिए पानी ।।
ब्रह्माघर ब्रह्मानी कहिए
हर घर कहिअए गोरी ।
नारायण घर कमला कहिए
के जान उत्पति तोरी ।।
विद्यापति कविवर एहो गाओल
जाचक जनके गती ।
हासिनी देइपति गरुड़नरायण
देवसिंह नरपति ।।

२

कनक-भूधर - सिखरवासिनि
चन्द्रिकाचय चारु हासिनि
दसन कोटि विकासबंकिम
तुलित चन्द्रकले ।
क्रुद्ध सुररिपु बलनिपातिनि
महिस शुम्भनिसुम्भ घातिनि

शब्दार्थ—विदिता हो = प्रकाशित हो; एकाएक = अकेली ही; जनि = जानो; रंगापुर नटी = विश्व रंगस्थल की नटी; कज्जल = काजल; बानी = सरस्वती; परचण्डा = भीषण; देवसिंह = शिवसिंह के पिता और भवसिंह के पुत्र ।

भीत भक्त भयापनोदन
पाटल - प्रबल ।।
जय देवि दुर्गे दुरिततारिनि
दुर्ग मारि विमर्द कारिनि
भक्तिनम्र सुरासुराधिप
मंगलाय - तरा
गगनमण्डल गर्भगाहिनि
समरभूमिमु सिंहवाहिनि
परसु - पास - कृपानसायक
संख - चक्रधर ।।
अष्ट भैरवि संगमालिनि
सुकर कृत्तकपाल-कदम्बमालिनि
दनुजसोनित - पिसित-वर्द्धित
पारना - रभसे ।
ससारबन्ध निदानमोचिनि
चन्दभानुकृसानु लोचिनि
योगिनीगन गीत-शोभित
नृत्यभूमि रसे ।।
जगतिपालन जननमारन
रूप कार्य सहस्र कारन
हरिविरंचि महेस सेखर—
चुम्ब्यमान - पदे ।
सकल पापकला परिच्युति
सुकवि विद्यापति कृत स्तुति
तोसिते सिवासिंघ भूपति
कामना फलदे ।।

२—कनक-भूधर-शिखर = सुमेरु शिखर; चन्द्रिकाचय = ज्योत्स्ना समूह; दसन कोटि विकास बंकिम = जिसके अधर की वंकिम स्मिति; तुलित चन्द्रकले = द्वितीया की चन्द्रकला की तरह है; भयापनोदन = भय दूर करनेवाली। पाटल पटु, कुशल; कृत्तकपालकदम्ब मालिनि = कटे हुए सिर की कदम्बमाला धारण करनेवाली। सोनित = शोणित, रक्त; पिसित = मास वर्द्धित =

३

माधव, बहुत मिनति कर तोय।
दए तुलसी तिल देह समर्पिनु, दया जनि छाड़बि मोय।
गनइत दोसर गुन लेस न पाओवि, जब तुहुँ करबि बिचार।
तुहू जयत जगनाथ कहाओसि, जग बाहिर नइ छार।
किए मानुस पसु पखि भए जनमिए, अथवा कीट पतंग।
करम-बिपाक गतागत पुन पुन, मति रह तुअ परसंग।
भनइ विद्यापति अतिसय कातर, तरइत इह भव-सिंधु।
तुअ पद-पल्लब करि अवलम्वन, तिल एक देह दिनबन्धु।

४

हर जनि बिसरब मो ममिता, हम नर अधम परम पतिता।
तुअ सन अधमउधार न दोसर, हम सन जग नहि पतिता।
जम के द्वार जबाब कओन देब, जखन बुझत, निजगुन कर बतिया।
जब जम किंकर कोपि पठाएत, तखन के होत धरहरिया।
भन विद्यापति सुकबि पुनीत मति, संकर बिपरीत बानी।
असरन सरन चरन सिर नाओल, दया कर दिअ सुलपानी।

५

भल हर भल हरि भल तुअ कला, खन पित बसन खनहि बघछला।
खन पंचानन खन भुज चारि, खन संकर खन देव मुरारि।
खन गोकुल भए चराइअ गाय, खन भिखि माँगिए डमरु बजाय।

-दए = देकर; तुहुँ = तुम भी; कहाओसि = कहलाते हो; मानुस = मनुष्य; पखि = पक्षी; करम-बिपाक = कर्म-दोष से; पुन पुन = पुनः पुनः; अतिसय = अतिशय, अत्यधिक; कातर = कायर; तरइत = पार होता है; भव-सिंधु संसार रूपी सागर।

–जनि = मत; बिसरब = भूलना; ममिता = ममता को; अधमउधार = पतितोद्धारक; कओन देब = क्या दूँगा; बतिया = बात; किंकर = सेवक; कोपि = क्रोधित हो; पठाएत = भेजेगा; धरहरिया = पकड़ने वाला, पकड़ने की क्रिया; सुलपानी = शूलपाणि, शंकरजी।

-भल = भला; हर = शिव; हरि = विष्णु; तुअ = तुम्हारी; खन = क्षण; पित बसन = पीताम्बर; बघछला = व्याघ्र चर्म; पंचानन = पंचमुख; भुजचारि = चार भुजाएँ; चराइअ = चराते हैं; भसम = भस्म, भभूति, काँख = बगल मुसपानि सूलपाणि शंकरजी

खन गोबिन्द भए लिअ महादान, खनहि भसम भरु काँख वो कान।
एक सरीर लेल दुइ वास, खन बैकुंठ खनहि कैलास।
भनइ विद्यापति बिपरित बानि, ओ नारायण ओ सूलपानि।

६

ब्रह्मकमण्डलु वास सुवासिनि
सागर नागर गृहवाले।
पातक महिस विदारन कारन
धृत करवाल बीचि-माले॥
जय गंगे जय गंगे।
सरनागत भय भंगे॥
सुरमुनि मनुज रचित पूजोचित
कुसुम विचित्रित तीरे।
त्रिनयन मौलि जटाचय चुम्बित
भूति भूसित सित नीरे॥
हरिपद कमल गलित मधुसोदर
पुन्य पुनित सुरलोके॥
प्रविलसदमरपुरी - पद दान-
विधान विनासित सोके॥
सहज दयालुतया पातकिजन
नरकविनासन निपुने।
रुद्रसिंघु नरपति वरदायक
विद्यापति कवि भनित गुने।

७

निते मोयँ जाओं भिखि आनओ मागि।
कतहुँ न गेल मोरा संगहु लागि॥

६—सागर नागर = सागर रूपी नागर की गृहवाला हो; धृत = धारण किया; बीचिमाले = लहर रूपी करवाल (तलवार); त्रिनयन मौलि = शिव चूड़ा; जटाचय = जटा समूह; भूति = विभूति, शिव के सिर पर लगा भस्म (वैभव); मधुसोदर = मधुर न्याय (मधुर जल); प्रविलसदमरपुरी-पद दान-विधान = अमरी पुरी भेजने का फल प्रविलसित, प्रकाशित हो रहा है

झोरिआहु लेबाके नहि उसास।
इ पोसि होएत परतरक आस॥
एहे गउरि मोर कओन दोस।
बइसल जेम गन कओन भरोस॥
थूल पेट भूमि लड़ए न पार।
सिव देखए न पारह हमर बार॥
खेदि देहे बरु निकलि जाउ।
मोरे नामे भिखि मागि खाउ॥
देखह लोक हे अइसनि जोए।
मनुस उपरि कइसे माउग होए॥
अपना पुत के न जानए काज।
निठुर भइ कत मोहु सय बाज॥
भनइ विद्यापति देवकि देओ।
करिअ करम जइस हस न केओ॥
गणपति देखले होअ काज।
राय सिवासिंघ एकछत्र राज॥

-शिव गणेश की शिकायत करते हैं। कतहुँ=कहीं भी; झोरिआ=झोली को भी; परतरक=दूसरे की; गन=गणेश; थूल=स्थूल; भूमि लड़ए न पारे=भूमि पर दौड़ नहीं सकता; हमर बार=हमारे बच्चे को देख नहीं पाते; पार्वती के ऐसा कहने पर शिव कहते हैं— जोए=स्त्री; माउगी=स्त्री मउगी; पुत=पुत्र; काज=कार्य; मोहु सय=मेरे साथ; बाज=लड़ती है, देवकि देओ=देवी देव; हस न केओ=कोई हँसे न; गणपति देखले=गणेश के दर्शन मात्र से ही; होअ काज=कार्य सिद्ध होगा, मंगल होगा।

बंशी माधुरी

नन्दक नन्दन कदम्बेरि तरुतरे
धिरे धिरे टरलि बोलाव।
समय संकेत निकेतन बइसल
बेरि बेरि बोलि पठाव॥
सामरी तोरा लागि अनुखने बिकल मुरारि।
जमुनाक तिर उपवन उदबेगल
फिरि फिर ततहि निहारि।
गौरस बिके निके अवइते जाइते
जनि जनि पुंछ वनवारि॥
तोहे मतिमान सुमति मधुसूदन
बचन सुनह किछु मोरा।
भनइ विद्यापति सुन बरजौवति
वन्दह नन्दकिसोरा॥

९

सुन रसिया, अब न बजाऊ बिपिन बँसिया।
बार बार चरनारबिंद गहि, सदा रहव बनि दसिया
कि छलहुँ कि होएब के जाने, वृथा होएत कुल हँसिया
अनुभव ऐसन मदन-भुजंगम हृदय मोर गेल डसिया
नंद-नंदन तुअ सरन न त्यागब बलु जग होए दुरजसिया
विद्यापति कह सुनु बनितामनि तोर मुख जीतल ससिआ
धन्य धन्य तोर भाग गोआरिनि, हरि भजु हृदय हुलसिआ

८—बोलाव = बजाकर; बेरि बेरि = बार बार; बोलि = बुलाकर; पठ
भेजकर; उदबेगल = उद्विग्न हुए।
९—बजाऊ = बजाओ; बिपिन = वन; बँसिया = वंशी, चरनार
चरणारविंद; गहि = पकड़कर; बनि = बनकर; दसिया =
वृथा = व्यर्थ; हँसिया = हँसी; मदन-भुजंगम = कामदेव रू
गेलडसिया = डँस गया; बलु = भले ही; दुरजसिया = दुर्यश;
मनि = स्त्री-रत्न; ससिआ = चन्द्रमा; गोआरिनि = ग्वालिन,
हुलसिया = प्रसन्न होकर।

रूप वर्णन

देख-देख राधा-रूप अपारा ।
अपरुब के विहि आनि मिलाओल खिति तल लावनि-सार।
अंगहि अंग अनंग मुरछायत हेरए पड़ए अथीर।
मनमथ कोटि मथन करु जे जन से हेरि महि मधि गीर।
कत-कत लखिमी चरण-तल नेओछए रंगिनि हेरि विभोरि।
करु अभिलाख मनहि पद-पंकज अहोनिसि कोर अगोरि।

११

सैसव-जौवन दुहु मिलि गेल, स्रवनक पथ दुहु लोचन लेल ।
बचनक चातुरि लहु-लहु हास, धरनिये चाँद कएल परगास ।
मुकुर लई अब करई सिगार, सखि पूछइ कइर सुरत-विहार ।
निरजन उरज हेरइ कत बेरि, हँसइ से अपन पयोधर हेरि ।
पहिल वदरि सम पुन नवरंग, दिन-दिन अनँग अगोरल अंग ।
माधव पेखल अपुरुब बाला, सैसव यौवन दुहुँ एक भेला ।
विद्यापति कह तुहु अगेआनि, दुहुँ एक जोग इह के कह सयानि ।।

१२

खने खन नयन कोन अनुसरई, खने खन बसन धूलि तनु भरई ।
खने खन दसन-छटा छट हास, खने खन अधर आगे गहु बास ।
चउँकि चलए खने खन चलु मन्द, मनमथ पाठ पहिल अनुवन्ध ।
हिरदय—मुकुल हेरि-हेरि थोर, खने आँचर दय खने होए भोर ।

१०—अपरुब = अपूर्व रूप; विहि = विधि; खितितल = क्षितितल; लावनिसार = लावण्य का सार; हेरए = देखकर; अथीर = अधीर; अस्थिर; मधि = मध्य; लखिमी = लक्ष्मी; नेओछए = न्योछावर होना; विभोर = मुग्ध, अहोनिसि = अहर्निश; कोर = गोद; अगोरि = अगोरते हुए, रखवाली करना ।

११—सैवस = शैशव· जौवन = यौवन· लहु लहु = मन्द-मन्द; परगास = प्रकाश मुकुर दपण सुरत बिहार रति क्रीडा उरज = उरोज, स्तन, हेरइ =

बाला सैसव-ताहन भेंट, लखए न पारिअ जेठ-कनेठ।
विद्यापति कह सुनु बर कान, तरुनिम सेसव चिन्हइ न जान ॥

१३

जुगुल सैल सिम, हिमकर देखल, एक कमल दुहु जोति रे।
फुललि मधुरिफुल, सिंदुरलोटाएल, पांतिबसइलि गज मोति रे।
आज देखल जति, के पतिआएत, अपुरुब बिहि निरमान रे।
बिपरित कनक, कदलि तर सोभित, थल पंकज के रूप रे।
तथहु मनोहर, बाजन बाजए, जनि जागे मनसिज भूप रे।
भनइ विद्यापति, पुरुब पुन तह, ऐसनि भजए रसमन्त रे।
बुझल सकल रस, नृप सिवसिंघ, लखिमा देइ कर कन्त रे।

१४

चांद-सार लए मुख घटना करु लोचन चकित चकोरे।
अमिय धोय आँचर धनि पोछलि दह दिसि भेल उँजोरे।
जुग-जुग के बिहि बूढ़ निरस उर कामिनी कोने गढ़लो।
रूप सरूप मोयँ कहइत असंभव लोचन लागि रहली।
गुरु नितम्ब भरे चलए न पारए माझ खानि खोनि निमाई।
भाँगि जाइत मनसिज धरि राखलि त्रिबलि लता अरुझाई।
भनइ विद्यापति अद्‌भुत कौतुक ई सब बचन सरूपे।
रूप नरायन ई रस जानथि सिवसिंघ मिथिला भूपे।

१२—खने खन = क्षण-क्षण; कोन अनुसरई = तिरछे होते हैं; दसन = दाँत; बास = वस्त्र; अनुबन्ध = प्रतिज्ञापत्र; हिरदय-मुकुल = हृदय-कली; भोर = विभोर; लखए न पारिअ = देखते नहीं बनता; विवेक नहीं कर पाती; जेष्ठ = ज्येष्ठ; कनेठ = कनिष्ठ; कान = श्रीकृष्ण; चिन्हइ = चिह्नों की, पहिचान।

१३—जुगल सैल = कुचद्वय; सिम = सीमा; कमल = मुख कमल; दुइ जोति = चक्षु; पाँति = पंक्ति; पतिआएत = प्रतीति करेगा; बिहि = विधाता; निरमान = निर्माण; थलपंकज = स्थल कमल; तथहु = वहाँ पर भी।

१४—चाँद-सार = चन्द्र-तत्व; घटना = रचना; अमिय = अमृत; आँचर = आँचल; उँजोरे = प्रकाशित; गढ़ली = बनाई, निर्मित की; माझ खानि = मध्य भाग में, खीनि = क्षीण त्रिबलि = उदर की तीन रेखाएं; अरुझाई = । भाँगि जाइत = भग हो जायगी

१५

माधव कि कहब सुन्दर रूपे।
कतेक जतन बिहि आनि समारल
देखलि नयन सरूबे।
पल्लवराज चरण-युग शोभित
गति गजराजक भाने।
कनक-कदलि पर सिंह समारल
तापर मेरु समाने।
मेरु उपरि दुइ कमल फुलायल
नाल विना रुचि पाई।
मनिमय हार धार बह सुरसरि
तें नहि कमल सुखाई।
अधर-बिम्ब सन दसन दड़िम-विजु
रवि ससि उगथिक पासे।
राहु दूरि वसु नियरो न आवथि
तें नहि करथि गरासे॥
सारंग नयन बचन पुन सारंग
सारंग तसु समधाने।
सारंग उपर उगल दस सारंग
केलि करथि मधुपाने।
भनई विद्यापति सुन वर यौवति
एहन जगत् नहि जाने॥
राजा सिवसिंघ रूपनरायन
लखिमादइ प्रति भाने॥

१५—कतेक = कितना; स्वरूप = प्रत्यक्ष; पल्लवराज = कमल; फुलायल = फूल गया; सुरसरि = गंगा; उगथिक = उदित हुआ है; नियरो = निकट; आवथि = आता है; सारंग नयन = हरिणी-तुल्य नेत्र; वचन पुन सारंग = कोयल के समान स्वर; सारंग तसु समधाने = उसके कटाक्ष मदन के समान हैं; सारंग उपर = मुख कमल पर; उगल = उदित हुआ; दस सारंग = दस भ्रमर तुल्य चूर्ण कुन्तल; सारंग = हरिण भ्रमर, सर्प, मेघ,

१६

ससन-परस खसु अम्बर रे देखल धनि देह।
नव जलधर तर चमकाए रे जनि बीजरि देह॥
आज देखलि धनि जाइते रे मोहि उपजल रंग।
कनकलता जनि संचर रे महि निरअवलम्ब॥
ता पुन अपरुब देखल रे कुच जुग अरविन्द॥
विगसित नहिं किछु कारन रे सोझा मुखचन्द॥
विद्यापति कवि गाओल रे रस बुझाए रसमन्त॥
देवसिंह नृप नागर रे हासिनि देवि कन्त॥

१७

मृगमद पंक अलका।
मुख जनु करत तिलका॥
निपुन पुनिम के चन्दा।
तिलके होएत गए मन्दा॥
सहजहि सुन्दरि बड़ि राही।
कि करबि अधिक पसाही॥
उजर नयन नलिना।
काजरे न कर मलिना॥
दुधक धोएल भमरा।
मसि बुड़ि जाएत समरा॥
पीन पयोधर गोरा।
उलटल कनक कटोरा॥
चन्दने धवल न करु।
हिमे बुड़ि जाएत सुमेरु॥
भनई विद्यापति कवी।
कतए तिमिर जहाँ रवी॥

१६—ससन = श्वसन; खसु = गिर पड़ा; अम्बर = वस्त्र; तर नीचे; मोहि = मुझे; महि = पृथ्वी; निरअवलम्ब = असहाय; सोझा = सम्मुख।
१७—जनु = मानों निपुन = सुन्दर पसाही = प्रसाधन करके; उजर = उजला मसि स्याही, बूडि डूबकर, समरा काला रंग

१८

सहजहि आनन सुन्दर रे
भँउह सुरेखल आँखि।
पंकज मधु पिवि मधुकर
उड़ए पसारय पाँखि।
ततहि धाओल दुहु लोचन रे
जतहि गेलि वर नारि।
आसा लुबुध न तेजए रे
कृपनक पाछु भिखारि॥
इंगित नयन तरंगित देखल
बाम भँउह भेल भंग।
तखने न जानल तेसरे
गुपुत मनोभव रंग॥
चन्दने चरचु पयोधर
गीम गजमुक्ताहार।
भसमे भरल जनि शंकर
सिर सुरसरि जलधार।
बाम चरण अगुसारल
दाहिन तेजइते लाज।
तखन मदन सरे पूरल
गति गंजए गजराज॥
आप जाइते पथ देखलि रे
रूप रहल मन लागि।
तेहि खन सयें गुन गौरव रे
धैरज गेल भागि॥
रूप लागि मन धाओल रे
कुच कंचन गिरि साँधि।
ते अपराधे मनोभव रे
ततहि धएल जनि बाँधि॥

१८—भँउह = भौंह; सुरेखलि = सुरेखायुक्त; तेसरे = तीसरे; गीम = ग्रीवा;
गंजए = लजाती है सयें = से, उसी क्षण से।

विद्यापतिकवि गाओल रे
रस बुझ रसमन्ता।
रूपनरायन नागर रे
लखिमा देविक सुकन्ता।।

१६

सुधामुखि को बिहि निरमल बाला।
अपरूप रूप मनोभव-मंगल
त्रिभुवन विजयी माला।।
सुन्दर बदन चारु अरु लोचन
काजरे रंजित भेला।
कनक कमल माझे काल भुजंगिनी
श्रीयुत — खंजन — खेला।।
नाभि-विवर सञ लोभ लतावलि
भुजगि निश्वास — पियासा।
नासा-खगपति - चंचु-भरम-भये
कुच - गिरि - सान्धि निवासा।।
तिन वाने मदन जितल तिनभुवने
अवधि रहल-दउ वाने।
विधि बड़ दारुन बंधिते रसिक जन
सौंपल तोहारि नयाने।।
भनये विद्यापति सुन वर यूवति
इह रस को पये जान।
राजा शिवसिंह रूपनरायण
लखिमा देवि परमान।।

१६—को विहि = किस विधाता ने; अपरूप = अपूर्व; मनोभव = कामदेव को भी सौभाग्य देनेवाला; काल भुजंगिनी = काली; नागिनें = भौंहें; श्रीयुत = सुन्दर; खंजन, नयन के लिए। नाभि विवर सयँ...लोम लतावलि = नाभि के पास से उठनेवाली सूक्ष्म रोमावली = मानों साँस की प्यासी, श्वास लेने के लिए बाहर निकली हो। नास खगपति चंचु भरम = नासिका गरुड़ की चोंच के समान है, उससे डरकर कुचों के बीच छिप रही है। तिनवाने = तीन बाणों से। सौंपल तोहरि नयाने = ये दोनों अवशिष्ट बाण तुम्हारी आँखों को सौंप दिये गए।

२०

माधव जाइति देखवि पथ रामा।
गरुड़ासन सख-तातक वाहन
ता सम गति अभिरामा॥
दच्छसुता चारिम पति-भगनी—
तनय-घरनि सम रूपे।
सुरपति-अरि-दुहिता—पति वैरी
तें भरि भेलि अनूपे॥
अदिति--तनय--वैरी--गुरु चारिम
ता सम आनन काँती।
कुम्भ--तनय तसु असन--तनय तसु
कोख पेसाओलि पाँती॥
नन्दघरनि—तनया तसु वाहन
ता सम माँझक छीनी।
कामधेनु—पति ता पति प्रिय फल
उरज हनल जिमि जोमी॥
भनहि विद्यापति सुनु वर जौवति
अपुरुब रूपक रंगे।
रावन—अरि—पतनी—तारक—तय
ता सह पाबिअ संगे॥

रामा = (लक्ष्मी) प्रेमिका; राधा; गरुड़ासन = कृष्ण; सख = अर्जुन, तातक वाहन = पिता का वाहन यानी इन्द्र के वाहन ऐरावत की तरह गति वाली है, गजगामिनी; दच्छसुता = रोहिणी; चारिम = चौथी पुत्री; उसके पति यानी चन्द्रमा की बहन लक्ष्मी यानी रुक्मिणी का पुत्र प्रद्युम्न = कामदेव; घरनि = रति (स्त्री) रति के समान सुरूपा; सुरपति-अरि-दुहिता पति वैरी = इन्द्र के शत्रु हिमालय की दुहिता पार्वती के पति शिव के शत्रु कामदेव ने खूब अनुपम सहायता की; अदिति तनय-वैरी गुरु चारिम इन्द्र के शत्रु दानवों के गुरु शुक्र से चौथा नक्षत्र चन्द्रमा के समान मुख-कान्ति वाली; कुम्भतनय = अगस्त्य = तसु असन-तनय = समुद्र पुत्र = मुक्ता कोख = [illegible] पेसाओलि = पहना पाँती अवली हार।

[illegible] दुर्गा के

२१

अमिअक लहरी बम अरविन्द

विद्रुम पल्लव फुलल कुन्द ॥

निरखि निरखि मैं पुनु पुनु हेरु ।

दमन-लता पर देखल सुमेरु ॥

साँच कहओं मैं साखि अनंग ।

चान्दक मण्डल जमुना तरंग ॥

कोमल कनक केआ मुति पात ।

मसि लए मदने लिखल निज बात ॥

पढ़हि न पारिअ आखर—पाँति ।

हेरइत पुलकित हो तनु काँति ॥

भनइ विद्यापति कहओं बुझाए ।

अरथ असम्भव के पतिआए ॥

२२

सांझक बेरि उगल नव ससधर

भरमे विदित सवितांहु ।

कुण्डल चक्र तरासे नुकाएल

दूर भेल हेरथि राहु ॥

जनु बइससि रे वदन हाथ चलाइ ।

तुअ मुख चंगिम अधिक अपल भेल

कति खन धरव लुकाई ॥

रक्तोपल जनि कमल बइसाओल

नील नलिनि दल तहु ।

२१—बम = उद्‌गीरणा करता है; विद्रुम = प्रवाल; साखि = साक्षं
= कनकनिर्मित; पात = पात्र; आखर पाँति = अक्षर पंि
= शरीर-कान्ति; अरथ = अर्थ; पतिआए = प्रतीति करेगा

२२—भरमे विदित सवितांहु = जिसे देखकर सूर्य का भ्रम
त्रास से। नुकाएल = लुका, छिपा; हेरथि = देखता
चलाइ = मुँह को हाथ से ढँककर मत बैठो; चंगिम = शोभ
लाल कमल (हथेलियाँ) कमल = (मुँह के लिए); बइसा
गया नील नलिनी = नीले कमल (आँखें) तिमक कुसुम =
नाक के लिए), कीर = शुक।

तिलक कुसुम तहु माझु देखिकहु
भमर आवथि लहु लहु ।।
पानि—पलव—गत अधर विम्ब-रत
दसन दाड़िम विज तोरे।
कीर दूर भेल पास न आवए
भौंह धनुहि के भोरे ।।

२३

सरस बसन्त समय भल पाओलि
दखिन पवन बहु धीरे।
सपनहुँ रूप वचन एक भाखिए
मुख सो दूरि करु चीरे।
तोहर वदन सम चान होअथि नहि
जइओ जतन विहि देला।
कए वार काटि बनाओल नव कए
तइओ तुलित नहि भेला।
लोचन तुअ कमल नहि भए सक
से जग के नहि जाने।
से फेरि जाए नुकेलाइ जल—मय
पंकज निज अपमाने।
भनइ विद्यापति सुनु वर यौवति
ई सव लछमी समाने।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन
लखिमा दे पति भाने।

२४

वदन चाँद तोर नयन चकोर मोर
रूप अमिय — रस पीवे।
अधर मधुर फुल पिया मधुकर तुल
बिनु मधु कत खन जीवे ।।
मानिन मन तोर गढ़ल पसाने।

२३—चान = चन्द्रमा; होअथि = है; जतन = यत्न; विहि = विधि; तुलित = समान, नुकेलाइ = छिपे

ककें न रभसे हसि किछु न उतरि देसि
सुखे जाओ निसि अवसाने ।।
परमुखे न सुनसि निअ मने न गुनसि
न बुझसि लडलरी वानी ।
अपन अपन काज कहइत अधिक लाज
अरथित आदर हानी ।
कवि भन विद्यापति अरेरे सुनु जुवति
नहे नूतन भेल माने ।
लखिमा देह पति सिवसिंघ नरपति
रूपनरायण जाने ।।

२४—तुल = तुल्य, समान; कत खन = कितने क्षण; गढ़ल = निर्मित हुआ है; पसाने = पाषाण से; ककें = किसको; रभसे = शोभायुक्त ढंग से; देसि = देती है; निअ = अपने; गुनसि = सोचती है; बुझसि = समझती है; लडलरी = प्यार युक्त; अरथित आदर हानि = ज्यादा स्पष्ट कहने से हानि होगी ।

दूती प्रसंग

करिवर राजहंस जवि गामिनि
चललिहुँ संकेत गेहा।
अमला तड़ित दण्ड हेमंजरि
जिनि अति सुन्दर देहा॥
जलधर तिमिर चामर जिन कुन्तल
अलका भृङ्ग सैवाले।
भ्राभूलता धनु भ्रमर भुजंगिनि
जिनि आध विधुवर भाले
नलिनि चकोर सफरि वर मधुकर
मृगि खंजन जिनि आखी।
नासा तिलफुल गरुड़-चंचू जिनि
गिधिनि स्रवण विसेखी॥
कनक-मुकुर ससि कमल जिनिया मुख
जिनि बिन्दु अधर पवारे।
दसन मुकुता जिनि कुन्द करग-बीज
जिनि कम्बु-कण्ठ आकारे॥
बेल ताल जुग हेम-कलस गिरि
कटोरि जिनिआ कुच साजा।
बाहु मृणाल पास बल्लरि जिनि
डमरू सिंह जिनि माझा॥
लोम लतावलि सैवल कज्जल
त्रिवलि तरंगिनिरंगा।
नाभि सरोवर सरोरुहदल जिनि
नितम्ब जिनिआ गजकुम्भा॥

—करिवर = हाथी गजराज· अमला = निर्मल हेममंजरि स्वर्ण मंजरी

उरुजुग कदलि करिवर-कर जिनि
स्थल पंकज जिनि पदपानी ।
नख दाड़िम बीज इन्दुरतन जिनि
पिकु जिनि अमिया बानी ।।
भनइ विद्यापति अपरुप मूरति राधारूप अपारा
राजा सिवसिंघ रूपनरायन एकादस अवतारा ।।

२६

विरह व्याकुल बकुल तरुतर, पेखल नन्द-कुमार रे
नील नीरज नयन सयँ सखि, ढरइ नीर अपार रे
पेखि मलयज-पंक-मृगमद, तामरस घनसार रे
निज पानी-पल्लव मूँदि लोचन, धरनि पड़ असंभार रे
बहइ मन्द सुगन्ध सीतल, मन्द मलय-समीर रे
जनि प्रलय कालक प्रबल पावक, दहइ सून सरीर रे
अधिक बेपथ टूटि पड़ खिति, मसृन मुकुता-माल रे
अनिल तरल तमाल तरुवर, मुंच सुमनस जाल रे
मान-मानि तजि सुंदरि चलु जहँ, राए रसिक सुजान रे
सुखद स्तुति अति सरस दण्डक, कवि विद्यापति भान रे

२७

पिया परवास आस तुअ पासहि
तें कि बोलह जदि आन ।
जे प्रतिपालक से भेल पावक
इथी कि बोलत आन ।।
साजनि अघटन घटावह मोहि ।
पहिलहि आनि पानि पियत में गहि
करे धरि सोपलिहु तोहि ।।
कुलटा भए जदि पेम बढ़ाइअ

६—बकुल = मौलिश्री का वृक्ष; पेखल = देखा; सयँ = से; ढरइ =
घनसार = कपूर; सून = शून्य; वेपथ = व्यथा; खिति = क्षिति;
मसृन [illegible] तमाल = वृक्ष विशेष सुमनस जाल = पुष्प [illegible]
[illegible] स्तुति ध्वनि आवाज दण्डक = छदविशेष

वेँ जीवने की काज।
तिला एक रंग रभस सुख पाओब
रहत जनम भरि लाज॥
कुल कामिनि भए निज पिय बिलसए
अपथे कतहु नहि जाइ।
की मालती मधुकर उपभोगए
किवा लताहि सुखाइ॥
विद्यापति कह कुल रखले रह
दूति वचने नहि काज।
राजा शिवसिंह रूपनरायन
लखिमा देवि समाज॥

२८

ए धनि कर अवधान।
तो विने उनमत कान॥
कारण विनु खिने हास।
कि कहए गदगद भास॥
आकुल अति उतरोल।
हा धिक हा धिक बोल॥
काँपए दुरवल देह।
धरइ ना पारइ केह॥
विद्यापति कह भाखि।
रूपनरायन साखि॥

२१

लाख तरुअर कोटिहि लता
जुवति कत न लेख।
सब फूल मधु मधुर नाहीं
फूलहु फूल विसेख॥

२७—आस = आशा; पावक = अग्नि, भक्षक; गहि = लेकर; कतहु = कभी भी; सुखाइ = सूख जाता है। तिला एक = एक तिल के बराबर।

२८—अवधान = ख्याल; उनमत = उन्मत्त; पागल; खिने = क्षीण, उतरोल = चंचल।

जे फूल भमर निन्दहु सुमर
बास न बिसरए पार।
जाहि मधुकर उड़ि उड़ि पड़
सेहे संसारक सार॥
सुन्दरि, अबहु वचन सुन।
सबे परिहरि तोहि इछ हरि
आपु सराहहि पुन॥
तोहरे चिन्ता तोहरे कथा
सेजहु तोरिए चाओ॥
सपनेहु हरि धुन पुन कए,
लए उठि तरिए नाओ॥
आलिगन दए, पाछ् निहारए
तोहि बिनु सन कोर।
अकथ कथा आपु अवथा
नयने तेजये नीर॥
राहि राही जाहि मुँह सुनि
ततहि अप्पए कान।
सिरि सिवसिंघ इ रस जानए
कवि विद्यापति भान॥

३०

माधव, दुर्ज्जय मानिनि-मानि।
बिपरति, चरित पेखि चकरित भेल, न पुछल आधहु बानि।
तुअ रूप साम अखर नहि सूनए, तुअ रूप रिपु सम मानि।
तुअ जन सयँ सम्भास न करई, कइसे मिलाएब आनि।
नील बसन बर, काँचन चुरि कर, मौतिक माल उतारि।
करि-रद चुरि कर मोति माल बर, पहिरल अहनिम सारि।
बसिउ चित्र उर पर छल, मेटल, मलयज देह लगाइ।

२९—तरुअर = तरुवर; विसेख = विशेष; निन्दहु = नींद में भी; सुमर = स्मरण करता है; इछ = इच्छा करता है; सराहहि = सराहना करता है; चाओ = चाव से, नाओ नाम, आपु अवथा अपनी अवस्था

मृगमद तिलक धोइ दृगंचल, कच सयँ मुख लय छपाइ।
एक तील छल चारु चिबुक पर, निन्दि मधुप-सुत सामा।
तृन अग्रे करि मलयज रंजल, ताहि छपाओल रामा।
जलधर देखि चन्द्रातप झाँपल, सामरि सखि नहि पास।
तमाल तरुगन चूना लेपल, सिखि पिक दूरि निवास।
मधुकर डर धनि चम्पक-तरु तल, लोचन जल भरिपूर।
सामरि चिकुर हेरि मकुर पटकल, टूटि भग गेल सत चूर।
तुअ गुन-गाम कहए सुक पंडित, सुनतहि उठल रोसाइ।
पिंजर झटकि फटिक पर पटकल, धाए धएला तहि जाइ।
मेरु सम मान सुमेरु कोप सम, देखि भेल रेनु समान।
विद्यापति कह राहि मनवाए, आपु सिधारह कान।

३१

गगनक चान्द हाथ धरि देयलुँ
कत समुझायल निति।
मत किछु कहल सबहु ऐछन भेल
चीतपुतली समरीति।।
माधव वोध ना मानइ राइ।
बुझइते अवुझ अबुझ करि मानए
कतइ बुजायवि ताइ।।

३०—मानिनि = मानिनी; पेखि = देखकर; चकरित = चकित; आधहु = आधा भी; साम = श्याम; अखर = अक्षर; तुअजन = तुम्हारे समान; सम्भास = संभाषण; काँचन चुर = कांच की चूड़ी; कर = हाथ; पौतिक = नीलमणि; करि-रद चुरि = हाथी की दाँत की चूड़ी; अरुनिम = अरुणिम; सारि = साड़ी; असित = काला; मलयज = चन्दन; मृगमद = कस्तूरी; दृगंचल = अक्षि प्रदेश, आँखों के कोने से; कच = केश; छपाइ = छिपाकर; तील = तिल; चिबुक = ठ‍ाड़ी; निन्दि = निन्दाकर; सामा = श्यामलता; सिखि = मयूर; पिक = कोयल; चिकुर = केश; मुकुर = दर्पण; पटकल = पटक दिया, रोसाइ = रिसियाकर; फटिक = स्फटिक; धाए = दौड़कर, धएल पकड़ा, तहि = उसे राहि = राधा

तोहारि मधुर गुन कतहि थापलु
सबहि कठिन करि माने।
ये छन तुहिन बरिखें रजनी
कर कमल नासहए पराने॥
विद्यापति वाणी सुन सुन गुनमणि
आपे करह पयान।
राजा सिवसिंह रूपनरायण
लछिमा देइ रसगान॥

३१ — चीतपुतली सम = चित्रित पुतली के समान; थापुल = स्थापित किया; तुहिन = ओस, तुषार। तुषार से कमलिनी के पत्ते गल जाते हैं, वैसे ही प्राण गल रहे हैं। पयान = प्रस्थान कीजिए; स्वयं जाइए।

बसन्त-मिलन

माघ मास सिरि पंचमी गँजाइलि
नवए मास पंचम हरुआई।
अति घनपीड़ा दुख बड़ पाओल
वनसपती के बधाइ हे॥
सुभ खन बेरा सुकुल पक्ख हे
दिन कर उदित-समाई।
सोलह सँम्पुने बत्तिस लखने
जनम लेल रितुराई हे॥
नाचए जुवतिगण हरखित जनमल
बाल मधाई हे।
मधुर महारस मंगल गावए
माननि मान उड़ाई हे॥
वह मलयानिल ओत उचित हे
नव घन भओ उजियारा।
माधव फूल भल गज मुकुता तुल
ते देल वन्दनेवारा॥
पीअरी पाँउरि महुअरि गावए
काहरकार धतूरा।
नागेसर-कलि संख धूनि पुर
तगर ताल समतुला॥
मधु लए मधुकरे बालक दएहलु
कमल - पखुरिआ झुलाइ।
औअनाल तोरिकरि सुत बाँधल
केसु कएलि बधना॥
नव नव पल्लव सेज ओछाओल
सिरि देल कदम्बक माला।
बेसलि भमरी हर उदगावए
चक्का चन्द निहारा।

कनए केसुआ सुति - पए लिखिए हलु
रासि नछए कए लोला।
कोकिल गनित-गुनित भल जानए
रितु बसन्त नाम थोला।
बाल बसन्त तरुण भए धाओल
बेढ़ए सकल संसार ॥
दखिन पवन घन राग उगारए
कुवलए कुसुम-परागे।
सुललित हार मजरि घन कज्जल
आखितओ अंजन लागे।
नव बसन्त रितु अनुसर जौवति
विद्यापति कवि गाया।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन
सकल कला मना भाया।

३३

ऋतु-पति-राति रसिक-बरराज।
रसमय रास रभस-रसमाझ ॥

३२—गंआइलि = गर्भ पूर्ण हुआ। नवें महीने के पाँचवें दिन यानी श्रीपंचमी को हुरुआई = प्रसव किया; उदित-समाई = उदय वेला में; सोलहु संपुने = सोलह कला सम्पूर्ण; बत्तीस लखने = बत्तीस लक्षणों के साथ; ओत = ओट; पाँउरी = पाटली पुष्प, कनेर; काहूरकार = काहुल वादक, तूर्यवादक, धतूरा = धतूरे का पुष्प (आकार साम्य); नागेसर = नागकेसर; धूनि = ध्वनि; पूर = पूरा करने लगी; तगर = एक पुष्प; पौंअनाल = पद्मनाल, सुत बाँधल = कमर सूत्र, कटिसूत्र बँधा; केसु = किंशुक फूल का बघनखा बना। दृष्टिदोष परिहार के लिए बघनखा पहनाया जाता है। सूरदास ने भी इसका प्रयोग किया है। हर उदगावे = हलराना, लोरी गाना कनए केसुआ सुति = स्वर्ण वर्ण के केशर सूत्र से; रासि नछए = राशि नक्षत्र; कए लोला = गुन कर; बेढ़ए = छेड़खानी करने लगा; राग = पराग; उगारए = उद्गीर्ण करता है; मजरि = मंजरियों का; घन = बादल कज्जल काजल।

रसवति रमनीरतन धनि राहि।
रास-रसिक सह रस अवगाहि॥
रंगिनिगन रस रंगहि नटई।
रनरनि कंकन किंकिनी रटई॥
रहि रहि राग रचये रसवन्त।
रतिरत-रागिनि-रमन वसन्त॥
रटति रबाब महति कविनाश।
राधारमन करु मुरलि-विलास॥
रसमय विद्यापति कवि भान।
रूपनरायन भूपति जान॥

३४

आएल वसन्त सकल रसमंडल कुसुम भेल सानंद।
फुलली मल्ली भखल भमरा पीवि गेल मकरन्द॥
भाविनी आबे कि करहु समाधाने।
नहि नहि करि परिजन परबोधए लखन देखिय आवे आने॥
नख खत केसु पयोधर पूजल परखत भए गेल लोते।
सुमेरु सिखर चढ़ि ऊगल ससधर दह दिसि भेल उजोते॥
विनु कारने कुंतल कैसे आकुल एहु जुगति नहि ओछी।
कुमकुम केरि चोरि भलि फाउलि काँधन मेलिए पोछी॥
भनइ विद्यापति अरे वरयौवति एहु वसन्त पँचवाने।
राजा सिवसिंह रूपनरायन लखिमा देइ रमाने॥

३३—धनि राहि = धन्या राधिका; राधा नायिका; अवगाहि = अनुभव करके डूब करके; रटई = आवाज करती है; रबाब = एक प्रकार का वाद्य छोटी सारंगी; कविनाश = एक प्रकार का वाद्य; महति (ध्वन्यात्मक) शब्द करता है।

३४—रसमंडल = रस का भंडार। मल्ली = मल्लिका। आवे = अब। करहु = करोगी; परबोधए = समझाती है। लखन = लक्षण। देखिय आवे आने = अन्य ही देखने में आते हैं। नख खत केसु = लाल किंशुक फूल की तरह नखक्षत। लोते = अलोते, छिपे हुए। उजोते = उद्योतित हुआ फाउलि = पाउलि पाया।

३५

नव रतिपति नव परिमल नव मलयानिल धार।
नवि नागरि नव नागर विलसए पुन कले सवे सवे पार ॥
मानिनि आव कि मान तोहार।
अपन मान पावक भए पइसल लुलए मन भण्डार।
एत दिन मान भलेहुँ तोहें राखल पंचवान छल थोल।
अवे अनंग हे सरीरो देखिअ समय पाय की बोल ॥
विद्यापति कह के वसन्तसह मुनिहुँक मनही लोभे
लखिमा देविपति रूपनरायन षट्ऋतु सवे रस सोभे।

३६

कुंज-भवन सँ चलि भेलि हे
रोकल गिरधारी।
एकहि नगर बसु माधव हे
जनु कर बटमारी ॥
छाड़ कन्हैया मोर आँचर हे
फाटत नवसारी।
अपजस होएत जगत भरि हे
जनु करिअ उधारी ॥
संगक सखि अगुआइलि रे
हम एकसर नारी।
दामिनी आय तुलाइलि हे
एक राति अन्धारी ॥
भनइ विद्यापति गाओल हे
सुनु गुनमति नारी।
हरिक संगे किछु डर नहि हे
तुहे परम गमारी ॥

३५—पुन कले = पुण्य करने से; पइसल = प्रवेश किया; लुलए = जलाता है, मुनिहुँक = मुनि का भी।

३६ रोकल = छेका बसु = रहकर जनु = मत तुलाइलि = तुलित हुई, चमकी, गमारी = ग्रामीणा

३७

प्रथम समागम के नहि जान।
सम कए तौलन पेम परान॥
कसल कसौटा न भेल मलान।
बिनु हुतवहे भेल बारह बान॥
विकलए गेलिहु रतन अमोल।
चिन्हिकहु बणिके घटाओल मोल॥
सुलभ भेल सखि न रहए भार।
काच कनक रए गाँथ गमार॥
भनइ विद्यापति असमय वानि।
लाभ लाइ गेलाहु मुलहू भेल हानि॥

३८

फुल एक फुलवारि लाओल मुरारि।
जतनइ पटओलनि सुवचन वारि॥
चौदिस बाँधलनि सोल आरि।
जीव अवलम्बन करु अवधारि॥
तथहुँ फुलल फुल अभिनव पेम।
जसु मूल लहय न लाखहु हेम॥
अति अपुरुब फुल परिनत भेल।
दुइ जीव अछल एक भए गेल॥
पिसुन कीट नहि लागल ताहि।
साहसें फल देल विहि निरवाहि॥
विद्यापति कह सुन्दर सेह।
करिअ जतन फलमत होइ जेह॥

तौलल = तोला; कसौटा = कसौटी; कषपट्टिका; हुतवहे = अग्नि (में तपाए बिना) बारह बान = शुद्ध सोना। यह शब्द मध्यकालीन साहित्य में अनेक बार आया है। सूरदास ने भ्रमरगीत सार पद संख्या ४० में तथा जायसी ने १७२।६ में इसका उल्लेख किया है। बीसलदेव रासो में सोलह बानि का उल्लेख है। लाभ लाइ = लाभ के लिए। मुलहू = मूलधन की भी।

लाओल = लाए; जतनइ = यत्न से; पटओलनि = पटाया, पानी से खेत पटाया, सींचा, बाँधलनि = बाँधा सोलक = शील का, शील पूर्ण

अभिसार

वारिस जामिनी कोमल कामिनि
दारुन अति अन्धकार
पथ निसाचर सहसे संचर
घन पच अति जलधार ॥
माधव प्रथम नेहे से भीति
गए अपनहि सेअ बिलोकिअ
करिअ तेसनि रीति ॥
अति भयाउनि आतर जँउनि
कइसे कए आउति पार ।
सुरत-रस सुचेतन वालमु
ता पति सबे असार ॥
एत शुनि मन विमुख सुमुखि
तोहे मने नहि लाज ।
कतए देखल मधु अपने जा
मधुकर समाज ।

४०

घन घन गरजये, घन मेह वरखिये दशदिश नाहि परकासा ।
पथ विपथहुँ चिन्हये न पारिये कोन पुरये निज आसा ॥
माधव आजु आयलुँ वड़बन्धे ।
सुख लागि आयलु बहु दुख पायलुं पाप मनोभव सन्धे ॥
कण्टक पंकये द्रुम हाम तोरलुँ जलधर वरखिए माथे ।
जत दुख पायलुँ हृदय हाम जानुलुँ काहाके कहब दुख वाते ॥
लाभकि लोभे दुतर तरि आयलुँ, जीउ रहल पुनभागि ।
हेरइते ओ मुख विसुरल सब दुख एनेह काहु जानि लागि ॥
भनइ विद्यापति सुन वर युवती इह सुख को पय जान ।
राजा सिवसिंह रूपनरायन लछिमादइ परमान ॥

३८—नेहे = स्नेह में; गए अपनहि = स्वयं जाकर; जँउनि = यमुना; आउति पार = पार होकर आवेगी तापति = तापति, उसके लिए ।

४१

पुरुष भमर सम कुसुमे कुसुमे रम
पेअसि करए कि पारे।
डर न राखल पहु परतख भेलनहु
ओर धरि भेल विचारे।
भल न कएल तोहें सुमुखि सरुप कोहोंउ
लेपन पिअ अपराधे।
सेहे सआनी नारि पिअगुन परचारि
बेकतओ दोष नुकावे।
निसि निसि कुमुदिनी ससधर पेम जिमि
अधिक अधिक रस पावे।
भनइ विद्यापति अरे रे वर जुवति अवहू अरिअ अवधाने।
राजा सिवसिंह रूपनरायन लखिमा देवि रमाने।

४१—करए कि पारे = क्या कर सकती है; लेपन अपराधे = अपराध लगाना; परतख = प्रत्यक्ष; बेकतओ दोष = दोष व्यक्त होने पर भी; नुकावे = छिपाती है; अवधान = ख्याल करो।

मान

सुपुरुष प्रेम सुधनि अनुराग।
दिने दिन वाड़ अधिक दिन लाग॥
माधव हे मथुरापति नाह।
अपन वचन अपने निरवाह॥
कमलिनी सूर आने अनुभाव।
भमि भमि भमर मदन गुन गाव॥
भनई विद्यापति एह रस भान।
सिरि हरिसिंघ देव इ रस जान॥

४३

दखिन पवन बह दिस रोल, जनि वादी भाषा बोल।
मनमथ काँ साधन नहि आन, निरसाएल से मनिनि मान।
माइ हे सीत-बसंत बिवाद, कओन विचारब जय-अवसाद।
दुइ दिस मधथ दिवाकर भेल, दुजवर कोकिक साखी देल।
नव पल्लव जमपत्रक भाँति, मधुकर-माला आखर-पाँति।
वादी तह प्रतिवादी भीत, सिसिर-बिन्दु हो अन्तर सीत।
कुन्द-कुसुम अनुपम विकसंत, सतत जीत बेकताओ बसन्त।
विद्यापति कवि एहो रसभान, राजा सिवसिंघ एहो रसजान।

४२—सुधनि = अच्छी नायिका; लाग = स्थायी होना; निरवाह = निर्वा
सूर = सूर्य, आने = अन्य प्रकार का, असामान्य। हरिसिंघ = देवसिंह
भाई एवं शिवसिंह के चाचा।

४३—दखिन पवन = दक्षिणी वायु; दस दिस = दश-दिशाएँ; रोल = दोल
यमान, आन्दोलित; जनि = मानो; भासा = भाषा; आन = अ
निरसायल = नीरस कर दिया; कओन = कौन; बिचारब = बि
करेगा; अवसाद = पराजय; मधथ = मध्यस्थ; दिवाकर = सूर्य;
वर = द्विजवर; साखी = साक्षी; आखर पाँति = अक्षरों की पं
भीत = भय-भीत, कुन्द कुसुम = पुष्प विशेष अनुपम = अनोखा, सतत
निरन्तर, बेकताओ = व्यक्त करता है।

अभिनव पल्लव वइसक देल, धवल कमल फुल पुरहर भेल।
करुमकरंद मंदाकिनि पानि, अरुन असोग दीप दहु आनि।
माह हे आज दिवस पुनमंत, करिए चुमाओन राय वसंत।
सपुन सुधानिधि दधि भलगेल, भमि भमि भमरि हंकारइ देल।
टेसु कुसुम सिंदुर सम भास, केतिक धूलि बिथरहु पटवास।
भनइ विद्यापति कविकंठहार, रसबुझ सिवसिंघ सिव अवतार।

४५

नाचहु रे तरुनी तजहु, आएल वसन्त रितु बनिक राज।
हस्तिन, चित्रिनि, पदुमिनि नारि, गोरी सामरि एक बूढ़ि बारि।
विविध भाँति कएलन्हि सिंगार; पहिरल पटोर गृम झूल हार।
केओअगर चंदन घसि भर कटोर, ककरहु खोइँछा करपुर तमोर।
केओ कुमकुम मरदाब आँग, ककरहु मोतिअ भल छाज माँग।

४६

लता तरुअर मण्डप जीति, निरमल ससधर धवलिए भीति।
पउँअ नाल अइपन भल भेल, रात परोहन पल्लव देल।

४—अभिनव = नूतन; बइसक; पुरहर = पूर्णघट; पूर्ण कलश। मंदाकिनि = गंगा नदी; असोग = अशोक; दहु आन = ला दिया; पुनमंत = पुण्यमय; चुमाओन = विशेष अवसर पर चूमना; सपुन = सम्पूर्ण; सुधानिधि = चंद्रमा; दधि = दही; भमि भमि = घूम-घूम कर; भमरि = भ्रमरी, हंकारइ देल = बुलावा दिया; टेसु = पलाश; भास = आभास; कतिक = केतली; धूलि = पराग; बिथरहु = फैला दिया।

३५—बारि = नवयुवती; कएलन्हि = किया; सिंगार = शृङ्गार; पटोर = रेशमी वस्त्र; गृम = गले में; केओ = कोई; अगरि = सुगन्धित द्रव्य; घसि = घिसकर; ककरहु = किसी के; खोइंछा = आँचल का भाग; करपुर = कपूर तमोर = ताम्बूल; कुमकुम = केशर: मरदाब = मलवाना: भल = अच्छा छाज = शोभित होना माँग = स्त्रियों के बालों की मध्य रेखा।

देखह माइ हे मन चित लाय, बसंत-विवाह कानन-थलि जाय
मधुकर रमनी मंगल गाव, दुजवर, कोकिल मंत्र पढ़ाव।
कर मकरंद हथोदक नीर, विधु बरिआती धीर समीर
कनअ किंसुक सुति तोरन तूल, लावा बिथरल बेलिक फूल।
केसर कुसुम करु सिंदुर दान अतौतुक पाओल मानिन मान
खेलए कौतुक नव पँचबान, विद्यापति कवि दृढ़ कए भान।

४७

नव बृन्दावन नव नव तरु गन, नव नव विकसित फूल
नवल बसंत नवल मलयानिल, मातल नव अलि कूल।
विहरइ नवल किसोर।
कालिंदी-पुलिन कुंज बन सोभन, नव नव प्रेम विभोर।
नवल रसाल-मुकुल-मधु मातल, नव कोकिल कुल गाय।
नवयुवती गन चित उमताअई, नव रस कानन धाय।।
नव जुवराज नवल बर नागरि, मीलए नव नव भाँति।
निति निति ऐसन नव नव खेलन, विद्यापति मति माति।

४८

आएल रितुपति राजा बसंत, धाओल अलिकुल माधवि-पंथ
दिनकर-किरन भेल पौगंड, केसर कुसुम धएल हेमदंड
नृप आसन नव पीठल पात, कांचन कुसुम छत्र धरु माथ
मौलि रसाल-मुकुल भेल तत्य, समुखहि कोकिल पंचम गाय

४६—ससधर = शशधर, चन्द्र; धवलिए = धवल वर्ण का कर दिया; भीति भित्ति; पउँअनाम = पद्मनाभ; अइपन = अल्पना, ऐपन चौक पूरन; रात = रक्तिम; परीहन = परिधान; काननथलि = वनस्थली; दुजवर द्विजवर; हथोदक = हस्तोदक, संकल्प-जल; बरिआती = बरयात्री; कनअ = कनक, स्वर्ण; किंसुक = पलाश; लावा = धान का लावा; अतौतुक = दहेज।

४७—नव = नया; मातल = उन्मत्त हुआ; कालिंदी = यमुना; पुलिन = किनारा; चित = चित्त; उमताअई = उबट रहा है; मीलए — मिलते हैं; निति नित्य; मति = बुद्धि; माति = मत्त भई है, मारी गई है।

सिखिकुल नाचत अलिकुल यंत्र, द्विजकुल आन पढ़ आसिख मंत्र ।
चन्द्रातप उड़े कुसुम पराग, मलय पवन सह भेल अनुराग ।
कुंदवल्ली तरु धएल निसान, पाटल तून असोक-दल बान ।
किंसुक लवंग-लता एक संग, हेरि सिसिर रितु आगे दल भंग ।
सैन साजल मधु-मखिका कूल, सिसिरक, सबहु कएल निरमूल ।
उधारल सरसिज पाओल प्रान, निज नव दल कए आसन दान ।
नव वृन्दावन राज विहार, विद्यापति, कह समयक सार ।

४९

मधु रितु मधुकर पाँति, मधुर कुसुम मधु माति ।
मधुर वृन्दावन माँझ, मधुर मधुर रसराज ।।
मधुर जुवति जन संग, मधुर मधुर करताल ।।
मधुर नटन-गति भंग; मधुर नटनी नट संग ।
मधुर मधुर रस गान, मधुर विद्यापति भान ।।

५०

चल देखए जाऊ रितु वसंत, जहाँ कुंद-कुसुम केतिक हसंत ।
जहाँ चंदा निरमल भमर कार, जहाँ रयनि उजागर दिन अँधार ।
जहाँ मुगुधलि मानिनि करए मान, परिपंथिहि पेखए पँचबान ।
भनइ सरस कवि-कंठ-सार, मधुसूदन राधा वन बिहार ।

४८-४९—आएल = आ गया; रिपुपित = ऋतुराज, धाओल = दौड़ा; अलिकुल = भ्रमर समूह; माधवि-पंथि = माधवी लता की ओर; पौगंड = तीक्ष्ण; हेमदण्ड = स्वर्णदण्ड; पीठल = वृक्ष विशेष; पात = पत्र; मौलि = मुकुट; रसाल मुकुल = आम्रमंजरी; सिखिकुल = मयूर-समूह; द्विजकुल = पक्षिगण, ब्राह्मण जन; आसिख = आसीष; निसान = चिन्ह; ध्वजा; तून = तरकश; किंसुक = किंशुक, पलाश; मधुमखिका = मधुमक्षिका; सिसिरिक = शिशिर ऋतु का; निरमूल = निर्मूल, कएल = किया; उधारल = उद्धार किया ।

५०—कुंद-कुसुम = पुष्प विशेष; केतिक = केतिकी; हसंत = पुष्पित, खिले हुए; निरमल = निर्मल; भमर = भ्रमर; कार = काला; रयनि = रजनी, रात्रि; उजागर = प्रकाशयुक्त; अँधार = अंधकार; मुगुधलि = मुग्धा; परिपंथहि = शत्रु-तुल्य; पेखए = देखता है; पंचबान = कामदेव

विरह

को हमे साँझक एकसरि तारा
भादव चौठिक सभी।
इथि दुहु माझ कओन मोन आनन
जे पहु हेरसि न हँसी॥
साय साय कहह कहह कन्हु कपट करह जनु
कि मोरा भेल अपराधे॥
न मोयँ कबहु तुअ अनुगति चुकलिहु
वचन न बोलल मन्दा।
सामि समाज पेमे अनुरंजिय
कुमुदिनि सन्निधि चन्दा।
भनइ विद्यापति सुनु वर जौवति
मेदिनि मदन समाने।
राजा शिवसिंह रूपनरायन
लखिमा देवि रमाने।

५२

माधव तोंहे जनु जाह विदेसे
हमरो रंग—रभस लए जैवह
लैवह कौन सनेसे॥
वनहि गमन करु होएति दोसर मति
बिसरि जाएब पति मोरा।
हीरा मनि मानिक एको नहि माँगब

[५]१—एकसरि = अकेला; भादव = भाद्र; चौठिक = चतुर्थी का; इथि दुहु = इन दोनों में। पहु हेरसि न हँसी = प्रसन्नता के साथ जैसे देखते थे; अब नहीं देखते (भाद्र शुक्ल के चन्द्रमा का दर्शन दोष-युक्त माना जाता है) साय = सच; कन्हु = कृष्ण; अनुगति = अनुसरण करने मे; चुकलहुँ = चूक की; मन्दा = अनुचित, कटु; सामि समाज = स्वामी के परिजन का अनुरंजिय = सत्कार किया

फरि मांगव पहु तोरा।
जखन गमन करु नयन नीर भरु
देखिओनि भेल पहु तोरा
एकहि नगर बसि पहु भेल परवस
कइसे पुरत मन मोरा ॥
पहु संग कामिनी बहुत सोहागिनी
चन्द्र निकट जइसे तारा।
भनहि विद्यापति सुनुवर जौमति
अपना हृदय धरु सारा ॥

५३

कालि कहल पियाए साँझहिर
जाएव मोये मारुअ देस।
मोयँ अभागलि नहि जानल रे
संगहि जइतँह सेह देस ॥
हृदय बड़ दारुन रे
पिया विनु विहरि न जाये ॥
एकहि सयन सखि सुतल रे
अछल वालभ निसि मोर।
न जानल कति खन तेजि गेलरे
विछुरल चकेवा जोर।
सून सेज हिय सालये रे
पियाए बिनु मरव मोयें आजि।
विनति करओ सहिलोलिनि रे
मोहि देहे अगिहर साजि ॥
विद्यापति कवि गाओल रे

५२—जेवह् = जावोगे; लेवह् = लावोगे; फेरि मांगव = फिर चाहूँगी। पुरत = पूर्ण होता। सारा = धैर्य।

५३—सांझहि = सन्ध्या ही को; मारुअ = मथुरा, मरुभूमि; जइतँह = जाऊँगा; विहरि = विदीर्ण होकर मरुभूमि; वालभ = बल्लभ; विछुरल = विछुड़ा; जोर = जोड़ा सालये = विदीर्ण करता है सहिलोलिनि = सहचरी अगिहर = अग्नि

आए मिलत पिए तोर
लखिमा देह वर नागर रे
राए सिवसिंघ नहि भोर ।।

५४

मधुपुर मोहन गेल रे, मोरा बिदरत छाती।
गोपी सकल बिसरलनि रे, जत छल अहिवाती।
सूतलि छलहुँ अपन गृह रे, निन्दइ गेलहुँ सपनाई।
करसौं छुटल परसमनि रे, कोन गेल अपनाई।
कत कहबो कत सुमिरब रे, हम भरिए गरानि।
आनक धन सों धनवंति रे, कुबजा भेल रानि।
गोकुल चान चकोरल रे, चोरी गेल चंदा।
विछुड़ि चललि दुहु जोड़ी रे; जीव दइ गेल धंदा।
काक भाख निज भाखह रे, पह आओत मोरा।
खीर खाँड़ भोजन देव रे, भरि कनक कटोरा।
भनहि विद्यापति गाओल रे, धैरज धर नारि।
गोकुल होयत सोहाओन रे, फेरि मिलत मुरारि।

५५

सखि हे कतहु न देखि मधाई।
काँप शरीर धीर नहि मानस, अवधि नियर भेल आई
माधव मास तीथि भयो माधव अवधि कइए पिआ गेला
कुच-जुग संभु परसि कर बललन्हि, तें परतिति मोहि भेला
मृगमद चानन परिमल कुंकुम, के बोल सीतल चंदा

५४—मधुपुर = मथुरा; बिदरत = फटती है; बिसरलनि = भूल गये, ज
जितनी; अहिवाती = सौभाग्यवती; सपनाइ गेलहुँ = स्वप्न लोक में
गई; परसमनि = पारसमणि; गरानि = ग्लानि; कुबजा = कुब्जा; भ
भाषा; खीर = क्षीर, सोहाओन = शोभायमान।

५५—कतहु = कहीं भी; मधाई = कृष्ण; धीर = स्थिर; अवधि = समय;
मास = वैशाख; माधव तिथि = एकादशी; कइए = करके; कु
संभु = शंभु रूपी कुच युगल को; परसि = स्पर्श कर; परतिति =
मृगमद कस्तूरी बिसलेख = विश्लेष कलेस = क्लेश कष्ट मेट
मिट जायेगा

पिया विसलेख अनल जो वसिए, विपति चिन्हिए भल मंदा।
भनइ विद्यापति सुन वर जौवति, चित जनु झंखह आजे।
पिय विसलेख-कलेस मेटाएत, वालम विलसि समाजे॥

५६

अंकुर तपन ताप यदि जारव, कि करव वारदि मेह।
ई नव जोवन विरह गमाओव, कि करव से पिया गेह।
हरि हरि के इह दैव-दुरासा।
सिन्धु निकट जदि कंठ सुखाएव के दुर करव पियासा।
चंदन-तरु जव सौरभ छोड़व, ससधर बरिखव आगि।
चिन्तामनि जव निजगुन छोड़व, को मोर करम अभागि।
सामोन माह घन-बिन्दु न वरिखव सुरतरु वाँझ की छाँदे।
गिरिधर सेवि ठाम नहि पाएव, विद्यापति रह धाँदे।

५७

सरदक ससधर मुखरुचि सोंपलक, हरनि के लोचन-लीला।
केसपास लए चमरि के सोंपलक, पाए मनोभव पीला।
माधव, जानल न जीवति राही।
जतवा जकर ले ले छलि सुन्दरि, से सव सोंपलक ताही।
दसन-दसा दालिम के सोंपलक, काजर सनि धनि भेली।
देह-दसा सौदामिनि सोंपलक, काजर सनि धनि धनि भेली।
भौंहक-भंग अनंग-चाप दिहु, कोकिल के दिहु वानी।
केवल देह नेह अछ लओले, एतवा अएलहुँ जानी।
भनइ विद्यापति सुन वर जौवति, चित्त झंखह जनु आनै।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन, लखिमा देइ रमाने।

६—जारव = जल जायेगा; कि = क्या; करव = करेगा; वारिद मेह = बादलों का पानी, वर्षा; गेह = घर; सुखाएव = सुखायेगा; दुर = दूर; सौरभ = सुगंध; ससधर = चन्द्रमा; वरिखव = वर्षा करे; बाँझ = बंध्या; ठाम = स्थान; धाँदे = सन्देह।

७—सरदक = शरद ऋतु के; ससधर = शशधर; सोंपलक = सौंप दिया; चमरि = चंवरी गाय; पीला = पीड़ा; जीवति = जायेगी; राही = राधा; जतवा = जितना; जकर = जिसका; लेले छलि = लिये हुए थी; दसन-दसा = दाँतों की शोभा; दालिम = दाड़िम, अनार; सौदामिनि = बिजली; भौंहक भंग = भौंहों की भंगिमा अनंग-चाप = कामदेव का धनुष झंखह = सोच

५८

सहि हे हमर दुखक नहि ओर।
ई भर बादर माह भादर, सून मन्दिर मोर॥
झंपि घन गरजंति संतत, भुवन भरि बरसंतिया।
कन्त पाहुन काम दारुन, सघन खर सर हंतिया॥
कुलिस कत सत पात मुदित, मयूर नाचत मातिया।
मत्त दादुर डाक डाहुक फाटि जायत छातिया॥
तिमिर दिन भरि घोर जामिनि अथिर बिजुरिक पाँतिया।
विद्यापति कह कइसे गमाओब, हरि बिना दिन रातिया॥

५९

सजनी कानुक कहबि बुझाई।
रोपि पेमक बिज अंकुर मड़लि, बाँचब कौन उपाई।
तेल-बिन्दु जैसे पानि पसारिए, ऐसन मोर अनुराग।
सिकता जल जैसे छनहि सूखए, तैसन मोर सुहाग।
कुल-कामिनी छलौं कुलटा-भए गेलौं तिनकर वचन लोभाई।
अपने कर हम मूंड़-मुड़ाएल, कानु से प्रेम बढ़ाई।
चोर रमनि जनि मन मन रोअई, अम्बर बदन छिपाई।
दीपक लोभ सलभ जनि धाएल, से फल भुजइत चाई।

५८—हमर = मेरे; दुखक = दुःख का; ओर = अन्त; बादर = बादल; = भादों; सून = शून्य; मंदिर = घर; झंपि = ढककर; संतत = नि भुवन भर = समस्त विश्व में; बरसंतिया = बरसता है; कन्त = तम; पाहुन = प्रवासी; दारुन = कठोर; खर = तीक्ष्ण; सर = हंतिया = मारता है; मातिया = मत्त होकर, दादुर = मेढक; डाक से; फाटि = फटना; छातिया = छाती; बिजुरिक = बिजली की; = पंक्ति; गमाओब = व्यतीत करूँगी।

५९—कानुक = कृष्ण को; कहबि = कहना, बुझाई = समझाकर; रोपि कर; पेमक = प्रेम के; बिज = बीज; मूडलि = मरोड़ दिया; ब बचना; पसारिए = फैलता है; सिकता = बालू; छनहि = क्षण अम्बर = वस्त्र; बदन = मुख; सलभ = शलभ, पतिंगा; भुजइत भोगना चाहिये भुज = भागता है

भनइ विद्यापति इह कलजुग रिन, चिन्ता करह न कोई।
अपन करम-दोष आपहि भुंजइ, जे जन पर-वस होई।

६०

सजनी, के कह आओव मधाई।
बिरह-पयोधि पार किए पाओव मझु मन नहि पतिआई।
एखन तखन करि गमाओल दिबस-दिवस करि मासा।
मास-मास करि बरस गमाओल छोड़लूं जीवन आसा।
बरस-बरस करि समय गमाओल खोयलूं कानुक आसे।
हिमकर किरण नलिनि जदि जारब, कि करव बारिद मेहे।
इह नब जौबन बिरह गमओब, कि करब से पिया गेहे।
भनइ विद्यापति सुनु वर जौवति, अब नहि होइ बिरासे।
से ब्रजनन्दन हृदय अनन्दन, झटित मिलन तुअ पासे।

६१

सखि हे बालम जितव बिदेस।
हम कुलकामिनि कहइत अनुचित, तोहहुँ दे हुनि उपदेस।
ई न विदेसक बेलि।
दुरजन हमर दुख न अनुमापव, तें तोहे पिया लग मेलि।
किछु दिन करथु निवास।
हम पूजल जे सेहे पए भुंजब, राखथु पर-उपहास।
होयताह किए बध-भागी।
जेहि खन हुन मन जाएब चितव, हमहु मरव धसि आगी।
विद्यापति कबि भान।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन, लखिमा देह रमान।

—के कह = कौन कहता है ? पयोधि = समुद्र; पाओब = पाऊँगी; मझु = मेरे; पतिआई = विश्वास करेगा; एखन-तखन = जैसे-वैसे; गमाओल = व्यतीत किया; खोयलूं = विस्मृत किया; माधव मासे = वैशाख; जारब = जला डाले; बारिद = बादल; झटित = शीघ्र।
—बालम = प्रियतम; जितब = जीतेंगे; तोहहुँ = तुम भी; हुनि = उन्हें बेलि = वेला, अवसर; अनुमापब = जानेंगे; तें = इसलिए; तोहे = तुम्हें; लग = पास, करथु = करें भुंजब = पायेंगे भोगेंगे, राखथु = रक्षा करें होयताह = होयंगे, खन = क्षण।

६२

सखि मोर पिया, अबहुँ न आओल कुलिस-हिया ।
नखर खोआओलुं दिवस लिखि-लिखि, नयन अँधाओलुं पिया पथ देखि ।
जब हम बाला परिहरि गेला, किए दोस किए गुन बुझइ न भेला ।
अब हम तरुनि बुझब रस-भास, हेन जन नहि मोर काहे पिआ पास ।
आएब हेन करि पिआ मोरा गेला, पुरबक जत गुन बिसरति भेला ।
भनइ विद्यापति सुन अब राइ, कानु समुझाइत अब चलि आइ ।

६२—अबहु = अभी भी; कुलिस-हिया = कठोर हृदय वाला; नखर = नख; खोआओलुं = नष्ट करना; अंधाओलुं = अंधा बना लिया; परिहरि = छोड़कर; गेला = गए; हेन = इस समय; पुरबक = पूर्व के ।

बारहमासा

६२

मास अखाढ़ उनत नव मेघ।
पिया बिसलेखे रहओं निरथेघ॥
कोन पुरुब सखि कओन सेहु देस।
करब मोए तहाँ जोगिन बेस॥
मोर पिया सखि गेल दुर देस।
जौवन दए गेल साल सनेस॥
साओन मास बरिस घन वारि।
पन्थ न सूझे दिसि अँधिआरि॥
चौदिस देखिअ बिजुरी रेह।
से सखि कामिनि जिवन सन्देह॥
भादव मास बरिस घनघोर।
सभ दिस कुहुकए दादुल मोर॥
चेउकि चेउकि पिया करि समाय।
गनमति सूतल अंकम लगाय॥
आसिन मास आस धर चीत।
नाह निकारुन नै भेलाह हीत॥
सरवर खेलए चकवा हास।
बिरहिनि वैरि भेल आसिन मास॥
कातिक कन्त दिगन्तर वास।
पिय पथ हेरि हेरि भेलाहु निरास॥
सुखे सुख राति सबहु का भेल।
हम दुख साल सोआमि दे गेल॥
अगहन मास जीव के अन्त।
अबहु न आवल निरदय कन्त॥
एकसरि हमे धनि सुतओं जागि

हेरओं चौदिस झरवाओं रोय।
नाह विछोह काहु जनु होय।।
माघ मास घन पड़ए तुसार।
झिलमिल केचुआ उनत थन हार।।
पुनमति सूतलि पिअतम कोर।
विधिवस दैव वाम भेल मोर।।
फागुन मास धनि जीव उचाट।
विरह-विखिन भेल हेरओं बाट।।
आओल मत्त पिक पंचम गाव।
से सुनि कामिनि जिवहु संताव।।
चैत चतुर गुन पिया परवास।
माली जाने कुसुम विकास।।
भमि भमि भमरा कर मधुपान।
नागर भइ पहु भेल असयान।।
वैसाखे सवे खर मरन समान।
कामिनि कन्त हनए पँचबान।।
न जुड़ि छाहरि न वरिस वारि।
हम जे अभागिनि पापिनि नारि।।
जेठ मास उजर नव रंग।
कन्त चहए खल कामिनि संग।।
रूपनरायन पूरथु आस।
भनइ विद्यापति बारहु मास।।

१२—अषाढ़ = आषाढ़; बिसलेखे = वियोग में; निरथेघ = निरवलम्ब; सूझे = दिखाई पड़े; दादुल = दादुर; कोर = क्रोड़; समाय = प्रवेश करता है; एकसरि = अकेली; सुताओं जागि = जागती सोती रहती हूँ; आओत = आते आते; खाअत = खायेगी; मोहि = मुझे; आगि = अग्नि; केचुआ = काँचलि; थनहार = स्तनहार; उचाट = उचट जाना; संताव = सन्तप्त करता है; जुड़ि = शीतल; छाहरि = छाया।

विरहबसन्त

६४

विपत अपत तरु पाओल रे
    पुन नव नव पात।
विरहिन-नयन विहल विहि रे
    अविरल बरसात॥
सखि अन्तर विरहानल रे
    नित बाढ़ल जाय।
विन हरि लख उपचारहु रे
    हिय दुख न मेटाय॥
पिय पिय रटए पपिहरा रे
    हिय दुख उपजाव।
कुदिना हित जन अनहित रे
    थिक जगत सोभाव॥
कवि विद्यापति गाओल रे
    दुख मेटत तोर।
हरखित चित तोहि भेटत रे
    पिय नन्दकिसोर॥

६५

फुटल कुसुम नव कुंज कुटिर बन, कोकिल पंचम गाबे रे।
मलयानिल हिमसिखर सिधारल, पिया निज देश न आबे रे।
चानन चान तन अधिक उतापए, उपबन अलि उतरोले रे।
समय बसंत कंत रहु दुर देस, जानल विधि प्रतिकूल रे।

६४—विपत अपत = पत्ता रहित; झड़ = सूख गया; पात = पत्र; उपजाव = उत्पन्न करता है; अनहित = अपकारी।

६५—फुटल = प्रस्फुटित हुआ; पंचम = पंचम स्वर; मलयानिल = मलयपवन; सिधारल = चल पड़ा चानन = चन्दन चान = चन्द्रमा उतापए = तप्त

[illegible]

अनमिख नयन नाह मुख निरखइत, तिरपित न भल नयाने
ई सुख समय सहुए एत संकट, अबला कठिन पराने रे।
दिन-दिन खिन तनु हिम कमलिनि जनु, न जानि कि जिब
विद्यापति कह धिक धिक जीबन, माधव निकरुन कंत रे।

६६

आएल उनमद समय बसंत, दारुन मदन निदारुन कंत।
ऋतुराज आज बिराज हे सखि, नागरी जन बंदिते।
नब रंग नव दल देखि उपवन, सहज सोभित कुसुमिते।
आरे कुसुमित कानन कोकिल साद, मुनिहुक मानस उपजु f
अति मत्त मधुर रब करु मालती मधु-संचिते।
समय कंत उदंत नहि किछु, हमहि बिधि-बस बंचिते।
बंचित नागर सेह संसार, एहि रितुपति सौं न करए विहार
अति हार भार मनोज मारए, चंद रबि सन भानए।
पुरुष पाप संताप जत हो, मन मनोभव जानए।
जारए मनसिज मार सर साधि, चानन देह चौगुन हो धाधि
सब धाधि आधि बेआधि जाइति, करिए धैरज कामिनी।
सुपहु मन्दिर तुरित आओत, सफल जाइति जामिनी।
जामिनि सुफल जाइत अवसान, धैरज धरु विद्यापति भान

६७

निकुज नन्दिर गुंजरे भ्रमर
कोकिल पंचम गाव।
दखिन पवन विरह वेदन
निठुर कान्त न आव॥
सजिन रचह हेन उपाय।
मधु मासे जब माधव आओव

६६—उनमद = उन्मत्त; दारुन = दारुण, कठोर; निदारुन = f
जन = नागरिक; साद = शब्द; बिखाद = विषाद; रब =
समाचार; सेह = वह; मनोज = कामदेव; सन = समान;
होता है; सर साधि = बाण साधकर; धाधि = ज्वाला; आ
कष्ट; बेआधि = व्याधि, शारीरिक कष्ट या रोग; सुपहु =
तम; तुरित = त्वरित; जामिनी = यामिनी, रात्रि; अवस

विरह बेदन जाय।
अनंग जे छिल अंग भइ गेल
धनु शर करि हाथ।
नाह निरदय भाजि पलाओल
चढ़ल हमारि माथ॥
ये कले विरह भसम करिल
तिसर लोचन आगि।
पुनि हरि कुले जनम लभिल
हमारि वधक लागि॥
भने विद्यापति सुनह युवति
आकुल न कर चित्त।
राजा शिवसिंह रूपनरायण
लछिमा देवी सहित॥

६८

कुसुमित कानन हेरि कमल मुखि
मुदि रहए दुइ नयान।
कोकिल कलरव मधुकर ध्वनि सुनि
कर देइ झाँपल कान॥
माधव सुन सुन बचन हमारि
तुम्ह गुन सुन्दरि अति भेल दूबरि
गुनि गुनि प्रेम तोहारि॥
धरनी धरिया धनि कत बेरि बैठइ
पुन तहि उठइ न पारा।
कातर दिठि करि चौदिस हेरि हेरि
नयने गलये जलधारा॥

६७—हेन = ऐसा; छिल = था; अंग भई गले = शरीर व्यापी हो गया; लभिल = प्राप्त किया; हरि-कुले = जला हुआ कृष्णपुत्र प्रद्युम्न के रूप में अवतरित हुआ।

६८—झाँपल = बन्द किया; गुनि-गुनि = सोच सोचकर; धरिया = सहारा लेकर; पारा = पाती; गलए = गिरती है; खने-खने = क्षण-क्षण।

तोहारि विरह दिन खने खने तनखिन
चौदसि चाँद समान।
भनए विद्यापति सिवसिंघ नरपति।
लखिमा देवि परमान॥

६९

कुसुमे रचल सेज मलयज पंकज
पेयसि सुमुखि समाजे।
कत मधुमास विलासे गमाओल
अब पर कहइते लाजे॥
सखि हे दिन जनु कहु अवगाहे।
सुरतरु, सुखे जनम गमाओल
धुथुरा तर निरवाहे॥
दखिन पवन सउरभ उपभोगल
पिउल अमिय रस सारे।
कोकिल कलरव उपवन पूरिल
तन्हि कत कयल विकारे।
पातहि सञो फुल भमरे अगारल
तरुतर लेलन्हि वासे।
से फल काटि कीटे उपभोगल
भमरा भेल उदासे॥
भनइ विद्यापति कलिजुग परिनति
चिन्ता जनु करि कोइ
अपन करम अपने पए भुंजिय
जञो जनमान्तर होइ॥

७०

कतहु साहर कतहु सुरभि कतहु नवि मंजरी।
कतहु कोकिल पंचम गावए सभए गुने गुंजरी॥
कतहु भमर भमि भमि कर मधु मकरन्द पान।
कतहु सारस रासरजे रोए सुचत कुसुम बान

सुन्दरि नहि मनोरथ ओल ।
अपन वेदन जहि निवेदओ तइसन मेदिनि थोल ।।
पिया देसांतर हृदय अ:तर परदुआरे समाद ।
काज विपरीत बुझए न पारिअ अपदहो अपवाद ।।
पथिक दए समदए चाहिअ वाटे घाटे नहि याव ।
खने विसरिअ खने सुमरि सुथीर न थाकए भाव ।।

७०– साहर = सहकार, आम्रवृक्ष; नवि = नवीन; समए गुने = समय के गुण से; ओल = सीमा; देसांतर = देशांतर ।

ग्लानि

भाविनि भल भए विमुख विधाता ।
जइह पेम सुरतरु सुखदायक
सइह भेल सुखदाता ।।
तारे सुमरि गुन मोर हृदय सुन
नोर नयन रहु झाँपि ।
गरज गगन भरि जलधर हरि हरि
अब हमर हिय काँपि ।।
करिअ जतन जत विफल होय तत
न पाइअ तोहर समाजे ।
विरह दहन दन तइओ जीव रह
सब लह न बड़ि लाजे ।।
विविड़ नेह रस बस भय मानस
पाव पराभव लाखे ।
पुरुष परुषमति के जुवती न कहति
कवि विद्यापति भाखे ।।

७२

सरोवर मंज्जि समीरन विथरओ
केवल कमल परागे ।
माधविका मधु पिवहि न पराए
कोकिल दे उपरागे ।।
साजनि साजनि साजनि साजनि
सुनहि साजनि मोरी ।
वलम्भु सौं मञु दीठि पिलावहि
होइहों दासी तोरी ।।
पाड़रि परिमल आसा पूरअ

मधुकर गावए गीते।
चाँदिनि रजनी रभस बढ़ावए
मो पति सबे विपरीते।।
हृदयक बाउलि कहिअ पर जनु
तोंहो कहों सयानी।
बिनु माधव रे मधु रजनी आइति
मीन कि जीव बिन पानी।।
विद्यापति कविवर एहु गावए
होउ उपदेसो रसमन्ता।
अरजुन राय चरण पए सेवहि
गुना देई रानि कन्ता।।

७३

सपनेहु न पुरल मनक साधे।
नयने देखल हरि एत अपराधे।।
मन्द मनोभव मन जर आगी।
दुलभ पेम भेल पराभव लागी।
चाँद वदनी धनि चकोर नयनी।
दिवसे दिवसे भेलि चउगन मलिनी।।
कि करति चाँदने की अरविन्दे।
विरह् विसर जञों सुतिअ निन्दे।।
अबुध सखीजन न बुझए आधी।
आन औषध कर आन बेयाधी।
मनसिज मनके मन्दि वेवथा।
छाडि कलेवर मानस बेथा।।
चिन्ताए विकल हृदय नहि थीरे।
वदन निहारि नयन वह नीरे।।

७२—मज्जि = स्नान करके; वियरओ = विस्तार करता है; उपराग = भर्त्सना; मिलावहि = मिला दिया; पाडरि = पाटलि फूल; मोपति = मेरे प्रति; बाउलि = वातुलता

७३ बेयाधि = व्याधि वेवथा बेथा = व्यथा

७४

मधु सम बचन कलिस सम मानस
प्रथमहि जानि न भेला
अपन चतुरपन पिसुन हाथ देल
गरुअ गरव दूर गेला ।।
सखि हे, मन्द पेम परिनामा ।
बड़ कए जीवन कएल पराधिन
नहि उपचर एक ठामा ।।
झाँपल कूप देखहि नहि पारल
आरति चललहु धाई ।
तखन लघु गुरु किछु नहि गूनल
अब पचतावेक आई ।।
एतदिन अछलह आनभान हम
अब बूझल अवगाहि ।
अपन मूर अपने हम चाँछल
दोख दिब गए काहि ।।
भनइ विद्यापति सुनु वर जौवति ।
चिते गनब नहि आने ।
पेमक कारन छोउ उपेखिए
जगतक के नहि जाने ।।

७५

जलउ जलधि जल मन्दा ।
जहाँ वसे दारुन चन्दा ।।
वमन नहि के परमाने ।
सयय न सह पँचवाने ।।
कामिनि पिया विरहिनी ।
केवल रहलि कहिनी ।।

७४—जानि न भेला = जानी नहीं; उपचर = शान्ति । झाँपल = छिपाया हुआ; लघु गुरु = ऊँच नीच; गूनल = गुना, सोचा विचारा; पचतावेक = [illegible] = [illegible], अब अवगाहि = थाह करके, मूर =

अवधि समापति भेला।
कइसे हरि वचन चुकेला।।
निठुर पुरुस पिरीति।
जीव दए सन्तव जुवति।।
निचल नयन चकोरा।
हरिय ढरिअ पल नोरा।।
पथये रहओ हेरि हेरी।
पिया गेल अवधि विसरी।।
विद्यापति कवि गावे।
पुन फले सुपुरुस की नहि पावे।।

७६

एत दिन छल पिया तोहे हम जेहे हिया
सीतल सील कलापे।
तोहे न कान धरु विनति दूर कर
दुरजन दुरित अलापे।
मोहि पति भल भेल ओतहि ओहओ गेल
कि फल विफल कए देहे।
करिअ जतन पए जओ पुनु जोलि हो
टूटल सरल सिनेहे।।
दिन दस जौवन तेह अनाएत
मन तह पुछु परकारे।
तुअ परसाद विखाद नयन जल
काजरे मोर उपकारे।।

७५—जलउ = जल जाए; परमाने = प्रमाण समझे; नोरा = लोर; मंदा = बुरा; कहिनी = चर्चा; समापति = समाप्त; संतव = सन्तप्त करता है।

७६—हिय = हृदय; सील कलापे = शील समूह में; दुरित = पाप; पति = प्रति; ओतहि = छिपे हुए; ओहओ = वह भी; जोलि = जोड़े; दहु = क्या; परिहर = त्याग; अनाएत = अनायत्त; परसाद = प्रसाद; विखाद = विषाद; मअन = मदन; देखवासि = दिखायेगा; घनसार = कपूर; ओओलव = वह भी; सन्ताओत = सन्तप्त करता है।

त तओं करवि मसि मअन पास बैसि
लिखि लिखि देखवासि तोही ।
तारहार घनसार सार रे सेओलब
सन्ताओल मोही ॥
कामिनि केलि भान थिक माधव
आओ कुमुदिनि सओ चन्दे ।
दुरहु दुरहु तोहें पहु तओ बुझह दहु
दरसने कत आनन्दे ॥
भनइ विद्यापति अरे वर योवति
मेदिनि मदन समाने ।
लखिमा देविपति रूपनरायन
सुखमा देइ रमाने ॥

७७

माधव, वचन करिये प्रतिपाले ।
त्रइ जन जानि सरन अवलम्बलि
सागर होएत सताले ॥
भुवन भमिए भमि तुअ जस पाओलि
चौदिसि तोहर बड़ाइ ।
चित अनुमानि बझि गुन गौरव
महिमा कहलो न जाइ ॥
आगा सभकेओ शील निवेदय
फल जानिये परिनामे ॥
बड़ाक वचन कबहु नहि विचलय
निसिपति हरिन उपामे ॥
भनइ विद्यापति सुन वर यौवति
एह गन कोउ न आने
राए सिवसिंघ रूपनरायन
लखिमा देइ प्रतिभाने

७८

चानन भेल विसम सर रे
भूसन भेल भारी।
सपनहुँ नहिं हरि आएल रे
गोकुल गिरधारी॥
एकसर ठाढ़ कदम-तर रे
पथ हेरथि मुरारी।
हरि विनु देह दगध भेल रे
झामरु भेल सारी॥
जाह जाह तोहें मधुपुर जाहे।
चन्द्रवदनि नहिं जीउति रे
वध लागत काहे॥
भनहिं विद्यापति तन मन दे
सुन गुनमति नारी।
आज आओत हरि गोकुल रे
पथ चलु झटझारी॥

७९

के पतिआ लए जाएत रे
मोरा पियतम पास।
हिय नहि सहए असह दुख रे
भेल साओन मास॥
एकसरि भवन पिआ विनु रे
मोरा रहलो न जाय।
सखि अनकर दुख दारुन रे
जग के पतिआय॥
मोर मन हरि हरि लए गेल रे
अपनो मन गेल॥

७८—चानन = चन्दन: विसम = दुसह: भूसन = भूषण: एकसर = अकेले: झामरु मलिन झटझारी = शीघ्र।

गोकुल तजि मधुपुर बस रे
कत अपजस लेल ।।
विद्यापति कवि गाओल रे
धनि धरु पिय आस ।
आओत तोर मनभावन रे
एहि कातिक मास ।।

८०

माधव हमार रहल दुरदेस ।
केओ न कहे सखि कुसल सनेस ।
जुग जुग जीवथु बसथु लाख कोस ।
हमर अभाग हुनक दोस ।।
हमर करम भेल विहि विपरीत ।
तेजलन्हि माधव पुरुविल प्रीति ।।
हृदयक वेदन वान समान ।
आनक दुख आन नहि जान ।
भनहि विद्यापति कवि जयराम ।
कि करत नाह दैव भेल वाम ।।

८१

सुनलि छलहुँ हम घरबा रे, गरवा मोतीहार ।
रीति जखनि भिनुसरवा रे, पिया आएल हमार ।
कर-कोमल कर कँपइत रे, हरवा उर टार ।
कर-पंकज उर थपइत रे, मुख-चंद निहार ।
केहिन अभागलि बैरिनि रे, भागलि मोर निन्द ।
भलकए नहि देखि पाओल रे, गुनमय गोविन्द ।
विद्यापति कवि गाओल रे, धनि मन धरु धीर ।
समय पाए तरुवर फर रे, कतबो सिच नीर ।

८०—रहल = भ्रमण करते हैं, सनेस = सन्देश; हुनक = उनका ।

८१—सुतलि छलहुँ = सोई हुई थी; घरबा = घर में; गरवा = गले में; जखनि = जब; भिनुसरबा = भोर में; कर-कौसल = कर कोशल; कँपइत = काँपता है; हरबा = हार; उर टार = हृदय से हटाया; निहार = देखकर; केहनि = कैसी अभागलि = अभागिन, बैरिनि शत्रु, भलकए = भली भाँति करबो कितना भी सिचु = सींचो

८२

लोचन धाए फेधाएल रे
हरि नहि आएल रे।
सिव सिव जिवओ न जाए
आस अरुझाएल रे।।
मन करे तँहा उड़ि जाइअ
जहाँ हरि पाइअ रे।
पेम परसमनि जानि
आनि उर लाइअ रे।
सपनहुँ संगम पाओल
रंग बढ़ाओल रे।
से मोर विहि विघटाओल
निन्दओ हिसएल रे।।
भनइ विद्यापति गाओल
धनि धइरज धर रे।
अचिरे मिलत तोहि वालभु
पुरत मनोरथ रे।।

८३

सरसिज बिनु सर सर बिनु सरसिज
की सरसिज बिनु सूरे।
जौवन बिनु तन तन बिनु जौवन
की यौवन पिय सूरे।
सखि हे मोर बड़ दैव विरोधी।
मदन वेदन बड़ पिया मोर बोल छड़
अवहु देहे परवोधी।।
चौदिस भमर भम कुसुमे कुसुमे रम
नीरसि माँजरि पिवइ।
मन्द पवन वह पिक कुह कुह कह
सुनि बिरहिनि कइसे जीवइ।।

८२—अरुझाएल = उलझा हुआ; उर = छाती; विघटाओल = बुरा किया; हेराएल = खो गई; बालभु = वल्लभ।

८३—सूर = सूर्य; बोल = बात; छड़ = छोड़ दिया; देहे = देती हो; परबोधी = प्रबोध; नीरसि = नीरस करके; माँजरि = मंजरी हम भेम = मेरी धारना को थीरे = स्थिर, बोसहु = बोमे कहु = कभी भी

सिनेहु अछल जत हम भेल न टूटत
बड़ बोल जत सवेइ थीरे ।।
अइसन कए बोलदहु निअसिम तेजि कहु
उछल पयोनिधि नीरे ।।
भनइ विद्यापति अरेरे कमलमुखि
गुनगाहक पिया तोरा
राजा सिवसिंघ रूपनरायन
सहजे एको नहि भोरा ।।

८४

माधव बुझल तोहर नेह
ओर धरइत हम राखि न पारिअ
आसा की जाइ देह ।।
तो मन माधव अति गुनाकर
देखइत अति अमोल
जेहन मधुक माखल पाथर
तेहन तोहर बोल ।
इ रीति दए हम पिरित लाओल
जोग परिनत भेल ।
अमृत बधि हम लता लाओल
विसे फरि फरि गेल ।।
भन विद्यापति सुनु रमापति
सकल गुन निधान ।
अपन वेदन ताहि निवेदिअ
जे पर-वेदन जान ।।

८५

कतए अरुन उदयाचल उगल
कतए पछिम गेल चन्दा ।
कतए भ्रमर कोलाहलें जागल
सुखे सुतथ अरविन्दा ।।

८४ ओर = शेष, आसा = आशा अमोल = अमूल्य जोग = योग्य, बाध = बोध से ।

कामिनी जामिनी कौंहा गेली ।
चिर समय आगत हरि भेल पाहुन
आधेउ केलि न भेली
पंक्रक पात अतापे न पओले
झामर न भेले देहा ।
कृपन सँचित धन रहल अखण्डित
काजर सिन्दुरे रैहा ॥
अरुनक जोति अधरे नहि छड़ले
पलटि न गँथले हारा ।
आनहुँ बोलब सखि तो झे अचेतनि
की तोर नाह गमारा ॥
विद्यापति भन मन नहि परसन
हिय चिन्ता बिस्तारा ।
पलटि रचब केलि पिय संग ह्निलमेलि
दम्पति उचित बिहारा ॥

८६

जसु मुख सेवक पुनिमक चन्दा ।
नयनक नेओछन नव अरविन्दा ॥
अधर निमाल मधुरि फुल थाका ।
तोहें ककें पाउलि अमिअ सलाका ॥
आइलि कलावति तुअ रति साधे ।
तोहे परिहरलि कओन अपराधे ॥
भऊहक अनुचर यनमथ चापे ।
पिक पंचम परिपन्थि अलापे ॥
जा सयँ विहुसि दरस अनुरागे
अनल झाँपते एकअ पआगे ॥

८५ = चिर समय = बहुत समय बाद; पाहुन = अतिथि; आधेउ = आधा भी; पंक्र क = पद्म का; ह्निल मेल = मिलकर ।

८६—नेओछन = पोंछनी; निमाल = निर्माल्य; मधुरी फुल = बान्धुली का फूल; थाका = स्तबक, ककें क्यों परिपन्थि = शत्रु पआगे = प्रयाग मनागरि = मरसिका = पर्यन्तगामी

अनुभवि भंगुर भाव तोहारे।
संसअनि तेजए हृदय हमारे।।
की से अनागति कि तोहें अकामी
सहज तोहर वा परजन्तगामी ।।
भनइ विद्यापति न बोल सन्देहा
सुपुरुष वचन पसानक रेहा
नृप सिवसिंघ देव एहु रस जाने।
सौभागे आगरि लखिमा देइ रमाने ।।

८७

नील कलेवर पीत वसन धर
चन्दन तिलक धवला।
सामर मेघ सौदामिनी मंडित
लथिहि उदित ससिकला ।।
हरि हरि अनतए जनु परचार
सपने मोए देखल नन्दकुमार ।।
पुरुब देखल पय सपने देखिअ
ऐसनि न करवि बुधा।
रस सिंगार पार के पाओत
अमोल मनोभवसिद्धि ।।
भनइ विद्यापति अरे वर जौवति
जानल सकल मरमे।
सिवसिंघ राय तोरा मन जागल
कान्ह कान्ह करसि भरमे ।।

८८

अवनत आनन कए हम रहलिहु
वारल लोचन-चोर।
पिया मुखरुचि पिवए धाओल
जनि से चाँद चकोर ।।

तत्हु सजे हठे हटि मोयँ आनल
धएल चरन राखि।
मधुप मातल उड़ए न पारए
तइअओ पासरए पाँखि॥
माधवे बोलति मधुर बानी
से सुनि मुदु मोयँ कान।
ताहि अवसर ठाम बाम भेल
धरि धन पचबान॥
तनु पसेव पसाहनि भासलि
पुलग तइसन जागु।
चुनि चुनि भए काँचुल फाटलि
बाहु बल आ भागु
भन विद्यापति कम्पित कर हो बोलल बोल न जाय।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन साम सुन्दर काय॥

८६

बिने दिने बाढ़ल सुपुरुष नेहा।
अनुदिने जैसन चान्दक रेहा॥
जे छल आदर तवहु आँधे।
आओर होएत की पछिलाहु बाँधे॥
विधिवसे जदि होअ अनुगति बाधे।
तैअओ सुपहु नाहि धर अपराधे॥
पुरत मनोरथ कत छल साधे।
आवे कि पुछह सखि सब भेल बाधे॥

८८—रहलिहु = रही। बारल = रोका; पिबए = पान करने के लिए; धाओल = दौड़ा; जनि = मानो; तत्हु = उसी स्थान पर; सँय = से; धएल = पकड़कर; बाम = बैरी; पसेव = पसीना; पसाहनि = सजाना, तइसन = उसी प्रकार; चुनि चुनि = चुन चुन शब्द करके, काँचुल =

सुरतरु से ओल भल आँभ लागी।
तसु दूखन नहि हमहि अभागी।।
भनहि विद्यापति सुनह सयानी।
आओल मधुरपति तुअ गुन जानि।।

६०

एत दिन छलि नव रीति रे।
जलमिन जेहन प्रीति रे।।
एकहि बचन भेल बीच रे।
हास पहु उतरो न देल रे।।
एकहि पलँग पर कान्ह रे।
मोर लेख दूर देस भान रे।।
जाहि बन केओ न डोल रे।
ताहि बन पिआ हँस बोल रे।
घर जोगिनिआक भेस रे।
करब मैं पहुक उदेस रे।।
भनइ विद्यापति भान रे।
सुपुरुष न करे निदान रे।।

६०—जलमिन जेहन = जल और मछली के बीच विद्यमान प्रेम के समान; उदेस = उद्देश्य, प्राप्ति। इस पद्य को रहस्यवाद से प्रभावित बताया जाता है।

उपालंभ

१

माधव कठिन हृदय परबासी
तुअ पेयसि मोयँ देखल बियोगिनी
अबहु पलटि घर जासी ।।

हिमकर हेरि अवनत कर आनन ।
करुनापथ हेरी ।
नयन काजर लए लिखए बिधुन्तुद
भय रह ताहेरि सेरी ।।

दखिन दवन वह से कैसे जुवति सह
कर कवलित तनु अंगे ।
गेल परान आस दय राखए
दस नख लिखइ भुजंगे ।।

मीन केतन भय सिव सिव सिव कए
धरनि लोटावए देहा ।
करे रे कमल लए कुच सिरिफल दए
सिव पजए निज देहा ।

परभृत के डरे पाअस लए करे
वायस निकट पुकारे ।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन
करथु बिरह उपचारे ।।

८२

लोचन नीर तटनि निरमाने, करए कलामुखि तथिहि सनाने।
सरस मृनाल करइ जपमाली, अहोनिस जप हरिनाम तोहारी।
बृन्दावन कान्हु धनि तप करई, हृदय-बेदि मदनानल बरई।
जिब कर समिध समर कर आगी, करति होम बध होएबह भागी।
चिकुर बरहि रे समरि कर लेअई, फल उपहार पयोधर देअई।
भनइ विद्यापति सनह मुरारी, तुअ पथ हेरइत अछि वर नारी।

८३

माधव देखलि बियोगनि वामे।
अधर न हास बिलास सखी संग, अहोनिस जप तुअ नामे।
आनन सरद सुधाकर सम तसु, बोलइ मधुर धुनि बानी।
कोमल अरुन कमल कुम्हिलायल, देखि मन अइलहुँ जानी।
हृदयक हार भार भेल सुवदनि नयन न होय निरोधे।
सखि सब आए खेलाओल रंग करि तसु किछुओ न बोधे।
रगड़ल चानन मृगमद कुंकुम, सब तेजलि तुअ लागी।
जनि जलहीन मीन जक फिरइछ, अहोनिस रहइछ जागी।
दूति उपदेश सुनि धुनि सुमिरल तइखन चलला धाई।
मोदवती पति राघवसिंह गति, कवि विद्यापति गाई।

८२—लोचन नीर = आंसू; तटनि = नदी; निरमाने = निर्माण कर; कलामुखि = चन्द्रमुखी; तथिहि = उसी में; सनाने = स्नान; मृनाल = मृणाल, कमल-दण्ड; तोहारी = तुम्हारे; मदनानल = कामाग्नि; बरई = जलती है; जिब = जीव, प्राण; समिध = समिधा; समर = स्मरण; करति होम = हवन करती है; बध = हत्या; चिकुर-बरहि = केश रूपी कुश; हेरइत अछि = देखती है।

८३—बामे = बामा, स्त्री; अहोनिस = अहर्निश; आनन = मुख; सरद = शरद ऋतु; सुधाकर = चन्द्रमा; तसु = उसका; बोलइ = बोलती है; कुम्हिलायल = मुरझा गया; निरोधे = बंद; किछुओ = कुछ भी; बोधे = बोध; ज्ञान; रगड़ल = घिसा; जक = चकित; फिरइछ = छटपटाती है; तइखन = तत्क्षण

९४

माधव, कत परबोधब राधा ।
हा हरि हा हरि कहतहि बेरि बेरि
अब जिउ करब समाधा ।।
धरनी धरिय धनि जतनहि बैठत
पुनहि उठइ नाहि पारा ।
सहजहि विरहिणि जग माहा तापिनि
बैरि मदन-सर-धारा ।
अरुन नयन लोरे तीतल कलेवर
विलुलित दीघल केसा ।
मन्दिर बाहिर करइते संसय
सहचरि गनतहि सेसा ।
आनि नलिन केओ धनिक सुताओलि
केओ देइ मुख पर नीरे ।
निसबद हेरि कोइ साँस नेहारत
केइ देइ मन्द समीरे ।
कि कहब खेद भेद जनु अन्तर
घन घन उतपत श्वास ।
भनइ विद्यापति सोइ कलावति ।
जिवन-बन्धन आश-पाश ।

९५

अनुखन माधव माधव सुमिरत
सुन्दरि भेलि मधाई ।
ओ निज भाव सभावहि बिसरल
आपन गुन लुबुधाई ।
माधव, अपरुप तोहारि सिनेह ।
अपने विरह अपन तनु जरजर
जिवइते भेल सन्देह ।।

भोरहिं सहचरि कातर दिठि हेरि।
छल छल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रटइत
आधा आधा कहु बानि।
राधा सयें जब पुनतहि माधव
माधव सयें जब राधा।
दारुन प्रेम तबहि नहि टूटत
बाढ़त बिरहक बाधा।
दुहु सिद दारु दहन जैसे दगधइ
आकुल कीट परान।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि
कवि विद्यापति भान।

८५—भोरहि = भोलहि, विह्वल होकर; दारुवहन = काठ का जलना।

कृष्णोक्ति

६६

तिल एक सयन ओत जिउ न सहए, न रहए दुहु तनु भीन
माँझे पुलक गिरि अंतर मानिए, अइसल रह निसि-दीन
सजनी कोन परि जीवए कान।
राहि रहल दुर हम मथुरापुर, एतहु सहए परान।
अइसन नगर अइसन नव नागरि, अइसन सम्पद मोर।
राधा बिनु सब बाधा मनिए, नयनन तेजिए नीर।
सोइ जमुना जल सोइ रमनीगन, सुनइत चमकित चीत।
कह कबिसेखर अनुभवि जनलों, बड़रू बड़ई पिरीत।

६७

रामा हे, से किए बिसरल जाई।
कर धरि माथुर अनमति मंगइत, ततहि परल मुरुछाई।
किछु गदगद सरे लहु-लहु आखरे, जे किछु कहल बर रामा।
कठिन कलेबर तेई चलि आओल, चित्त रहलि सोई ठामा।
से बिनु राति दिवस नहि भावए, ताहि रहल मन लागी।
आनि रमनि सयँ राज सम्पद मोयँ, आछिए जइसे बिरागी।
दुइ एक दिवस निचय हम जाओब, तुह परबोधबि राई।
बिद्यापति कह चित्त रहल नहि, प्रेम मिलाएब जाई।

—तिल एक = क्षण भर के लिये भी; ओत = ओट; तनु = तन, शरी[र]
भीन = भिन्न; माँझे = मध्य; पुलक = प्रसन्नता; कोन परि = [किस]
प्रकार; राहि = राधा; परान = प्राण; नागरि = नवयुवती; चीत = चि[त्त]
जनलों = जाना; पिरीत = प्रीति।

—रमा = सुन्दरी; किए = कैसी; बिसरल जाई = विस्मृत हो सकती
माथुर = मथुरा के लिए; ततहि = वहीं; परल = पड़ गई; मुरुछा[ई]
मूर्च्छित होकर; सरे = स्वर में लहु-लहु = लघु-लघु; आखरे = अ[क्षर]
में, तेई = उसके समीप, ठामा = स्थान से बिनु = उसके बिना भाव[ए]

आगमनोल्लास

९८

पिया जब आओब ई मझु गेहे, मंगल जतहु करब निज देहे।
कनअ कुम्भ करि कुच जुग राखि, दरपन धरब काजर देइ आँखि।
बेदि बनाओब हम अपन अंकमे, झाड़ करब ताहे चिकुर बिछौने।
कदलि रोपब हम गरुअ नितम्ब, आम पल्लव ताहे किंकिन सुझम्प।
दिसि दिसि आनब कामिनि ठाट, चौदिस पसारब चाँदक हाट।
विद्यापति कहे पूरब आस, दुइ एक पलक मिलब तुअ पास।

९९

अँगने आओब जब रसिया, पलटि चलब हम इषत हँसिया।
रस नागरि रमनी, कत कत जुगति मनहि अनुमानी।
ओबेसे आँचर पिया धरबे, जायब हम न जतन बहु करबे।
कँचुआ धरब जब हठिया, करे कर बाँधब कुटिल आध दिठिया।
रभस माँगब पिया जबहीं, मुख मोड़ि बिहँसि बोलब नहि नहि।
सहजहि सुपुरुख भमरा, मुख कमलक मध पीअब हमरा।
तखन अरब मोर गेआने, विद्यापति कह धनि तुअ धेआने।

९८—ई = इस; मझु = मेरे; गेहे = घर में; जतहु = जितना भी; देहे = शरीर में; कनअ = कनक; स्वर्ण; कुम्भ = घट; करि = बनाकर; कुच जुग = स्तन-युगल; अंकमे = गोद में; झाड़ = झाड़ू; ताहे = उसमें; चिकुर = केश; बिछौने = खोलकर; कदलि = केला; गरुअ = स्थूल; चौदिस = चतुर्दिक; पसारब = फैलाऊँगी; चाँदक = चन्द्र की; हाट = बाजार; आस = आशा; तुअ = तुम्हारे।

९९—रसिया = रसिक, प्रियतम; पलटि = घूमकर; इषत = किंचित्। हँसिया = हँसकर; रस-नागरि = सरस नागरिका; कत = कितनी; जुगति = युक्ति; आबेसे = आवेश में; आँचर = आँचल; धरबे = पकड़ेंगे; जतन = यत्न; कँचुआ = कंचुकी; हठिया = हठ कर। आध दिठिया = अर्द्ध दृष्टि से; रभस = रति क्रीड़ा; मोड़ि घुमाकर; बोलब = बोलूँगी; पीअब = पीयेंगे, तखन = उस समय।

पुनर्मिलन

१००

चिर दिन से बिहि भेल अनुकूल रे, दुहु मुख हेरइत दुहु से आकल रे।
बाहु पसारिए दुहु दुहु धरु रे, दुहु अधरामृत दुहु मुख भरु रे।
दुहु तन काँपइ मदन उछल रे, किन किन खरि किंकिनि रुचल रे।
जाइतेहि स्मित नव बदन मिलल रे, दुहु पुलकावलि ते ल लहु।
रस-मातल दुहु बसन खसल रे, विद्यापति रस-सिन्धु उछलल रे।

१०१

दुहु रसमय तन गुने गुने नहि ओर।
लागल दुहुँक न भाँगइ जोर॥
के नहि कएल कतहुँ परकार।
दुहु जन भेद करिअ नहि पार॥
खोजल सकल महीतल गेह।
खीर पीर सय न हेरलुं नेह॥
जब कोई बेरि अनल मुख आनि।
खीर दगड देइ निरसत पानि॥
सबहु खीर उछलि पड़ तापे।
विरह वियोग आगि देइ झांपे॥

१००—चिर दिन से = बहुत समय से; बिहि = विधि; आकुल = व्याकुल; जाइतेहि = जाते ही; स्मित = हँसते हुए; पुलकाबलि = रोमांचित; लहु-लहु = लघु-लघु, धीरे-धीरे; रस-मातल = रस से मस्त; बसन = वस्त्र; खसल = गिर पड़ा; उछलल = छलक पड़ा।

१०१—रसमय = प्रेम रस में मग्न; गुने नहि ओर = एक के दूसरे के प्रति गुणयुक्त व्यवहार का कोई ओर छोर नहीं था, असीम; के नहि कएल कतहुँ परकार = किसने कितने प्रकार से इसे तोड़ने की कोशिश नहीं की? भेद करिअ नहि पार = भेद उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हुए; खीर = क्षीर; हेरलुं = पाया; कोई बेरि = किसी समय; अनलमुख = आग पर; निरसत = निःसृत = जलहीन, जल से अलग किया हुआ; तापे = ताप से, विरह व्यथा से। झांपि = ढँकना, बुझा देना; एहन = इस प्रकार का।

जब कोइ पानि आनि ताहि देल ।
विरह वियोग तबहि दूर गेल ।।
भनइ विद्यापति एहन सुनेह
राधामाधव ऐहन नेह ।।

१०२

सखि हे कि पुछसि अनुभव मोय
मोइ पिरीति अनुराग बखाइनते
निले तिले नूतन होय ।।
जनम अवधि हम रूप निहारल
नयन न तिरपित भेल ।
सोइ मधुर बोल श्रवनहि शुनल
श्रुति पथे परश न गेल ।।
कत मधु यामिनी रभसे गमाओल
न बुझल कैसन केल ।
लाख लाख युग हिये हये राखल ।
तैओ हिय जुड़न न गेल ।।
यत यत रसिक जन रसे अनुगमन
अनुभव काहु न पेख ।
विद्यापति कह प्राण जुड़ाइत
लाखे न मिलल एक ।।

१०२—मोय = मेरा; तिले तिले = कण कण, क्षण क्षण, निहारल = देखा; तिरपित = तृप्त; शुनल = सुना; रभसे = संयोगानन्द में; केल = रति क्रीड़ा; जुड़न = जुड़ाना; शान्त होना ।

संदर्भ-ग्रंथ-सूची

हिन्दी-संस्कृत

१. अलंकार शेखर	केशव मिश्र; सम्पादक शिवदत्त, बम्बई, १८५६ ई०
२. उज्ज्वल नीलमणि	रूप गोस्वामी
३. कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा	शिवप्रसाद सिंह, प्रयाग, १८५५ ई०
४. केशव ग्रंथावली	सम्पादक : विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग
५. गाथा सतसई	हाल कृत
६. गीतगोविन्द काव्यम्	जयदेव कृत, मंगेश रामकृष्ण तैलंग द्वारा सम्पादित
७. चिन्तामणि, दूसरा भाग	रामचन्द्र शुक्ल, काशी, सम्वत् २००२
८. प्राकृत व्याकरण	हेमचन्द्र कृत, सम्पादक पी० एल० वैद्य, बम्बई
९. प्राकृत पैंगलम्	सम्पादक मनमोहन घोष, १९०२ ई०
१०. प्राचीन गुर्जर काव्य	गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, नम्बर १३
११. महाकवि विद्यापति	शिवनन्दन ठाकुर, लहरियासराय, पटना
१२. रागतरंगिणी	लोचन कवि कृत
१३. मध्यकालीन धर्मसाधना	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रयाग
१४. विद्यापति पदावली	रामवृक्ष बेनीपुरी, लहरियासराय, पटना
१५. विद्यापति	श्री जनार्दन मिश्र
१६. विद्यापति	श्री खगेन्द्रनाथ मिश्र और डा० विमान विहारी मजूमदार द्वारा सम्पादित हिन्दी संस्करण पटना, सम्वत् २०१०
१७. विद्यापति ठाकुर	डा० उमेश मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९३७ ई०
१८. सूर साहित्य	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नवीन संस्करण, बम्बई, १९५६ ई०

१९. सूर सागर — नागरी प्रचारिणी सभा, सम्वद् २००७
२०. हिन्दी साहित्य का इतिहास — रामचन्द्र शुक्ल, छठा संस्करण, काशी
२१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल — डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पटना, १९५४ ई०
२२. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास — डा० रामकुमार वर्मा, संशोधित संस्करण, १९५४ ई०
२३. हिन्दी काव्यधारा — राहुल सांकृत्यायन, प्रयाग, १९५४ ई०
२४. श्री राधा का क्रम-विकास — डा० शशिभूषण दास गुप्त, हिन्दी संस्करण, काशी, १९५६ ई०

बंगला

२५. कीर्तिलता — हरप्रसाद शास्त्री, कलकत्ता
२६. चैतन्य चरितामृत — श्री कृष्णदास कविराज
२७. बंग भाषा साहित्य — दिनेशचंद्र सेन
२८. मध्ययुगेर-साधना — क्षितिमोहन सेन
२९. विद्यापति पदावली — अमूल्य विद्याभूषण और खगेन्द्रनाथ मित्र—सम्पादित
३०. विद्यापति पदावली — नगेन्द्रनाथ गुप्त, १३१६ बंगाब्द

English

31. Mathili Chrestomathy : G. A Grierson, Asiatic : Society, 1881
32. Defense of Poetry : Shelley
33. Method and Materials of Literary Criticism : Galley
34. Love in Hindu literature : B. K. Sarkar, 1916
35. Songs of Vidhyapati : Subhadra Jha, Banaras 1954
36. Dictionary of world literary terms : Joseph T. Shipley, London

इस संक्षिप्त सूची में केवल अत्यावश्यक ग्रन्थों का ही परिचय दिया गया है अन्य ग्रन्थों के प्रकाशन आदि के विषय मे यथास्थान पाद-टिप्पणियों में आवश्यक सूचनाएँ दे दी गई हैं।